लेख-मालिका

चित्र-सूची

'बालक' का रजत-जयन्ती-अंक

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

'बालक' के स्थायी ग्राहकोंको दूना लाभ।

एकही साथमें दो-दो अपूर्व विशेषाङ्क मिलेंगे

[illegible]

[illegible]

जो स्थायी ग्राहक न बनेंगे वे विशेषाङ्क न पा सकेंगे

विज्ञापन-दाताओंके लिये सुवर्ण-सुयोग

[illegible]

दुलारे दोहावली

टीका—

[illegible]

शीघ्र निकल आयगी

मूल्य केवल १) होगा

[illegible] चाहिये।

[illegible] लिखते हैं—

[illegible]

[illegible] लिखते हैं—

[illegible]

[illegible] त्रिपाठी एम० ए०, [illegible] लिखते हैं—

[illegible]

[illegible] लिखते हैं—

[illegible]

[illegible] क्यों [illegible] चाहिये।

[illegible]

स्वराज्य

राष्ट्रभाषा हिन्दी का [illegible]

[illegible]

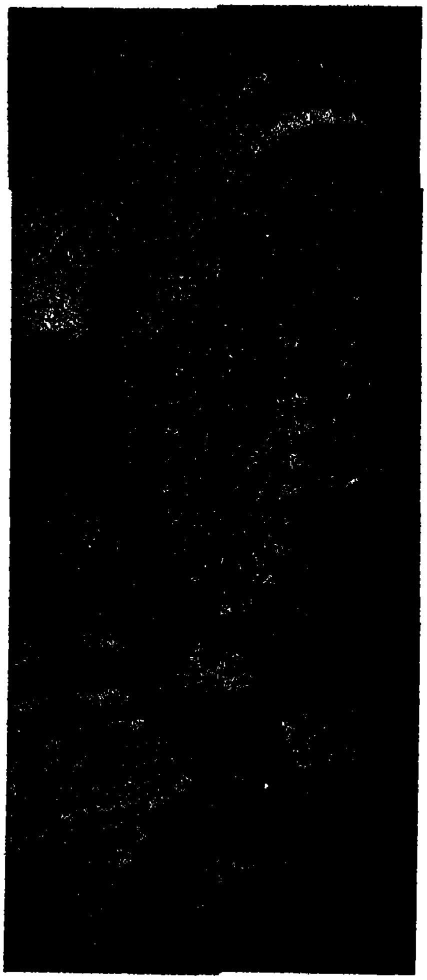
साहित्य, दर्शन, राजनीति [illegible]

विशेषताएँ—

[illegible]

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्

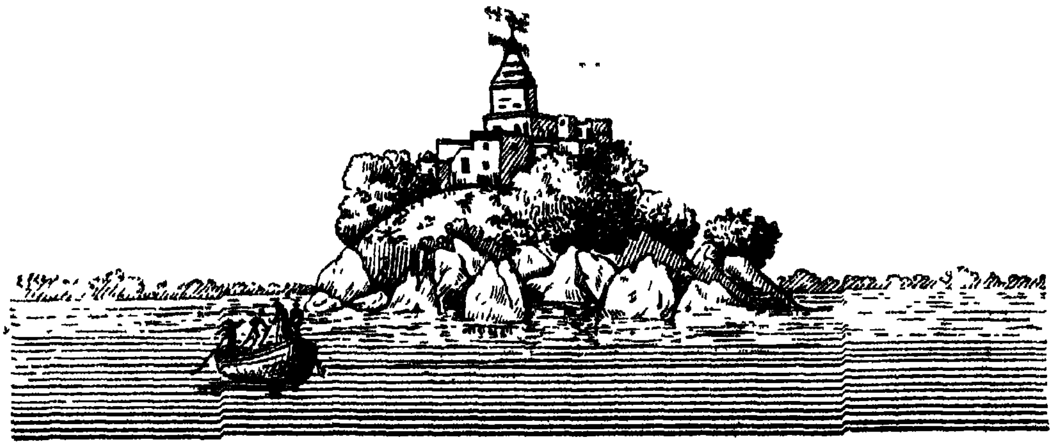
दोर्भ्यां दोर्भ्यां व्रजन्तं व्रज-
सदनजनाह्वानतः प्रोल्लसन्तम् ।
मन्दं मन्दं हसन्तं मधु-
मधुरवचो मेति मेति ब्रुवन्तम् ।
गोपाली-पाणि-ताली-तरलित-
वलय-ध्वान-मुग्धान्तरालम् ।
वन्दे तं देवमिन्दीवर-विमल
दल-श्यामलं नन्दबालम् ॥



लोकानुन्मदयन् श्रुतीर्मुखर-
यन् क्षोणीरुहान् हर्षयन् ।
शैलान् विद्रवयन् मृगान्
विवशयन् गोवृन्दमानन्दयन् ॥
गोपान् सम्भ्रमयन् मुनीन्
मुकुलयन् सप्तस्वरान् जृम्भयन्
ओंकारार्थमुदीरयन् विजयते
वंशीनिनादः शिशोः ॥

कालिन्दीजल-नीलिम्नो नीलं ज्योतिरुपास्महे ।
यद्भासदनुभासन्ते ज्योतींषि च जगन्ति च ॥

गंगाका चरितांक



सचित्र हिन्दी-मासिक पत्रिका

प्रधान संरक्षक—बनैलीराज्याधिपति साहित्यविभूषण कुमार कृष्णानन्द सिंह बहादुर

अध्यक्ष—पण्डित गौरीनाथ झा, व्याकरणतीर्थ

सम्पादक और सञ्चालक—साहित्याचार्य "मग"

वर्ष ५, प्रवाह ५,	फाल्गुन, १९९१ विक्रमीय	तरङ्ग २ पूर्ण तरङ्ग ५०

चारु चरित

साहित्यरत्न पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

किसके लालन-पालनसे है रहती मुखकी लाली ।
भूतलमें किसके करसे प्रतिपत्ति गयी प्रतिपाली ॥
किसका आनन अवलोकन कर मानवता है जीती ।
सुरुचि-चकोरी किस मयङ्क-मुखका मयूख है पीती ॥१॥

कुजन लौह किस पारसके परसे है सोना बनता ।
किसका कीर्ति-वितान सकल वसुधा-तलमें है तनता ॥
किसके दिव्य सौम्य मुखपर है वह आलोक दिखाता ।
जिसे विलोक कलंक-तिमिरका है विलोप हो जाता ॥२॥

किसके दृष्टि-पूत दृगमें है वह लालिमा विलसती ।
जिसके बलसे अनुरञ्जनता है अवनीमें बसती ॥
किसका तेजःपुञ्ज कलेवर वह कौशल करता है ।
जो तामसी वृत्ति रजनीमें दिव्य ज्योति भरता है ॥३॥

किसका मंजुल मनोभाव है वह कल कुसुम खिलाता
जिसके सौरभसे मन उपवन है सुरभित बन पाता ॥
है किसकी अनुपम कृपालुता कल्पद्रुमकी छाया ।
पा जिसका अवलम्बन मानवने वांछित फल पाया ॥४॥

किसके अंकुशमें मदवाला मदमत्त द्विरद दिखलाया ।
किसे मोहती नहीं कामकी महामोहिनी माया ॥
किसको ललना-लोल-नयन लालायित नहीं बनाता ।
कुसुमायुधके आयुधको है कौन कुसुम कर पाता ॥५॥

किसे लोभकी ललित भूत लहरें हैं नहीं नचातीं ।
किसके सम्मुख लोक लालसाएँ हैं डरती आतीं ॥
कामद, सुखद वरद, बहुरसमय, परम मनोहर, प्यारी ।
है किसकी कमनीय कामना कामधेनु-सी न्यारी ॥६॥

जो कोपानल-मति विलोपका साधन है हो पाता ।
जिसका धूम विवेक विलोचनको है अन्ध बनाता ॥
जो अन्तस्तलको विदग्धकर कर है बहुत सताता ।
वह आकर किसके समीप है तेजपुंज बन जाता ॥७॥

किसपर कभी मोहने अपनी नहीं मोहनी डाली ।
किसकी ममता गयी लोक ममता रंगतमें ढाली ॥
झुका सामने किसके सब दिन लोक समादर माथा ।
परम पुनीत विभूति-भरित है चारु चरितकी गाथा ॥८॥



प॰ मोहनलाल महतो 'वियोगी'

प्रणाम

प॰ मोहनलाल महतो

जिनके पावन चरित ललाम,
उनके श्रीचरणोंमें मेरा स्नेह-सहित शतकोटि प्रणाम।
कुछ हैं जलधरसे उपकारी,
जीवन बरसा बारी-बारी,
सींच गये जो क्यारी क्यारी.
हराभरा संसार आज है जिनके मिटनेका परिणाम।
कुछ हैं सुमन-समान मनोहर,
खिलते सघन कुंजमें छिपकर,
फिर निसर्गमें मिल जाते झर,
पिर जिनके सुवासकी गतिको रोक नहीं सकता विधि वाम।
कुछ प्रदीप-सम हैं मुस्काते.
रविका प्रतिनिधित्व कर जाते,
निजको जला विभा फैलाते,
मिल जाते चुपचाप उषामें कैसा है यह सकरुण काम!
कुछ हैं शलभ समान स्नेहमय,
आत्मविभोर अजय, मृदु सहृदय,
सदा लक्ष्यपर चलते निर्भय,
इन हुतात्माओंके बल हैं 'रघुपति राघव-राजाराम।'
जिनके पावन चरित ललाम

शंकराचार्य

श्रीयुत भट्टभास्कर

"शङ्कराचार्यके समान संसारमें अद्वितीय तत्त्वज्ञानी आजतक कोई उत्पन्न नहीं हुआ।"

— स्व० लो० तिलक (गीतारहस्य, विषयप्रवेश, पृष्ठ १६)

वादिव्रात-गजेन्द्र दुर्मदघटा-संघर्षणः सर्ववित् श्रीमद्देशिककेन्द्रराट् मृगगुरुः आयाति सर्वार्थवित् ॥
दूरं गच्छत वादिदुःशठगजाः संन्यासदन्ष्ट्रायुधो वेदान्तोरुवनाश्रयः तदपरं द्वैतं वनं धक्ष्यति ॥

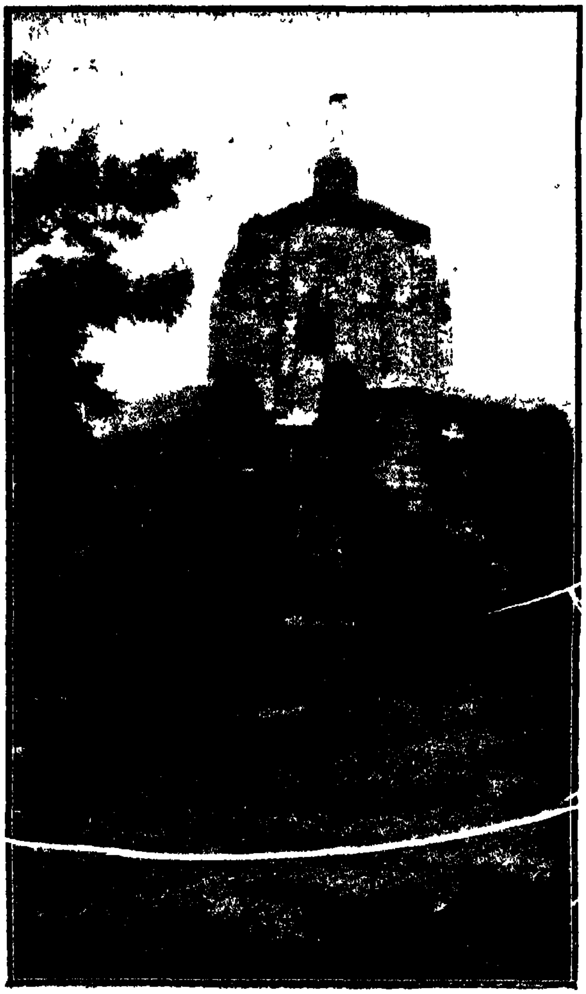
सुप्रसिद्ध अद्वैतवादके आदि प्रवर्तक तथा अद्वितीय दार्शनिक भगवान् शङ्कराचार्य साक्षात् 'शङ्करावतार' थे। भगवान् बुद्ध जब निर्मल धर्मोपदेश कर विरत हो चुके थे और उनके चलाये धर्मने उन्नतिके उच्च शिखरसे फिर धीरे-धीरे नीचेकी ओर पाँव रखना शुरू कर दिया था तथा बौद्धोंके घर अनेक कुरीतियोंका प्रसार हो चुका था, तब शङ्करके रूपमें पुनः एक ज्योति भारतमें प्रकट हुई। जिसकी असाधारण प्रतिभा और अनुपम विद्वत्तासे सारी विद्वन्मण्डली चकित हो उठी।

यद्यपि आर्यवर्य शङ्कराचार्यके अनुरक्त भक्तों और शिष्यानुशिष्योंसे भारतके सभी प्रधान स्थान व्याप्त हैं; तथापि इनकी असल जीवनी नहीं मिलती। परवर्ती कालमें कुछ चरिताख्यायिकाएँ जरूर रची गयी हैं; पर उनकी प्रामाणिकतामें सन्देहकी काफी जगह है। जो हो, अब तो उन्हींके आधारपर कुछ कहा जा सकता। उन ग्रन्थोंमें आनन्द गिरिका "शङ्करदिग्विजय", चिद्विलास यतिका 'शङ्करविजय' तथा माधवाचार्यका 'संक्षेप-शङ्करजय' नामक ग्रन्थ ही प्रधान तथा उल्लेखनीय हैं। नीलकण्ठ, सदानन्द, परमहंस बालकृष्ण और ब्रह्मानन्दका 'लघु शङ्करविजय' तथा तिरुमल्ल दीक्षितका 'शङ्कराभ्युदय' एवम् पुरुषोत्तम भारतीका 'शङ्कर-विजय-संग्रह' भी उत्तम है।

माधवाचार्यने लिखा है कि, मलबरके अन्तर्गत कालादि नामक स्थानमें सती देवीके गर्भसे शङ्कर उत्पन्न हुए। ये शिवगुरुके औरस थे। चिद्विलास यतिका कथन है कि, केरल देशके कालादि नामक स्थानमें शिवगुरुके औरस और आर्याम्बाके गर्भसे शङ्कर, वसन्त ऋतुके मध्याह्न कालमें, उत्पन्न हुए। इसी प्रकार आनन्द गिरिने लिखा है कि, चिदम्बरम्में एक ब्राह्मण अपनी कामाक्षी नामक पत्नीके साथ रहा करते थे। उन्हें विशिष्टा नामकी एक अत्यन्त रूपवती कन्या हुई। विश्वजित नामक ब्राह्मणके साथ उस कन्याका विवाह हुआ। कुछ दिन घरमें रहकर विश्वजित वैरागी हो गये। दुःखित होकर विशिष्टाने चिदम्बरेश्वर महादेवकी बड़ी सेवा की। जिनकी कृपासे उसे एक पुत्र प्राप्त हुआ, जो पीछे चलकर शङ्कर कहलाया। इसी प्रकार सब ग्रन्थोंमें सब तरह की बातें हैं।

काल-निर्णयके सम्बन्धमें सदानन्दने लिखा है कि, युधिष्ठिराब्द २७२२ अर्थात् ३७६ ई० सन्के पहले शङ्कर आविर्भूत हुए; किन्तु शारदामठकी गुरुपरम्पराकी सहायतासे २६३१ युधिष्ठिराब्दमें यानी ४७६ ई० सन् पूर्वमें शङ्करका उत्पन्न होना माना जाता है—"युधिष्ठिर-शके २६३१ वैशाख - शुक्ल

पञ्चम्यां श्रीमच्छङ्करावतारः।" लेकिन इतना पहले शङ्करका वर्तमान रहना असम्भव है। आधुनिक भारतीय विद्वानों तथा पाश्चात्य विद्वानोंके मतसे



शङ्कराचार्य-मन्दिर

शङ्करका समय ६८६ ई० या ७८८ ई० होना निश्चित है। अधिक विचार और युक्ति ६८६ ई० की ही ओर है।

\+ \+ \+

प्रतिभावान् बालक शङ्कर उपनयन-संस्कारके पूर्व ही अनेक शास्त्रोंके पण्डित हो चुके हैं। सबने उनकी अप्रतर्क्य प्रतिभा और विद्याका लोहा मान लिया है। पाँचवें या आठवें वर्षमें उनका उपनयन होता है। वे ब्राह्मण कहलाते हैं। अब वे सम्पूर्ण शास्त्रोंके पण्डित हो जाते हैं। सारी दुनिया हस्तामल-कवत् उन्हें दीख पड़ती है। प्राणियोंको मोहान्धकारमें पतित देखकर उनका हृदय द्रवीभूत हो जाता है। बौद्धोंके चंगुलमें फँसे हुए वैदिक धर्मको छुड़ानेके लिये वे विकल हो उठते हैं। संन्यास ले लेनेकी भावना भी रह-रह कर उनके मनमें उमड़ पड़ती है। लेकिन माताकी आज्ञाके बिना वे संन्यास कैसे ले सकते हैं?

अपने किसी दूर देशके सम्बन्धीके घरसे शङ्कर अपनी माताके साथ लौटे आ रहे हैं। राहमें एक नदी पड़ती है। शङ्करके मनमें संन्यास लेनेकी भावना उद्वेलित हो रही है; किन्तु बिना माताकी आज्ञाके वे उस ओर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सकते हैं। सहसा उन्हें माताको ठगनेकी एक युक्ति सूझ पड़ी। उन्होंने चमत्कारका सहारा लेकर नदीके जलको विद्युद्वेगसे बढ़ाना शुरु कर दिया।

बीच नदीमें अपने बालक पुत्रको बचानेमें माता असमर्थ हो गयीं। दोनों डूबने लगे। शङ्करने मातासे कहा—"अगर तुम दोनोंकी प्राण-रक्षा चाहती हो, तो भगवान्से प्रार्थना करो और मुझे संसारी प्राणियोंके कल्याणके लिये संन्यास ले लेने दो। भगवान् तुम्हारी प्रार्थना जरूर सुन लेंगे हम दोनोंकी रक्षाके साथ संसारका ी कल्याण हो जायगा"

पुत्रको जीवित देखनेके लिये माताका हृदय उमड़ पड़ा। उन्होंने अविलम्ब आज्ञा दे दी। आनन फाननमें नदीका जल कम हो गया। शङ्करके ओठपर मुस्कुराहट खेलने लगी।

\+ 　　+ 　　+

शङ्कर नदीमें स्नान कर रहे हैं। माता उन्हें नहलाने आयी है। पुत्रके दिव्य मुखको बार-बार देखकर भी माता नहीं अघाती है। उसके मनमें रह-रह कर अब पुत्रवधूका मुखकमल देखनेकी उत्कण्ठा बढ़ रही है विपत्तिमें पड़कर उसने पुत्रकी बाजी लगायी थी और उसे भगवान्‌को समर्पित कर चुकी है। वह इस बातको भूल गयी है।

सहसा नदीमें शङ्कर चीख पड़े। उन्हें किसी भीमकाय कुम्भीरने पकड़ लिया। वे अगाध जलमें डूब गये माताकी सब सुखद कल्पनाएँ काफूर हो गयीं वह भी डूब मरनेके लिये पानीमें कूद पड़ी। सहसा शङ्करकी आधी देह दूरमें मालूम पड़ी। माता बेतहाशा उधर ही दौड़ी। शङ्करने इशारेसे मना किया कुम्भीर धीरे-धीरे किनारेकी ही ओर आ रहा था। तटसे कुछ हटकर गम्भीर जलमें वह कुम्भीर खड़ा हो गया। उसके बड़े-बड़े जबड़ेके बीच शङ्कर फँसे हुए थे।

शङ्करने कहा—"माँ तुम अपनी प्रतिज्ञा भूल गयी हो। तुमने मुझे संन्यास ले लेनेकी आज्ञा दे दी थी, किन्तु मोहमें पड़कर तुमने मुझे आजतक नहीं छोड़ा। भगवान् मुझे संन्यासी बनाना चाहते हैं। बोलो, तुम मुझे खुशी खुशी संन्यासी बनने दोगी?"

माताकी जानमें जान आयी। उन्होंने शङ्करको देशपर निछावर कर दिया पल भरमें ही वह भयानक दृश्य अन्तर्धान हो गया। शङ्कर खड़े-खड़े मुस्कुराने लगे। माताने एक बार पुत्रको कलेजेसे लगाकर सदाके लिये छोड़ दिया।

\+ 　　+ 　　+ 　　+

संन्यासी शङ्कर केवल भगवद्भजनमें ही लीन नहीं हुए। उन्होंने विशृङ्खलित समाजको सुधारा और नष्टप्राय कर्मकाण्डको पुनरुज्जीवित किया। इन कार्योंमें उन्हें अनेक कष्ट झेलने पड़े, विविध दिग्गज विद्वानोंसे शास्त्रार्थ करना पड़ा। वाममार्गियों या कपालिकोंने उन्हें अनेक लोम-हर्षण यातनाएँ दीं।

उन दिनों बौद्ध धर्मका अतिशय प्राबल्य था। इसे राजाश्रय तथा राजबल भी प्राप्त था। लोग बौद्ध धर्मको बड़ी प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे देखा करते थे। इसके खिलाफ चूँतक करना भी लोगोंके लिये मौतका आह्वान करना था। प्रत्येक भिक्षु वैदिक धर्मके जर्रे-जर्रेको उड़ा देनेके लिये विस्फोटक बना हुआ था। महाराजा भोजके 'कामधेनु' नामक ग्रन्थकी उपक्रमणिकामें लिखा है कि बौद्ध राजा मतादित्यने हजारों ब्राह्मणोंको निमन्त्रण दे उनकी पोथियाँ छीनकर जला दी थीं। बौद्धोंके द्वारा ही सह्याद्रिखण्ड विनष्ट हुआ था। उन्हीं दिनों भगवान् शङ्कर और उनके शिष्यानुशिष्योंने वैदिक धर्मका झण्डा फहराया, बौद्धोंसे लड़ा लिया। अन्तमें शङ्करकी ही विजय हुई। बौद्ध धर्म भारतसे भागकर दूर देशोंमें जा छिपा।

शङ्कर प्रकाण्ड पण्डित थे। दर्शन-शास्त्रमें तो उनकी अव्याहत गति थी। वे अद्वैत-वादके प्रधान प्रवर्तक थे। वे केवलाद्वैतवादी या मायावादी थे। उनके मतके सम्बन्धकी एक किंवदन्ती इस प्रकार प्रचलित है—

"श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥"

शङ्करके मतकी एक सार बात यह है कि, ब्रह्म ही एक मात्र अद्वितीय वस्तु है। जीव ब्रह्म-वस्तु छोड़कर और कुछ भी नहीं है। जगत् मायाकी प्रहेलिका है। अविद्या (माया) के विनष्ट होनेसे ही जीव और ब्रह्मका पार्थक्य-ज्ञान विनष्ट होता

है। यह सांसारिक प्रपञ्च सगुण ब्रह्मके साथ ही सम्बद्ध है वैदिक कर्मकाण्डकी पर्यालोचना करनेसे ब्रह्मके दो विषय ज्ञात होते हैं। एक सगुण ब्रह्म और दूसरा निर्गुण। सगुण ब्रह्मका ही नाम ईश्वर है। परमब्रह्म निर्गुण और निष्क्रिय है। इस मायामय जगत्का उनके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है वे परमात्मा हैं। "तत्त्वमसि" महावाक्यके अनुष्ठानसे जब जीव और ब्रह्मका भिन्न ज्ञान तिरोहित हो जाता है, तब ही जीव मुक्ति लाभ कर अपने स्वरूपको प्राप्त होता है।

शङ्कराचार्यने वेदान्तसूत्र, गीता, बृहदारण्यक तथा कुछ उपनिषदोंके भाष्य लिखे हैं। यों तो शङ्करके नामपर छोटे-बड़े सौसे भी अधिक ग्रन्थ बिक रहे हैं; परन्तु उन सबकी रचना स्वयं शङ्कराचार्यने नहीं की है। यह बात शब्दावली शैली और उद्देश्यकी आलोचना करनेसे स्पष्ट मालूम पड़ने लगती है। शङ्कराचार्यके मठाधिकारी महन्त लोग भी अपनेको शङ्कराचार्य ही लिखते हैं। सम्भव है, वे ग्रन्थ उनके ही बनाये हों या शङ्कर नामधारी किसी दूसरे व्यक्तिके।

+ + + +

आचार्य गोविन्दपादके आश्रममें शिष्यमण्डली विद्याध्ययन कर रही है। शङ्कर भी उसी मण्डलीका एक षोडशवर्षीय तेजस्वी छात्र है। आचार्यके गुरुदेव गौड़पादजी आश्रममें पधारे हुए हैं शङ्करकी प्रतिभा देखकर वे गद्गद हो रहे हैं। विभिन्न देशोंसे आये हुए पण्डित-प्रवरोंके साथ शङ्कर शास्त्रार्थ कर रहा है। प्रतिद्वन्द्वी पण्डित उसकी अद्भुत विद्या, अकाट्य युक्ति और नम्र सदाशयता पर मुग्ध हैं, पराजित होकर भी प्रसन्न हैं। गौड़पादने शङ्करको आशीर्वाद दिया—"वत्स, तुम मेरी चिर अभिलाषाको सफल करो। धर्ममार्गी बौद्धोंका विध्वंस कर शुद्ध सनातन वैदिक धर्मका प्रचार करो। शङ्करने घुटने टेककर आशीर्वाद ग्रहण किया।

गोविन्दपाद आत्म साक्षात्कारके लिये समाधि लगा रहे हैं; लेकिन सरिताके कल-कल निनादसे आश्रम मुखरित हो रहा है। समाधि लगती ही नहीं। गुरुकी असफलतापर क्षुब्ध होकर शङ्करने नदीको कुछ देरके लिये निःस्तब्ध हो जानेकी आज्ञा दे दी। सम्पूर्ण आश्रम नीरव हो गया। गुरुदेव भी चकित हो गये। यह शङ्करके योगबलका परिणाम था।

माताके दर्शनार्थ शङ्कर अपनी जन्म भूमिमें उपस्थित होते हैं। वृद्धा माता नदी स्नान करनेको गयी हुई हैं। जरा जर्जर होकर वृद्धा माता उतनी दूर जानेसे थक जाती हैं, यह सोचकर शङ्करने नदीकी एक धाराको गाँवके पाससे ही बहनेकी आज्ञा दे दी सुबहमें लोगोंने देखा कि, शङ्करकी माता अपने घरके समीप ही नदीमें स्नान कर रही है।

+ + + +

अपनी दिग्विजय-यात्राके सिलसिलेमें शङ्करने पहले सुधन्वा (बौद्ध) राजाके दरबारमें प्रवेश किया। शङ्करका बौद्धोंसे महान् शास्त्रार्थ हुआ। बौद्ध-पण्डित हार गये; परन्तु उन्होंने कुटलता नहीं छोड़ी। आखिर राजाने ही सबको शान्त किया और स्वयं वैदिक धर्ममें दीक्षित होकर सब बौद्ध-पण्डितोंको वेदानुयायी होनेके लिये विवश किया। शङ्करकी इस दिग्विजय-यात्रामें सर्वत्र ही राजा सुधन्वा उनके प्रधान संरक्षक बने रहे।

अभिनव गुप्त* आदि बौद्ध-पण्डितों और बौद्ध वाममार्गियोंके साथ शङ्करका अनेक स्थानोंमें अलौकिक शास्त्रार्थ हुआ शङ्करके दिव्य चमत्कारोंसे वाममार्गी परास्त हो गये और उनकी विमल प्रतिभाके वशीभूत हुए बौद्धोंके हठधर्मी पण्डित। विश्वनाथपुरीमें अद्वैतवादपर सनातनी पण्डितोंसे भी शङ्करका शास्त्रार्थ हुआ; परन्तु सब जगह शङ्करकी ओर ही विजय-वैजयन्ती झुकी रही।

हाँ, शङ्कर यदि कुछ देरके लिये कहीं झेपे भी तो एक स्त्री—उभय भारती—के सम्मुख। यह स्त्री उद्भट विद्वान् मण्डन मिश्रकी पत्नी थी।

प्रयागराजसे चलकर शङ्कर माहिष्मती नगरीमें आते हैं।+ राहमें उन्हें एक पनिहारिन मिलती है। पूछा जानेपर वह मण्डन मिश्रके घरका पता बताती है—

"स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं,
शुकाङ्गना यत्र गिरा गिरन्त।
द्वारस्थनीडान्तर-सन्निरुद्धा
जानीहि तन्मण्डन-पण्डितौकः॥"

एक दासीके मुँहसे ऐसी बात सुनकर शङ्कर चकित हो गये वे मण्डन मिश्रके द्वारपर पहुँचे सचमुच वहाँ 'स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं" की रट सुग्गे लगा रहे थे। शङ्करने द्वारपालसे मण्डनका पता पूछा। द्वारपालने कहा कि, मण्डन मिश्र अभी श्राद्ध कर रहे हैं। संन्यासियोंका श्राद्धमें जाना निषेध है। शङ्कर सूक्ष्म शरीर धारण कर श्राद्ध स्थानमें पहुँचे। मण्डन बड़े कुपित हुए। क्रोधावेशमें मण्डनने थोड़ी देरतक शङ्करसे विवाद किया। अन्तमें उभय भारतीको मध्यस्थ बनाकर शङ्करके साथ शास्त्रार्थ करना मण्डनने स्वीकार किया। शर्त यही रही कि, जो जिससे पराजित हो, वह उसका शिष्यत्व स्वीकार करे।

सात दिनोंतक घोर शास्त्रार्थ हुआ। आठवें दिन मण्डन हार गये। भारतीने भी पतिका पराजित होना स्वीकार किया। अब प्रतिज्ञाके अनुसार मण्डन संन्यासी बननेको प्रस्तुत हुए। किन्तु भारतीने रोका और कहा कि, अभी आपकी आधी देह ही विजित हुई। मैं आपकी अर्द्धाङ्गिनी हूँ। मुझे भी शङ्कर पराजित करें, तब आप संन्यास लें।

बड़ी ही प्रगल्भताके साथ भारतीने शङ्करसे शास्त्रार्थ छेड़ा। कई दिनोंतक वह शङ्करके नाको दम किये रही; परन्तु अन्तमें उसकी भी पराजय होने लगी। लेकिन भारती चतुर थी। उसने चटपट कामशास्त्रकी चर्चा छेड़ दी। आजन्म ब्रह्मचारी शङ्कर यहाँ अब छटपटाने लगे। उन्होंने भारतीसे एक वर्षका समय माँगा। भारती तो यह चाहती ही थी कि, किसी प्रकार छुटकारा मिले पति संन्यासी नहीं हो।

शङ्कर व्याकुल चित्तसे विदा हुए। भला कामशास्त्रका ज्ञान विना रमणी-सान्निध्यके कैसे हो सकता है और एक संन्यासी कामिनी करपीडन कर ही सकता है कैसे? इसी बीच शङ्करको एक सुयोग हाथ लगा अमरु राजाका अन्तिम समय निकट है। वे अन्तिम साँस ले रहे हैं। उनकी स्त्री काम-कलामें परम प्रवीण है। फिर क्या था, शङ्करने अपने योगबलसे अमरुके मृतक शरीरमें

*अभिनवगुप्त यद्यपि महान् विद्वान् थे; तथापि वे बड़े कुटिल थे। अभिचार द्वारा उन्होंने शङ्करको भगन्दर रोग पैदा कर दिया था।

+ "ततः प्रतस्थे भगवान् प्रयागात्। तं मण्डनं पण्डितमाशु जेतुम्॥
गच्छन् खमुत्या पुरमालुलोके माहिष्मतीं मण्डनमण्डितां सः॥" —लेखक

अपनी आत्मा पैदा की। अमरुकी उठे। शङ्करने वहाँ काम-कलामें पाण्डित्य प्राप्त कर भारतीसे फिर शास्त्रार्थ छेड़ा। भारती हार गयी। मण्डन जैसे दिग्गज विद्वान् भी शङ्करके शिष्य हुए।

× × ×

श्रीमच्छङ्कराचार्यने चार मठोंकी स्थापना की। प्रथम दक्षिणमें शृङ्गेरीमठ, द्वितीय जगन्नाथपुरीमें गोवर्द्धनमठ, तृतीय द्वारकामें शारदामठ और चतुर्थ बदरिकाश्रममें जोशीमठ स्थापित कर उन्होंने क्रमशः अपने शिष्य सुरेश्वर, पद्मपाद* हस्तामलक और तोटकाचार्यको उनका भार सौंपा।

३२ वर्षकी उम्रमें शङ्करने ऐहिक लीला संवरण की। कहते हैं, जब शङ्कराचार्य बदरिकाश्रममें थे तब विष्णुके छठे अवतार दत्तात्रेयजी शङ्करका हाथ, पकड़कर एक गह्वरमें विलीन हो गये। वहींसे शङ्कर शिवके साथ मिलनेके लिये कैलाश गये। जो हो; लेकिन इतनी छोटी उम्रमें ही शङ्करने अनेक गुरुतर कार्य किये। वे एक महान् आत्मा लेकर अवतीर्ण हुए थे।

भगवान् महावीर

श्रीयुत मुनि हिमांशुविजय न्याय-काव्य-तीर्थ

भारत धर्मका मुख्य स्थान है, धर्मोपदेशक रूपी रत्नोंका सागर है। पचीस सौ वर्ष पहले भारतमें धन, राज्य और जाति-मदका ओर बढ़ गया था। सबल और उच्च जातिके लोग मनमाना अन्याय और अत्याचार कर सकते थे। जगत् दुःखी था। सद्भाग्यसे उसी समय भारतमें दो महा पुरुष पैदा हुए। उनमें एक दीर्घ-तपस्वी भगवान् महावीर थे। जैन-धर्ममें कुल चौबीस तीर्थङ्कर हुए हैं, जिनमें भगवान् महावीर अन्तिम हैं।

विदेह (बिहार) प्रान्तके क्षत्रियकुण्ड अथवा कुण्डपुर (कुंडलपुर) नगरमें भगवान् महावीरका जन्म हुआ था। इनके पिताका नाम 'सिद्धार्थ राजा' और माताका नाम था त्रिशला देवी। सिद्धार्थ-कुल प्रतिष्ठित था। इक्ष्वाकु-वंशके अन्तर्गत ज्ञातवंशके ये क्षत्रिय राजा थे। इनके कुलकी महत्ता इससे भी प्रकट होती है कि, वैशालीके प्रसिद्ध सम्राट् चेटककी पुत्री 'त्रिशला देवी' सिद्धार्थ राजासे ब्याही थीं, जो भगवान् महावीरकी जननी हैं।

आजसे २५३३ वर्ष पूर्व चैत्र-शुक्ला त्रयोदशीको भगवान् महावीर जनमे थे। इन्हें दिव्य ज्ञान और अलौकिक शक्तियाँ जन्मसे ही प्राप्त थीं। इनके गर्भमें आते ही सिद्धार्थ राजाके धन-धान्यकी वृद्धि हुई थी; इसीलिये माता-पिताने इनका नाम 'वर्द्धमान' रखा था। इनका लालन-पालन और शिक्षण उत्तम प्रकारसे हुआ था। युवावस्था प्राप्त होते-होते इन्होंने आदर्श क्षत्रियोचित

*पद्मपादके सम्बन्धमें भी एक चमत्कार-पूर्ण कथा प्रचलित है—पद्मपादका पहला नाम सनन्दन था। एक बार सनन्दन शङ्करका शिष्यत्व ग्रहण करने आ रहे थे। शङ्कर गंगाके उस पारमें विराजमान थे। गंगाका बरसाती यौवन उमड़ रहा था। नावके बिना सनन्दन इस पार नहीं आ सकते थे। शङ्करने उन्हें हाथके इशारेसे बुलाया। भावी गुरुकी आज्ञा पाकर सनन्दन गंगामें कूद पड़े; लेकिन जहाँ-जहाँ वे पैर उठा कर रखते थे, वहाँ-वहाँ एक-एक पद्म उन्हें पाँव रखनेके लिये खिल आता था। इसीसे उनका नाम पद्मपाद पड़ा।—लेखक

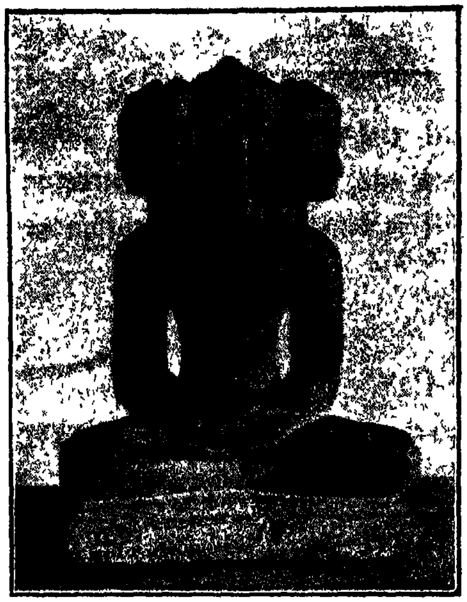
सभी कलाएँ और विद्याएँ हस्तगत कर ली थीं। ये शारीरिक बलमें प्रबल थे।

युवावस्थामें इनका मन जरा भी चंचल नहीं बना था। भारतमें समाज और धर्मकी दुर्व्यवस्था देखकर इनके हृदयमें दुःख होता था। जगत्‌के दुःखित, भीत और मोहान्ध मनुष्योंका उद्धार करनेका ये प्रतिक्षण विचार किया करते थे वैराग्य और करुणामय चित्तवाले महावीरका विचार आजीवन ब्रह्मचर्य पालनेका था; पर इनकी माता पुत्र-वधूका मुख देखनेको अत्यन्त उत्सुक थीं; उन्होंने प्रेम और आग्रहपूर्ण वचनोंसे महावीरको विवाह करनेके लिये समझाया महावीर परम मातृभक्त थे। वे "मातृदेवो भव" के सिद्धान्तका स्वयं पालन कर जगत्‌को उसका पाठ पढ़ाना चाहते थे। कहा जाता है कि, माताके उदरमें जब महावीर थे, तभीसे मातृवत्सल थे। आखिरमें माताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये महावीरने 'समरवीर' नामके राजाकी पुत्री "यशोदादेवी" से विवाह किया।* महावीरको "प्रियदर्शना" नामकी पुत्री हुई थी। वह "जमाली" नामके एक राज-पुत्रसे ब्याही थी। बहुत वर्षोंके बाद इसी जमालीने भगवान् महावीरसे दीक्षा लेकर एक नये मतको निकाला।

भगवान् महावीर जब अठाईस वर्षके हुए, तब इनके माता-पिताका स्वर्गवास हुआ। अब ये जगत्‌का उद्धार करनेके लिये शीघ्र ही "निर्ग्रन्थ" होना चाहते थे; परन्तु अपने बड़े भाई "नन्दिवर्द्धन" के आग्रहसे भगवान् महावीरने और दो वर्षोंका विलम्ब किया। ये घरमें रहकर भी साधुके नियमोंका पालन करते थे। आत्मचिन्तन करते थे।

महावीरके पास प्रचुर धन था। अतः इन्होंने दीन-दुःखियोंको दान देना शुरू किया। याचक जो माँगता था, वह महावीरसे पाता था। मगध (बिहार) के अतिरिक्त अन्य प्रान्तके लोग भी इनके पास दान लेने आते थे। हजारों गरीबोंकी गरीबी इन्होंने मिटायी।

तीस वर्षकी उम्रमें, मार्गशीर्ष-कृष्णा दशमीको, राज-वैभव, कुटुम्ब परिवारादिका सर्वथा त्याग कर, इन्होंने दीक्षा (संन्यास) ली। अब ये निर्ग्रन्थ हुए। उस समय



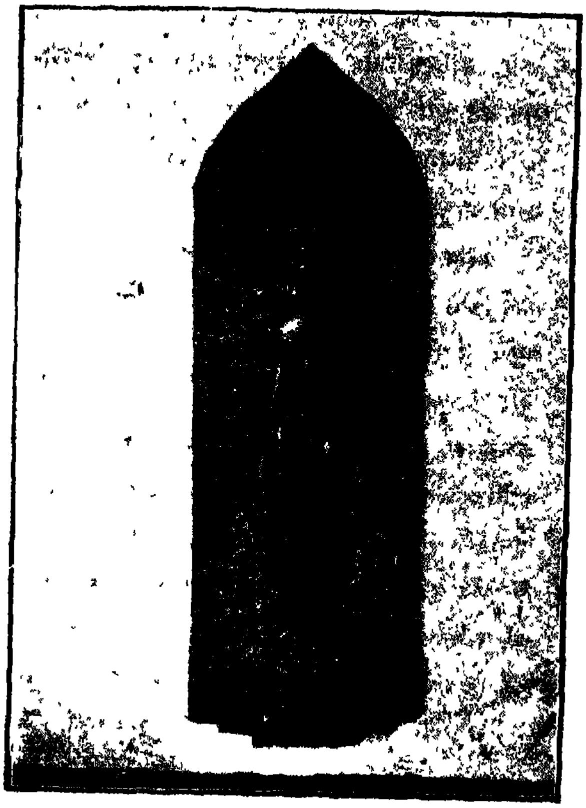
१४ फीट ऊँची चतुर्मुख जिन-प्रतिमा

भगवान् महावीर स्वामीको 'मनःपर्याय ज्ञान" उत्पन्न हुआ यानी ये किसी भी मनुष्य और पशुके मनोगत भावोंको जाननेमें समर्थ हुए।

भगवान् महावीरने समझा कि, जबतक आत्माकी पूर्णता प्रकट न हो जाय, इन्द्रिय और मनके दोष जीते न जायँ, तबतक अपना और दूसरेका संपूर्ण उद्धार होना कठिन है। अतः उग्र तप करके पहले वीतराग और सर्वज्ञ होना चाहिये। इस खयालसे इन्होंने साढ़े बारह वर्षों तक प्रचण्ड तपस्या की। छ-छ महीनोंतक इन्होंने बिना अन्न जलके उपवास किया महीनोंतक खड़े खड़े ध्यान किया, निद्रा और आलस्यका सर्वथा त्याग किया। इस तपःसाधनाके साढ़े बारह वर्षोंमें केवल ३४७ दिन ही महावीर स्वामीने भोजन किया, सो भी एक ही बार

* दिगम्बर लोग महावीरको विवाहकी बातको नहीं मानते हैं।

और बाकीके करीब साढ़े ग्यारह साल उपवास करके काटे । इस साधनामें भगवान् महावीरको हजारों असह्य कष्ट झेलने पड़े । जंगली ग्वालोंने इनके पैरोंमें आग लगायी । कानमें काठके कील ठोके । कितनोंने इनका अपमान किया । संगम नामके दुष्ट देवने इन्हें ऐसी यातनाएँ दीं कि सुनकर हृदय कांप उठता है । मनुष्य,



भगवान महावीर

पशु और देवताओंने भी इन्हें विविध भयंकर कष्ट दिये । इतना कष्ट किसी भी ऐतिहासिक पुरुषने सहन नहीं किया । इनका 'महावीर' नाम इसी कारणसे इन्द्रने रखा है ।

घोर तपस्यासे भगवान् महावीरने अपने सभी दोषोंका नाश किया । इनमें अनेक सिद्धियाँ आविर्भूत हुईं । जगत्के तमाम पदार्थोंको जाननेकी सर्वज्ञता (केवल-ज्ञान) इन्होंने पायी । वह वैसाख-शुक्ला १० का दिन था । महावीर जब वीतराग और सर्वज्ञ हुए, तब ही इन्होंने उपदेश देना शुरू किया । ये जैन धर्मके अन्तिम तीर्थङ्कर थे । इनके पहले पार्श्वनाथ तक २३ तीर्थङ्कर हो चुके थे । साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाको जैन धर्ममें 'तीर्थ' कहते हैं । जैनागमको भी तीर्थ कहते हैं । तीर्थको करनेवाले तीर्थङ्कर हैं । 'तीर्थङ्कर' और जिन एकार्थक हैं, गुण-क्रिया-निष्पन्न विशेषण हैं, विशेष्य नहीं ।

मगध (बिहार-मिथिला) देशमें महावीर भगवान्ने खूब पर्यटन किया और जैन-धर्मके साधु और गृहस्थोंमें जो शैथिल्य आया था, उसका निर्मूलन किया एवम् पार्श्वनाथके समयमें चार महाव्रतादिकी जो व्यवस्था थी, उसमें देश-कालानुसार सुधार किया । आत्मधर्मकी घोषणा की । धर्मके निमित्त यज्ञादिमें हजारों पशु-पक्षियोंकी हिंसा, आम तौर पर होती थी, उसका घोर विरोध किया । इनके प्रचण्ड आन्दोलनसे सारे भारतमें सामाजिक, धार्मिक क्रान्ति मच गयी । काफी सुधार हो गया । भगवान् महावीरने जाति-भेदको महत्त्व नहीं दिया । रूढ़ियों और कुरीतियोंका निराकरण किया । शूद्रों (चाण्डालों) तकको भी महावीरने शिष्य बनाकर पवित्र महात्मा बनाया । धर्मका स्थान आत्माकी पवित्रता है । बाह्य साधन धर्मके एकान्त साधक और बाधक नहीं हो सकते हैं । हर एक प्राणी धर्मका अधिकारी है, ऐसा उनका उपदेश था ।

महावीरके उपदेशोंमें अजब ताकत थी, जिससे उन्होंने इन्द्रभूति (गोतमस्वामी) प्रभृति जैसे जगत् प्रसिद्ध ४४०० ब्राह्मण विद्वानोंको वेदोंका यथार्थ अर्थ समझा कर, अपना शिष्य किया था । बड़े बड़े राजाओं और अधिकारियोंको साधु बनाया था । चारो वर्णोंके साधु और गृहस्थ महावीरके शिष्य थे । जैसे शूद्रोंमें—मेतार्य और हरिकेशि आदि । वैश्योंमें—शालिभद्र आदि । क्षत्रियोंमें—अक्षयकुमार, मेघकुमार प्रभृति । ब्राह्मणोंमें—इन्द्रभूति, सुधर्मा आदि ।

ये इनके साधु शिष्य थे और ढ़ंक, गोभद्र, श्रेणिक, अंबड आदि क्रमशः शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण जातिके गृहस्थ शिष्य थे । भगवान् महावीरने स्त्रियोंको भी पुरुषवत् धर्मके अधिकार दिये थे ।

भगवान् महावीरके जीवनमें खासकर तीन विशेषताएँ प्रतीत होती हैं । पूर्ण अहिंसा, प्रचण्ड तप और स्याद्वाद ।

भगवान् महावीरके समयमें अजित, केशकम्बली, प्रबुद्ध कात्यायन, गोशालक, संजयवेलीपुत्र और पूर्ण काश्यप आदि तात्कालिक दर्शनोंके अतिरिक्त वेदान्त आदि दर्शनोंका भी काफी प्रचार था । इन सबका कथन एक दूसरेके विरुद्ध था । जिससे उनमें खण्डन-मण्डनका कालुष्य बार-बार उत्पन्न होता था । इन सबका विरोध मिटानेके लिये भगवान् महावीरने स्याद्वादका उपदेश किया । 'स्याद्वाद' एक सिद्धान्त है । एक ही वस्तुमें भिन्न-भिन्न देश-काल अवस्थाओंकी अपेक्षासे अनेक विरुद्ध या अविरुद्ध धर्मोंकी संभावना हो सकती; अतः एकान्त रीतिसे अमुक वस्तुमें अमुक ही धर्म है, दूसरा नहीं, ऐसा कहना मिथ्या है । स्याद्वाद यह वस्तु मात्रको पूर्ण रीतिसे पहचाननेका नाम है । इसको अनेकान्त-वाद भी कहते हैं । इसके द्वारा हर एक वस्तुकी परीक्षा करनेपर वस्तुका स्वरूप यथार्थ रूपमें प्रकट होता है । इस सिद्धान्तको जानने और पालन करनेसे जगत्का वैर-विरोध शान्त हो सकता है । सभी धर्मोंका समन्वय हो जाता है ।

भगवान् महावीरके उपदेशमें त्याग, संयम और जीवादि पदार्थोंके स्वरूपकी प्रधानता है । इनके मुख्य शिष्य इन्द्रभूति और सुधर्मप्रमुख महर्षियोंने इनका उपदेश ग्रहण करके फिर उसे सूत्र रूपमें बनाया । जिसको आगम कहते हैं । फिर भगवान् महावीरके ९८० वर्षों बाद तक कंठस्थ रखे गये आगमोंको लोगोंने पुस्तकोंमें लिखना शुरू किया और उसके कई विभाग हुए । आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्गादि उसके नाम हैं । भगवान् महावीरने सर्वत्र उपदेश देकर असाधारण सफलता प्राप्त की थी । १४००० त्यागी (साधु), ३५००० साध्वी, १५७००० उपासक और ३१८००० उपासिकाएँ भगवान् महावीरके भक्त शिष्य हुए थे । श्रेणिक (बिंबिसार), नन्दिवर्द्धन, चण्डप्रद्योतन, चेटक, विजयराजा, उदयन वत्सराज, प्रसन्न चन्द्र, कोशिक और अदीन शत्रु प्रभृति राजा महावीरके भक्त बने थे । वाद करनेवाले ४०० वादी महावीरके शिष्य थे । गोशालक भी भगवान् महावीरका शिष्य था, उसने आजीवक मत निकाला था ।

करीब तीस वर्षोंतक भगवान् महावीरने उपदेशका कार्य किया । राजगृह (नालन्दा), श्रावस्ती और वैशाली-प्रमुख नगरोंमें इन्होंने चातुर्मास किये । मगध, बंगाल और बिहारकी प्रजाका प्रेम भगवान् महावीरके प्रति अधिक था । ७१॥ वर्ष और दो दिन इनकी आयु थी । कार्तिककृष्णा अमावस्याको इनका महानिर्वाण (मोक्ष) पावापुरी * में, हस्तिपाल राजाकी कचहरीमें, हुआ । निर्वाणके पूर्व भगवान् महावीरने लगातार सोलह प्रहरों तक तात्त्विक उपदेश दिया था । जिसे लिच्छवि और कोशलके १८ गणमेलक (संधिकारक) राजाओंने भी सुना था ।

भगवान् महावीरके निर्वाणान्तर सच्चा दीप बुझ गया । यहाँके राजा-महाराजाओंको बहुत खेद हुआ । उन्होंने घरमें दीप जलाकर अपने मनको समझाया । दीपावलीका पर्व तभीसे हुआ (!) । महावीर-निर्वाणके कालमें कुछ विद्वानोंका मतभेद है । महावीरके निर्वाणसे २५० वर्ष पूर्व भगवान् पार्श्वनाथका निर्वाण हुआ था ।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध समकालीन ज्योतिर्धर थे । ऐसे दीर्घ तपस्वी, आप्त पुरुष जिस देशमें उत्पन्न हुए हों, वह देश धन्य है ।

* पावापुरी बिहारशरीफ (पटने) के पास है । इस पवित्र स्थानकी देखरेख बाबू धन्नूलाल सुचन्ती (बिहार शरीफ) और उनके परिवारवाले करते हैं ।—सम्पादक

सम्राट् विक्रमादित्य

ज्योतिषाचार्य पं० सूर्यनारायण व्यास

अनेक इतिहास-वेत्ताओंने गुप्तवंशीय द्वितीय चन्द्रगुप्तको 'विक्रमादित्य' मान लिया है। उनका मत है कि, उक्त महानुभावने ही मालव-संवत्के साथ, अपनी विजयस्मृतिमें 'विक्रम' शब्दको जोड़ दिया है। विक्रम-संवत्की ११वीं शताब्दीसे लेकर १७ वीं शताब्दीतक संवत्के साथ 'विक्रम' शब्द, अनेक स्थानोंपर, जुड़ा हुआ प्राप्त होता है। ऐसे अनेक कारणोंसे और प्रौढ़ प्रमाणाभावके कारण विद्वान् लोग विक्रम नामक किसी स्वतन्त्र व्यक्तिका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं; परन्तु यह ठीक नहीं है। गुप्तवंशीय प्रतापशाली सम्राट् चन्द्रगुप्तके पूर्व भी एक विक्रमादित्य हुए हैं, जिनका शुभ नाम ही विक्रमादित्य था। वे विक्रमोपाधिधारी नहीं थे। यद्यपि आज उनका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिये शिलालेख, ताम्रपत्र या प्राचीन सिक्के हमारे सामने नहीं हैं; तथापि हमारा विश्वास है कि, उन्हीं प्रातःस्मरणीय सम्राट् विक्रमकी पवित्र राजधानी उज्जयिनीके उत्खनन होनेपर प्रादुर्भूत होंगे। इतना ही नहीं, बल्कि कई सहस्र वर्षकी महती संस्कृतिका भी अवशेष-संग्रह प्राप्त होगा। जिसके कारण इतिहासमें नवीन सुवर्ण-पृष्ठ खुलनेकी आशा है। अनेक प्रमाणोंसे अब यह धीरे-धीरे सिद्ध हो रहा है कि, संवत्-प्रवर्तक, विश्वविदित-कीर्ति सम्राट् विक्रम ईस्वी सन्के ५७ वर्ष पूर्व उज्जयिनीके पुनीत भूभाग पर विद्यमान थे। श्रीपाल नामक सुकवि द्वारा संगृहीत 'हाल' राजाकी 'गाथा-सप्तशती' में भी विक्रमका स्वतन्त्र नामोल्लेख है—

"चरणेन विक्रमादित्य-चरितमनुशिक्षितं तस्याः।"

आज यह निर्विवाद स्वीकृत है कि, यह गाथा सप्तशती ग्रन्थ चन्द्रगुप्तके पूर्व रचित है। 'हाल' राजाका समय ई० स० ६० के लगभगका है

डा० कीलहार्न आदि विद्वानोंने लगभग यही तयकर लिया कि, ई०स० ४१४ के आसपास उज्जैनपर चन्द्रगुप्तका राज्य था। इसीने विक्रमोपाधि धारण कर ली थी। इसी प्रकार डा० हार्नलने (राय० ए० सो० लंदन १९०६) यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि, यशोधर्मन् नामक माल्वाके एक माण्डलिक राजाने भारतका सार्वभौमत्व सम्पादित कर विक्रमपद धारण कर लिया और संवत् प्रचलित कर दिया।' ऐसे कई विद्वान् हैं, जिन्होंने अपना-अपना मत प्रतिपादित कर 'विक्रमादित्य' के स्वतन्त्र अस्तित्वको नहीं माना है। परन्तु चन्द्रगुप्त या यशोधर्मन्को विक्रमादित्य बना देना भ्रामक बात है।

स्मिथने अपने भारतके इतिहासमें शकोंकी दो टोलियोंका भारतमें आना लिखा है। पहली टोली ईस्वी सन्के पूर्व भारतमें, उत्तरकी ओरसे, आयी इतिहासमें इस टोलीका आदि-अन्त कहीं नहीं मिलता। इसका भी पता नहीं कि, इस टोलीका कब किसने उच्छेद किया? ऐसी स्थितिमें उस शकटोलीका विक्रम द्वारा उच्छेद किया जाना स्वीकार कर लेनेमें कोई आपत्ति नहीं होती। वे दोनों ही पहली सदीके सम-सामयिक हैं। अलबरूनीके मतानुसार शकारि विक्रमने मुलतानके पास 'कोरुर' ग्राममें शकोंका पराभव किया था; किन्तु डा० कालहार्नने किसी प्रमाणके बतलाये बिना ही इस युद्धको यशोधर्माके साथ जोड़ दिया है। ई० स० ५७ वर्ष पूर्व यदि किसी विक्रमके अस्तित्वको न भी माना जाय, तो भी उक्त लड़ाई किसी विक्रमके साथ जोड़नी होगी। जब कि हम प्रथमतः विक्रमका अस्तित्व मानते ही हैं, तब फिर एक कल्पित विक्रमके साथ जोड़नेकी अपेक्षा उसी संवत्-प्रवर्तक स्वतन्त्र विक्रमनामा महापुरुषके साथ क्यों न जोड़ें? उसीने इस प्रथमागत

शक टोलीका पराभव कर एकच्छत्र राज्य स्थापित किया था। द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमने तो स्मिथके कथनानुसार सौराष्ट्रके शकोंको ई० स० ३९० में परास्त किया था। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता श्रीमान् के० पी० जायसवाल महोदयने १९३० सितम्बर मासमें,



लेखक

बि० ओ० रिसर्च सा०के जनरलमें, एक बड़ा खोजपूर्ण लेख लिखा था। उसमें उन्होंने भी बतलाया है कि हमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि, गोतमी-पुत्र सातकर्णी ही लोकप्रिय कथाओं और जैन-गाथाओंके विक्रमादित्य थे।"

प्रो० राप्सनने अब यह निश्चय मान लिया है कि उज्जैन नहपानके राज्यान्तर्गत थी। निश्चयपूर्वक मौर्योंके समयमें और जिनसेनके आधारपर शुग-कालमें भी और टाल्मीके कथनानुसार चस्टनके समयमें भी उज्जैन शकोंकी पश्चिमीय राजधानी थी। प्रो० राप्सनने ऋषभदत्त और गोतमीपुत्रके शिला-लेखों और नहपानके सिक्कोंके (जिन्हें गोतमीपुत्रने भी ढलवाकर चलाया था) आधारपर सिद्ध किया है कि इसमें कोई शंका नहीं है कि नहपानको गोतमीपुत्रने जीत लिया था। इसी प्रकार सारा मालव देश अवन्ती और उजयनी सहित शकोंसे मुक्त हो गया था। राजा 'हाल'की गाथाका उल्लेख तो हम पहले कर चुके हैं।

इसी समयके बृहत्कथा नामक ग्रन्थसे भी यही सिद्ध होता है कि विक्रम ई० सन् ५७ वर्ष पूर्व थे। 'मालव'के सिक्कोंसे भी सिद्ध होता है कि वे (मालवानां जयः, या मालवगण जय) मलव-विजयके उपलक्षमें ही चलाये गये होंगे। इन सिक्कोंकी लिपि ई० स० पूर्वकी प्रथम शताब्दीकी, ही ज्ञात होती है। मालूम होता है कि मालवाने शकोंको हरानेमें अधिक भाग लिया होगा। ये लोग उस समय राजपुतानेमें आ बसे थे, उसी विजयके सालसे कदाचित् उन्होंने भी अपना संवत् चलाया हो, जो मालव-गण-संवत्क नामसे प्रसिद्ध हुआ और शायद उज्जैनमें भी उसी वर्षसे चला हो, जो 'मालवानां जयः' कहलाया हो। श्रीमान् जायसवाल महोदयका अनुमान है कि 'मालव लोगोंने अपनी स्वतंत्रताकी प्राप्तिका उत्सव ई० स० ५७ वर्ष पूर्व मनाया होगा।" डा० कोनो और श्रीयुत जायसवाल महोदयका मन्तव्य है कि ई० सन् पूर्व ५७ वर्षके विक्रमादित्य ही ऐतिहासिक व्यक्ति हैं।

भास्कराचार्य

श्रीयुत रजनीकान्त शास्त्री बी०ए०,बी०एल०

ज्यौतिषाकाशमें अपनी प्रतिभाके प्रचण्ड मयूख-जालसे तारागणोंकी तरह टिमटिमानेवाले अन्य ज्यौतिष सिद्धान्त-वेत्ताओंको विलीन-कान्ति कर देनेके लिये भास्कराचार्यने साक्षात् भगवान् भास्कर बनकर अपने 'भास्कर' नामको चरितार्थ कर दिया है। यद्यपि इन्हें अपनी मातृभूमिकी पवित्र गोदको शून्य किये आज आठ सौ वर्षोंसे भी अधिक हो गये; तथापि इनकी कीर्ति-कौमुदीकी धवलिमासे देशीय किंवा विदेशीय शिक्षित जगत् आज भी जगमग कर रहा है। गणित-शास्त्रके जिन दुरूह सिद्धान्तों का प्रस्फुरण अभी हालतक पाश्चात्त्य जगत्के पण्डितंमन्य गणित-विशारदोंको नहीं हुआ था, उन्हें आविष्कृत तथा पूर्ण रूपसे विकसित कर आचार्य भास्करने अपने शुभ नामको कराल कालके विश्व-विध्वंसी प्रहारोंसे सदाके लिये सुरक्षित कर दिया है। जिस जगद्-विख्यात महाविद्वान्के अमूल्य ग्रन्थोंका अध्ययन कर आज भी जिज्ञासु जगत् आश्चर्य और आनन्दके अथाह सागरमें गोता लगाता हुआ अपनेको कृत-कृत्य मानता है, उसका परिचय लिखकर आज मैं अपनी लेखनीको सफल कर रहा हूँ।

इस विषयमें कुछ लिखनेके पूर्व मैं पाठकोंसे यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि, प्राचीन भारतके विद्वानोंकी शृङ्खला-बद्ध जीवनी तैयार करना जरा टेढ़ी खीर है; कारण कि जीवनी लिखनेकी आधुनिक परिपाटीका, उस अतीत कालमें, प्रायः अभाव-सा था, जिससे इस कार्यके लिये यथेष्ट मात्रामें सामग्रीका मिलना कठिन है।

आचार्य भास्करने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ-रत्न सिद्धान्त-शिरोमणि (गोलाध्याय) के अन्तमें अपने जन्म-कालादिका निर्देश स्वयं कर दिया है, जिससे मालूम होता है कि इनका जन्म शकाब्द १०३६ (विक्रम-संवत् ११७१ तथा ईस्वी सन् १११४) में, एक संभ्रान्त तथा विद्या-विनय-संपन्न महाराष्ट्रीय ब्राह्मण-कुलमें, हुआ था। इनके पिताका नाम महेश्वर, गोत्र शाण्डिल्य तथा आस्पद 'उपाध्याय' था। इनका जन्म-स्थान विज्जड़-विड़ नामक ग्राम था, जो सह्य-पर्वतके समीप बसा हुआ था। (गोला० प्रश्नाध्याय)

अब यहाँपर यह भी बतलाना आवश्यक है कि, सह्यपर्व्वत और विज्जड़-विड़ नामक स्थान कहाँपर थे। यह पहाड़ सप्त-कुल-पर्व्वतोंमेंसे एक था। इसका वर्णन पुराणों तथा महाभारतमें भी आया है। कालिदासने भी 'रघुवंश'के चतुर्थ सर्गमें रघुके दिग्विजयके प्रसङ्गमें, इस पर्व्वतका उल्लेख किया है। इन विवरणोंके अवलोकनसे विदित होता है कि यह पर्व्वत महाराष्ट्र देश (Bombay presidency) में है और उत्तरमें त्र्यम्बकेश्वरसे लेकर दक्षिणकी ओर पश्चिम-समुद्र (Arabian Sea) के तटके समानान्तर मालाबार तक चला गया है। यह पर्वत वस्तुतः पश्चिम-घाट (Western ghats) गिरि-श्रेणीका एक भाग है। अब 'विज्जड़ विड़' कहाँपर था। किन्हीं-किन्हींका मत है कि आधुनिक बेजवाड़ा (Bezwada) ही प्राचीन विज्जड़-विड़ है, पर यह मत भ्रान्ति-पूर्ण है; क्योंकि यह सभीको मालूम है कि आधुनिक बेजवाड़ा, जो दक्षिण-भारतमें वाणिज्यका एक प्रसिद्ध केन्द्र है,

बंबई प्रेसिडेंसीमें न होकर मद्रास प्रेसिडेंसीमें है और कारोमण्डल-तट (Caromandal coast) और पूर्व-घाट (Eastern Ghats) पर्व्वत-मालासे थोड़ी दूर उत्तर-पूर्वकी ओर हटकर है। अधिक सम्भव है कि, बंबई प्रेसिडेंसीमें सूरतके समीप बिज्जल-पुर नामक स्थानको ही इस जगद्विख्यात ज्यौतिषाचार्यकी पुण्य जन्म-भूमि होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ हो; क्योंकि नाम-सादृश्यके साथ-साथ भौगोलिक स्थिति भी मेरी इस धारणाको अधिक पुष्ट करती है।

भास्कराचार्यने सिद्धान्त-शिरोमणि, करण कुतूहल और सर्वतोभद्र नामक तीन ग्रन्थ बनाये थे। संभव है, उन्होंने और भी ग्रन्थ बनाये हों; पर ये तीन ही प्रचलित देख पड़ते हैं। सबमे सिद्धान्त-शिरोमणि ही अति प्रसिद्ध है। यह चार खण्डोंमें विभक्त है—लीलावती (Arithmetic and men. suration) बीज-गणित (Algebra) गोलाध्याय (Plane and Spherical Trigonometry general Principles of Astronomy) और गणिताध्याय (Calculations of Astronomicalr phenomena)।

इस प्रसङ्गमें लीलावती-विषयक भ्रान्त मतका खण्डन कर देना परमावश्यक जान पड़ता है। चिर कालसे हमरा भारत-वर्ष नाना प्रकारके मिथ्या विश्वासोंका शिकार होता चला आ रहा है, जिसका समूलोत्पाटन करना प्रत्येक विद्वान्का परम कर्त्तव्य है। लोकमें यह किंवदन्ती फैली हुई है कि भास्कराचार्यकी वात्सल्यप्रतिमाभूत लीलावती नामकी एक विदुषी कन्या थी, जिसके नामको चिरस्थायी बनानेके उद्देश्यसे उन्होंने अपने सिद्धान्त-शिरोमणि ग्रन्थके प्रथम खण्डका नाम 'लीलावती' रख दिया। पर लीलावतीका अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह किंवदन्ती एकदम निराधार है। आचार्यने लीलावती में जिन जिन शब्दोंके द्वारा लीलावतीको सम्बोधित किया है, उनसे तो यही जान पड़ता है कि लीलावती उनकी कन्या न होकर सम्भवतः उनकी स्त्री थी।

ज़रा निम्न लिखित श्लोकोंपर गम्भीरतासे दृष्टि-पात कीजिये—



लेखक

'बाले बालकुरङ्गलोलनयने लीलावति प्रोच्यताम्
पञ्चत्र्येकमिता दिवाकरगुणा अङ्काः कतिस्युर्यदि।
रूपस्थानविभागखण्डगुणने कल्याऽसि कल्याणिनि
च्छिन्नास्तेन गुणेन ते च गुणिता जाताः कति स्युर्वद॥
—गुणन-प्रकारे

इस श्लोकमें आचार्यने लीलावतीको 'बाल-कुरङ्ग-लोल-नयने' अर्थात् हरिणके बच्चेकी-सी चञ्चल नेत्रोंवाली कह कर सम्बोधित किया है।

और एक जगह 'चञ्चलाक्षी' (चञ्चल आँखोंवाली) कहा है ।

मेरी धारणा है कि, लीलावती आचार्य्यकी कन्या न होकर उनकी स्त्री थी । आचार्यने लीलावतीको बार-बार 'कान्ते' कहकर सम्बोधित किया है—

"पञ्चांशोऽलिकुलात् कदम्बमगमत् त्र्यंशः शिलीन्ध्रं तयो-
र्विश्लेषस्त्रिगुणो मृगाक्षि कुटजं दोलायमानोऽपरः ।
कान्ते केतकमालतीपरिमलप्राप्तैककालप्रिया-
दूताहूत इतस्ततो भ्रमति खे भृङ्गोऽलि संख्यां वद ॥४॥"
(इष्टकर्म्मणि)

पुनश्च—

"अलिकुलदलमूलं मालतीं यातमष्टौ
निखिलनवमभागाश्चालिनी भृङ्गमेकम् ।
निशि परिमललुब्धं पद्ममध्ये निरुद्धं
प्रतिरणति रणन्तं ब्रूहि कान्तेऽलिसङ्ख्याम् ॥"
(गुणकर्म्मणि)

अवश्य ही पिता अपनी पुत्रीको 'कान्ते' कह कर कभी नहीं पुकार सकता । अन्य विद्वानोंको भी खोजना चाहिये कि, यह लीलावती यथार्थमें आचार्य्यकी कौन थी, जिसके नामानुसार लीला-वती-ग्रन्थका नाम-करण हुआ । आचार्य्यको एक पुत्र भी था, जिसका नाम लक्ष्मीधर था ।

आचार्य्यके उक्त सभी ग्रन्थ सर्वत्र प्रचलित हैं और बड़े आदरके साथ पढ़ाये जाते हैं । इनपर कई प्राचीन तथा नवीन टीका-टिप्पनियाँ, समय-समयपर, विद्वानोंने लिखी हैं, जिन्हें सभी सिद्धान्त-प्रेमी बड़ी श्रद्धा और भक्तिकी दृष्टिसे देखते हैं ।

आचार्य्यने सिद्धान्त-शिरोमणिको ३६ वर्षकी अवस्थामें बनाया था, जैसा कि गोलाध्यायके निम्नलिखित श्लोकसे स्पष्ट है—

"रसगुणपूर्णमही (१०३६) सम
शकनृपसमयेऽभवन्ममोत्पत्तिः ।
रसगुणवर्षेण (३६) मया
सिद्धान्त-शिरोमणी रचितः ॥५८॥"
(गोला०, प्रश्नाध्याय)

अर्थ—मेरा जन्म शकाब्द १०३६ में हुआ और ३६ वर्षकी अवस्थामें मैंने सिद्धान्त-शिरोमणिको बनाया ।

स्वर्गीय महामहोपाध्याय प० बापुदेव शास्त्री-जीने सिद्धान्त-शिरोमणिका एक अत्युत्तम संस्करण निकाला था, जिसमें उन्होंने अपनी टिप्पनीको श्लोक-बद्ध करके लिखा था; पर टिप्पनी अति ही संक्षिप्त तथा क्लिष्ट होनेके कारण, विशेष विवरणके अभावमें, सब किसीको समझमें नहीं आती; अतः बहुत कम विद्वान् या विद्यार्थी इससे लाभ उठा सकते हैं । भास्कराचार्यने स्वयम् इस ग्रन्थकी 'वासना-भाष्य' नामक टीका लिखी है, जो अति ही सरस और सुबोध है । आचार्यने ब्रह्मगुप्तका ब्रह्मस्फुट-सिद्धान्त और पृथूदक स्वामी (चतुर्वेदाचार्य)के भाष्यको आधार-शिला बनाकर उसपर 'शिरोमणि'की जगमगाती हुई अट्टालिका खड़ी की है । इस बृहद् ग्रन्थके प्रत्येक खण्डमें आचार्यकी मौलि-कता और उनकी प्रतिभाकी प्रखरता झलकती है । उदाहरणके लिये लीलावती और बीजगणितको ही लीजिये । इन खण्डोंमें आचार्यने कतिपय ऐसे प्रश्नोंको हल किया है, जो यूरोपीय गणितज्ञोंको सतरहवीं शताब्दीतक अज्ञात थे । 'कख' + 'घ' एक राशि है, जिसमें 'ख' का वह मूल्य निकालना है, जिससे यह राशि एक पूर्ण वर्गात्मक संख्या बन जाय । यूरोपके बीजगणितज्ञोंको इसकी क्रिया सत-रहवीं शताब्दी तक नहीं मालूम थी; पर भास्करने इस प्रश्नको ईस्वी सन् ११५० में ही हल कर दिया

था। लीलावतीकी कुट्टक-क्रियाके विषयमें भी पाश्चात्य गणित-विशारद अभी हालतक इसी प्रकार कोरे थे। बीजगणितकी रचनामें आचार्यने ब्रह्मगुप्त, श्रीधर और पद्मनाभ आदि आचार्य्योंके ग्रन्थोंको आधार माना है। सारांश यह कि, भास्कराचार्यने अपने प्रामाणिक पूर्वाचार्योंके ग्रन्थोंका भलीभाँति अध्ययन कर ही अनेक नवीन विशेषताओंसे सुपरिष्कृत अपने सिद्धान्त-शिरोमणि तथा अन्य ग्रन्थोंकी रचना की है।

भास्कराचार्यको अपने पाण्डित्यपर दृढ़ विश्वास था। वे समझते थे कि, जो मैं कह रहा हूँ, वह सर्वथा निर्भ्रान्त है; अतः वे जिस साहसके साथ अन्य आचार्योंके मतका खण्डन कर अपने मतको स्थापित करते हैं, उसे देख आश्चर्य होता है। उन्होंने आर्यभट (शकाब्द ४२३), लल्ल (शकाब्द ४२०), ब्रह्मगुप्त (शकाब्द ५२०) आदि पूर्वाचार्योंके मतोंकी, प्रसङ्गानुसार, कड़ी आलोचनाएँ की हैं और इन लोगोंकी भूलें बड़ी निर्भीकतासे दिखलायी हैं। लल्लपर तो रह-रहकर बड़े कड़े प्रहार किये हैं।

जिस देशका अक्षांश ६६°।३०' है वहाँ वृश्चिक, धनु और मकर तथा जहाँका अक्षांश ७५°।०' है वहाँ कुम्भ उदयको नहीं प्राप्त होता, इस प्रकार जो लल्लने अपने गोल-ग्रन्थ 'शिष्यधीवृद्धिद' में कहा है, सो हे गोल विशारद! उसने किस कारणसे अक्षांशोंके तीन अंश कम कर दिये हैं? ॥६६॥

(गोला०, त्रिप्रश्नवासना)

लल्लने अपने 'शिष्यधीवृद्धिद'में जो गति-शीघ्र-फल लिखा है, वह ठीक नहीं है। इसका विचार गणक लोग करें। और जो तीन राशि तथा नव राशिके केन्द्रमें गति-फलका अभाव एवं धन-ऋण-सन्धिस्थलमें उसका भाव कहा है, वह भी अशुद्ध है ॥४०॥ (गणिताध्याय, स्पष्टाधिकार)

आचार्य्यने बौद्धों और जैनोंको उनके भू-विषयक मिथ्या ज्ञानके कारण किस प्रकार फटकारा है, उसे भी देख लीजिये—

अरे बौद्ध! कोई भारी वस्तु ऊपर फेंकनेपर वह तुरत पृथ्वीपर गिर आती है, ऐसा देखकर भी पृथ्वी आकाशमें नीचे गिरी जा रही है, ऐसा मिथ्या ज्ञान तुम्हें कैसे हुआ? तात्पर्य यह कि, यदि पृथ्वी नीचेकी ओर गिरी जाती होती, तो ऊपर फेंकी हुई चीजसे उसका मेल कभी न होता ॥९॥ अरे जैनो! अहोरात्रमें ध्रुव मत्स्यका परिभ्रमण देखकर भी जो तुम लोग दो सूर्य और दो चन्द्र मानते हो, तो ये सब तुम्हारे दुर्गुण कहाँ तक गिनाऊँ? ॥१०॥

(गोला०, भुवनकोष)

इस प्रकार आचार्य अपने ग्रन्थ भर में दूसरोंके भ्रान्त मतोंको कड़ी फटकार सुनाकर अन्तमें क्षमा-प्रार्थना करते हुए अपने इस कठोर कार्य्यकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

बड़े और छोटे सभी ज्योतिर्विदोंसे मेरी बद्धाञ्जलि प्रार्थना है कि, मैंने जो प्राचीनाचार्य्योंके मतोंका खण्डन किया है, उसके लिये वे मुझे क्षमा करें। कारण यह था कि, प्राचीनोंके मतोंका बिना खण्डन किये, उनके अनुयायियोंका नवीन उपपत्तिमें विश्वास नहीं होता। तात्पर्य यह कि, मैं ऐसा करनेके लिये लाचार था।

(गोला०, प्रश्नाध्याय)

भास्कराचार्यमें गर्वोक्ति भी कूट-कूट कर भरी हुई थी।

"सिद्धान्त-ग्रथनं कुबुद्धि-मथनं चक्रे कवि-र्भास्करः।"

अर्थ—मूर्खोंके मथन करनेवाले इस सिद्धान्त-शिरोमणि ग्रन्थको कवि भास्करने बनाया।

भास्कराचार्य व्याकरण-शास्त्रके भी एक प्रौढ़ विद्वान् थे और वे इस शास्त्रके इतने बड़े हिमायती थे कि वे अ-वैयाकरणोंको ज्योतिष अथवा कोई अन्य शास्त्रके पठन-पाठनका अधिकारी ही नहीं मानते थे—

जो व्यक्त (पाटीगणित) और अव्यक्त (बीजगणित) इन दो प्रकारके गणितोंको जानता हो और व्याकरण-शास्त्रमें खूब प्रवीण हो, वही इस अनेक भेदयुक्त ज्योतिःशास्त्र पढ़नेका अधिकारी है; नहीं तो वह केवल नाम-मात्रका ज्योतिषी है ॥ ७ ॥ शब्दशास्त्र वेदोंका मुख और सरस्वती देवीका निवास-स्थान है; अतः जो इस शास्त्रको जानता है, वह वेदको भी जानता है। और शास्त्रोंकी तो बात ही क्या है ? इसलिये बुद्धिमान् लोग पहले व्याकरणका अध्ययन कर लें तब दूसरे शास्त्रोंको सुननेके अधिकारी बनें ॥८॥

(गोला० , गोलप्रशंसा)

भास्कर पहले दर्जेके कवि भी थे । अपने ग्रन्थोंमें सर्वत्र किसी न किसी बहाने अपनी कविताकी छटा दिखानेसे वे बाज नहीं आये हैं। इन्होंने कविता करनेमें प्रायः आचार्य वराहमिहिरकी शैलीको आदर्श माना है और वही इनको भली भी मालूम होती थी। इन्होंने गणिताध्यायके प्रारम्भमें लिखा है—'जयन्ति ललितोक्तयः प्रथिततंत्रसद्युक्तयः। वराहमिहिरादयः " इत्यादि। गोलाध्यायमें जो इन्होंने ऋतु-वर्णन किया है, वह कालिदासके 'ऋतु-संहार'से टक्कर लेनेवाला है। यमक, श्लेष सबकी बहार देखनेको मिलती है। दो-एक नमूने लीजिये ।

"मदनदहनखिन्नामागतेऽभ्रेत्यकाले,
परिमल-बहलानां मालतीनां नदीनाम् ।
अदय दयित सिञ्चस्यात्मदृग्वारिणा किं,
परिमलबहलानां मालतीनां नदीनाम् ॥५॥"

अर्थ—हे निर्दय प्रिय! इस वर्षाकालके आगमनमें, जब कि नदियाँ चारो ओरसे मल बहा रही हैं, मालतीके फूल सौरभ वितरण कर रहे हैं और माननियोंका कामोद्रेकसे मान हरण हो रहा है, ऐसे समयमें कामज्वालासे पीड़ित मुझ दुःखिनीको अपने प्रेमाश्रुओंसे क्यों नहीं आकर सींचते ?

उक्त श्लोकमें 'परिमलबहलानां मालतीनां नदीनाम्' पर श्लेष है। नदी-पक्षमें इसका अर्थ हुआ 'परि समन्तात् मल-बहलानाम्' अर्थात् सब ओरसे मल बहा ले जानेवाली। मालती-पक्षमें इसका अर्थ हुआ 'परिमल बहलानाम्' अर्थात् सौरभ (सुगन्ध)को ढोनेवाली। तीसरे अर्थमें 'परिमलबहलानां मालतीनां नदीनाम् = 'परिमलव-हराणां रतीनां दीनां मा न'। इसका अर्थ हुआ परस्य भावः परिमा। परिमूणे लवः परिमलवः। तं हरन्तीति परिम-लव-हराः। तासां परिमलव-हराणाम्। रलयोर्बवयोश्चैकत्वस्य गृहीतत्वात्। मानिनीनां कामातुराणां मानभङ्गेन तुच्छत्वमापादयन्तीनां लतानां रतीनाम्॥ तासां काले कथं नागत्य दीनां मा मां सिञ्चनीत्यर्थः। अर्थात् मान भङ्गकर माननायोंको तुच्छ बना देनेवाली कामकेलियोंके कालमें।

पुनश्च—

"स्वतनुजवनराज्या पुष्पवत्या श्लिषन्त्या,
ह्यनुचितकृतसङ्गाऽस्मीति शीतोऽनुतप्तः।
निशि शशिकर चञ्चन्निर्झरैरश्रुकल्पैः,
शरदि हृदिअखेदस्वेदवान् रोदितीव ॥८॥"

अर्थ—अपने शरीरसे उत्पन्न और पुष्पसे युक्त वनस्पतियोंके संयोगको अनुचित मानकर दुःखित पर्वत शरत्कालकी रातमें चन्द्रमाकी किरणोंसे प्रकाशमान तथा अश्रु-तुल्य झरनोंके

द्वारा अपने हृदयके खेदरूपी पसीनेसे तर होकर मानों रो रहा है।

यहाँ वनराजिको पर्वतसे उत्पन्न होनेके कारण उसको तनुजा (पुत्री) कहा गया है और 'पुष्पवत्या' और 'सङ्गः' शब्दोंपर श्लेष है। पुष्पं कुसुमं स्त्रीरजश्च। सङ्गः सम्पर्कः भोगश्च। रोदितीवेत्युत्प्रेक्षा।

न मालूम, कितने ऐसे-ऐसे श्लोक भास्कराचार्यके ग्रन्थोंमें भरे पड़े हैं जिनसे उनकी असाधारण कवित्व-शक्तिका परिचय मिलता है।

पहले लिख चुका हूँ कि. भास्कराचार्यका जन्म ईस्वीसन् १११४ में हुआ था और उन्होंने ३६ वर्षकी अवस्थामें अर्थात् ई० स० ११५० में सिद्धान्त-शिरोमणिको लिखा था। अभी भारतमें मुसलमानी राज्यकी नींव पड़नेमें लगभग आधी शताब्दीकी देर थी; क्योंकि, मुहम्मद गोरीने पृथ्वीराजको ई० स० ११९२ में और जयचन्दको ई० स० ११९३ में पछाड़ा था। अभी भारतमें शान्ति विराज रही थी और विद्याप्रेमी राजाओंके आश्रयमें रहकर बड़े-बड़े विद्वान् अपना चमत्कार दिखा रहे थे। इसी समयमें बंगालके राज-सिंहासनको बल्लालसेनके पुत्र लक्ष्मणसेनने सुशोभित किया था। ये बड़े गुण-ग्राही थे। इन्हींके आश्रयमें रहकर जयदेव, उमापति, धोयी आदि कवियोंने अपनी-अपनी कविता-कौमुदीसे बंगालको उद्भासित कर दिया था। उत्कलके प्रसिद्ध राजा चोल गङ्गदेव भी, जिन्होंने जगन्नाथके मन्दिरकी नींव डाली थी, भास्करके समकालीन थे। कहते हैं कि, देवगिरि (दौलताबाद) के विख्यात यादव-राजवंशके साथ भास्कराचार्यके परिवारकी बड़ी घनिष्टता थी। इस यादव-राज्यकी स्थापना भिल्लमने, ई० स० ११८७ में, की थी। इनके पोते सिंहन (ई० स० १२१०) के राजत्व-कालमें भास्कराचार्यके पोते प० चङ्गदेवने अपने दादाके ज्योतिषग्रन्थोंके पठन-पाठनके लिये एक ज्योतिष महाविद्यालय खोल रखा था। इसीसे कितनोंका अनुमान है कि, भास्करकी जन्म-भूमि विज्जड़-विड़ देवगिरिके ही समीप था। पर देव-गिरि पश्चीम-घाट पर्व्वत-मालासे १५० मील पूर्व्व है, जो भास्करोक्त सह्यनिकटस्थ विज्जड़-विड़की भौगोलिक स्थितिके साथ मेल नहीं खाता।

इतिहासके पाठकोंको मालूम है कि, दिल्लीके सम्राट् मुहम्मद तुग़लकने देवगिरिको दौलताबाद नाम देकर उसे अपनी राजधानी बनाना चाहा था। उसने नाप-जोखकर इस नगरको देशके प्रायः मध्य-भागमें, न कि विज्जड़-विड़की तरह देशके एक किनारेपर, निश्चित किया था। इससे भी अनुमान होता है कि, विज्जड़-विड़ दौलताबादके समीप नहीं था। दक्षिण भारतमें 'ड' और 'ल'के उच्चारणमें भेद नहीं मालूम पड़ता; अतः 'विज्जड़' और 'विज्जल' दोनों एक ही शब्द हैं। बहुत सम्भव है कि, कल्याण नगर (दक्षिण भारत) के काल-चूर्य (कलचुरी) नरेश विज्जल (ई० स० ११५६) के नामपर विज्जड़-विड़-का नाम-करण हुआ हो। यह वही विज्जल थे, जिनके मंत्री वसुदेवके द्वारा शैव मतके लिङ्गायत सम्प्रदायकी स्थापना हुई थी। भास्कराचार्यके वंश-धरोंका देवगिरिके यादव राजवंशके साथ घनिष्ठताका कारण उनका पड़ोसी होना नहीं, बल्कि उनके देश-व्यापी पाण्डित्यकी प्रसिद्धि था।

सन्त कबीर

पं० किशोरीदास वाजपेयी, शास्त्री

सन्तवर कबीरका आविर्भाव पन्द्रहवीं सदीमें माना गया है। आजकल देखा जाता है कि, जब किसी अनुचित सम्बन्धसे विधवा आदिको सन्तति उत्पन्न हो जाती है, तब लोकलाजसे बचनेके लिये वह उसे इधर-उधर कहीं रख आती है, या फेंक आती है। कबीर भी कदाचित् ऐसी ही सन्तान थे, जिनके लिये कहा जा सकता है—'और करे अपराध कोउ और पाव फल-भोग!' कुछ भी हो, एक नन्हासा नव-जात शिशु मुसलमान जुलाहेको मिला। वह जुलाहा सन्तान-हीन था, वह उसे प्रेमसे उठा ले गया। यही जुलाहा दम्पती कबीरके माता-पिताके रूपमें प्रसिद्ध हुए।

जब कबीर कुछ बड़े हुए, तब लोगोंने देखा, उनसे आध्यात्मिकता निकल रही थी। शुरूसे ही वे कुछ वैसे थे। उस समय भारतवर्षमें वैष्णव-धर्मका प्रभाव था। सिद्ध वैष्णव और आचार्य भगवद्भक्तिका प्रचार इस डिंडिमनादके साथ कर रहे थे—'हरिको भजै, सो हरिका होई, जात-पाँत पूछै ना कोई।' वैष्णवधर्मने न केवल शूद्रों और अस्पृश्योंके ही लिये, बल्कि आर्येतर जनोंके लिये भी धर्मका द्वार खोल दिया था। वर्णाश्रम-धर्मकी रक्षा करते हुए उसने सब बाह्याडम्बर दूर कर दिये थे। शान्तिके साथ 'शुद्धि'का प्रचलन हो चुका था, इस होहल्लेके साथ नहीं, जैसा आज है। वैष्णव-आचार्योंमें श्रीरामानन्दजी बड़े प्रभावशाली हुए हैं, जिनका जन्म प्रयागमें, एक उच्च ब्राह्मण-परिवारमें, हुआ था। इन्होंने 'शुद्धि' और अछूतोद्धारका मानों व्रत ही ले लिया हो, भगवद्भक्तिका प्रचार मानवमात्रमें कर रहे थे। रैदास (चमार) आदि इन्हीं आचार्यके शिष्योंमें हैं, जिन्होंने गुलामके केन्द्र काशीक्षेत्रमें अपनी विजय-वैजयन्ती फहरायी। इन्हीं स्वामी श्रीरामानन्दजीने कबीर साहबको भी वैष्णव-दीक्षा दी और उन्हें हिन्दू बना लिया, जो शायद जन्मना भी हिन्दू ही हों।

जब वैष्णवधर्मसे वह तेजस्विता निकल गयी और अन्याय मत-मतान्तरोंकी तरह इसमें भी छुआछूत ही आचार बन गया, तब इस विषयमें यह कथा गढ़ ली गयी कि, कबीर साहब जब बालक थे, तभी गंगा-घाटकी उन सीढ़ियोंपर जाकर पड़ रहे, जहाँसे स्वामी रामानन्दजी स्नान करने आते थे। अँधेरेमें स्वामीजीका पाँव बालकको लग गया और बालक रो पड़ा। आचार्यने उसे गोदमें उठा लिया और बोले—'राम-राम कहो बेटा!' फिर पुचकार कर चुप करा दिया और स्नान करने चले गये। बालक कबीरने इसीसे उन्हें अपना गुरु मान लिया और 'राम नाम'को मंत्र मान लिया। यह कथा एकदम गढ़ी हुई है। जो आचार्य चमारको दीक्षा दे सकता है, वह मुसलमानको भी अपनावे, तो कौन सी आश्चर्यकी बात है! कबीर साहब स्वयं भी उन्हें अपना गुरु बतलाते हैं! उस गढ़ी हुई कहानीमें जो अस्वाभाविकता है, उससे भी वस्तुस्थिति स्पष्ट है।

खैर, मतलब यह कि, कबीरजी स्वामी रमानन्दजीके शिष्य थे, योग्य शिष्य थे।

अन्याय सन्तोंकी तरह कबीरका भी ज्ञान अपना था, किताबोंको पढ़कर दूसरेके ज्ञानसे ये ज्ञानी न बने थे। जो कुछ भी इन्होंने कहा, अपने अनुभवसे। बुद्ध आदि सभी आध्यात्मिक नेताओंमें यही बात नजर आती है। तभी तो उनके मौलिक ज्ञानकी धूम मची। अन्यथा, चर्वित-चर्वण सा हुआ ही करता है। परन्तु, कबीरजीने जो कुछ भी अनुभवसे

आना और कहा, वह सब हिन्दुओंके लिये कोई अपरिचित वस्तु न थी। उपनिषदोंके ही सिद्धान्त कुछ अस्त-व्यस्तसे होकर कबीरके मुखसे निकलते थे।

कबीरपर हिन्दू-संस्कृतिका भी प्रभाव पड़ा था और इस्लामका भी। उन्होंने दोनों ओरसे सार खींच लिया था और उसीके आधारपर अपने सिद्धान्त स्थिर किये थे। वे चाहते थे कि, हिन्दू-मुसलमानोंके आपसी झगड़े मिट जायँ और सब प्रेम-पूर्वक रहें, सब भगवान्‌के हैं और भगवान् सबके हैं। उन्होंने शायद इसी उद्देशसे एक मध्यवर्ती मार्ग भी निकाला



लेखक

था, एक नया पन्थ चलाया था, जैसा कि बादमें बादशाह अकबरने भी किया। परन्तु उनके सिद्धान्तोंका प्रचार प्रायः हिन्दुओंमें ही हुआ, मुसलमानोंमें नहीं। कुरान शरीफ तथा हजरत मोहम्मदपर जो मुसलमानोंकी अगाध श्रद्धा है, वह उन्हें टस-से-मस नहीं होने देती। हिन्दुओंमें भी निम्न श्रेणीके लोगोंने ही कबीर साहबका अनुगमन किया। उच्च श्रेणीके या शिक्षित जन उधरसे उदासीन हो रहे। इस प्रकार कबीर साहब अपने उद्देशमें सफल न हो सके, अपने मतको व्यापक न बना सके।

इतना बड़ा महात्मा अपने प्रयोगमें क्यों असफल हुआ? कोई कारण होगा! आप देखते हैं, रोग दूर करनेके लिये उत्तम, औषधकी जितनी जरूरत होती है, उससे भी अधिक आवश्यकता है कुशलता-पूर्वक उसके प्रयोगकी। यदि उचित ढंगसे, ठीक अनुपान और पथ्यके साथ, प्रयोग न किया जाय, तो "चन्द्रोदय" और "मकरध्वज"से भी कुछ नहीं हो सकता! उलटे हानि भी हो सकती है। कबीर साहबने समाजका रोग दूर करनेके लिये जो औषध तजवीज की थी, सो तो ठीक था; परन्तु उसकी प्रयोग-विधिमें और पथ्यदानमें दोष था।

उपदेष्टामें या समाज-सुधारकमें स्पष्टवादिताका गुण बहुत जरूरी है। कबीर साहबमें यह था और बहुत बड़े परिमाणमें था। ऐसा खरापन भी किस कामका, जो चीज-को खराब कर दे, कड़वा कर दे, जला दे! कबीर साहब जब देखते थे कि, माला-कंठी पहने दम्भी लोग धर्मभीरुओंको ठग रहे हैं, तब वे जल उठते थे। सुधारकका हृदय ऐसा ही होता है। तब वे कहते थे कि, ऐसे ढोंगियोंको अवश्य नरक मिलेगा। यदि सिर्फ माला-तिलकसे ही भगवान् मिल जायँ, तब तो हो चुका। इसी प्रकार धोखा देनेवाले जटाधारि-योंको देख वे उन्हें भेड़ बनाते थे और पापमग्न पुजारियोंकी करनी देख कर कहते थे—

"पत्थर पूजे हरि मिले, तौ मैं पूजूँ पहाड़।"

यह सब तो ठीक; परन्तु वे तो वेदोंकी भी निन्दा करने लगे थे। भारत और वेद मिलकर एक हो गये हैं। चाहे कुछ भी हो, भारतकी वेदोंमें श्रद्धा है और रहेगी। वेदोंका नाम लेकर आप यहाँ कुछ भी चला दीजिये, सब मान लेंगे। परन्तु वेदको छोड़कर हिन्दू कुछ भी न मानेंगे। वे तर्कके सामने झुक जायँगे, कुछ समयके लिये हृदय भी आपको दे देंगे; परन्तु कालान्तरमें फिर मामला पलट जायगा। बौद्ध-धर्मके बराबर आजतक और कौन-सा धर्म भारतमें फैला है? परन्तु वहाँ वेदका प्राधान्य न था, यद्यपि सब कुछ वेदके अनुकूल ही था। बस, 'वेद' नाम न होनेके कारण एक दिन बौद्ध-धर्म यहाँसे उड़

गया। और 'वेद'का ही नाम लेकर लोगोंको डरसे हटाया गया। परन्तु बौद्ध लोग इस प्रकार तिरस्कारसे आम जनतामें वेदोंकी निन्दा न करते थे जिस तरह कबीर साहब! इस वेद-निन्दा आदिके कारण शिक्षित हिन्दू-जनताका झुकाव उस ओर न हुआ और इसी-लिये कबीर-पन्थमें हलकापन रहा, गौरव न आ पाया। दलित भाइयोंमें ही उनके अनुयायी अधिक हुए; क्योंकि उनकी वाणीमें उन बेचारोंके लिये एक सहारा था, आशाकी झलक थी। कबीर साहबकी कटुताके कारण भी जनताने उन्हें वैसा स्वीकार न किया। अच्छाईसे अच्छी भी कड़वी दवा पीनेसे लोग झिझकते हैं, फिर उनका तो कहना ही क्या, जिन्हें अपने रोगका भी पता नहीं है। इन्हीं सब कारणोंसे कबीर साहबको वैसी सफलता नहीं मिली, जैसी चाहिये थी।

कबीर साहबने सब कुछ हिन्दी-भाषामें ही कहा है। उनकी वाणी एक प्रकारके छन्दोंमें है। शायद इसीलिये लोग उसे 'कविता' कहने लगे हैं और कबीरको कवि! यही नहीं, हिन्दीके प्रधान नव कवियोंमें भी वे रखे गये हैं। 'हिन्दी-नवरत्न' में उनका उच्च-स्थान दिया गया है।

हमको सोचना चाहिये, क्या कबीर साहब वस्तुतः कवि भी थे? अच्छी तरह इस समस्यापर मैंने विचार किया है। मेरी निश्चित सम्मति है कि, वे कवि न थे, एक प्रखर समाज-सुधारक थे, जो आध्यात्मिकताको लिये हुए थे। उन्होंने जो कुछ कहा है, सब छन्दोंमें है, सिर्फ इसीलिये उन्हें हम कवि नहीं कह सकते। छन्दमें और कवितामें अन्तर है। सभी छन्द कविता नहीं। जहाँ कविताके तत्त्व होंगे, वही कविता कहलायगी। गद्य भी कविता होती है। वह छन्द कविता नहीं, जिसमें काव्योचित सामग्री न हो, जहाँ मनोभावोंका सुन्दर अभिव्यञ्जन न हो, शब्द या अर्थमें कोई उत्कृष्ट चमत्कार न हो। छन्दोंमें समाज-सुधार या अध्यात्म-विद्याकी बातें कह देनेसे कोई कवि नहीं कहला सकता, न उसकी कृति कविता! कवितामें कहनेका ढंग देखा जाता है, उसीमें चमत्कार होना चाहिये। अच्छी बात कहनेसे कोई कवि नहीं होता, जो अच्छे ढंगसे कहता है, वह कवि कहलाता है। इस कसौटीपर कबीर नहीं उतरते। उन्होंने बातें अच्छी कही हैं, पर कहनेके ढँगमें वह बाँकापन नहीं, जो कवि-पद प्रदान करता है। जो लोग इससे सहमत नहीं, वे अवश्य ही 'मनुस्मृति', आदिको भी काव्य-ग्रन्थ कहनेका साहस करेंगे; क्योंकि वे भी छन्दोबद्ध हैं और उन छन्दोंमें यत्र-तत्र उपमा-रूपक आदि अलंकारोंकी भी कमी नहीं है। परन्तु उनका साहस इधर इसलिये शायद न हो कि, संस्कृतमें कृतविद्योंका अभाव नहीं है और न साहित्य-विद्यामें हलकापन। यदि संस्कृतमें भी यही अंधेर हो, तो अवश्य ही मनुस्मृति और वेदान्तकी 'पञ्चदशी' आदि ग्रन्थ काव्य-संज्ञा पा जाते, एवं मनु भगवान् संस्कृतके कालिदास आदि कवियोंकी श्रेणीमें बैठा दिये जाते!

मैं समझता हूँ, कबीर कवि नहीं, एक प्रचण्ड समाज-सुधारक थे और उनकी रचना कविता नहीं, बल्कि अध्यात्म विद्याकी फुटकल उक्तियोंका 'कोष' है। कबीरकी वाणी हिन्दीकी वह उपनिषद् है, जिसके वाक्यों-का समन्वय करनेके लिये अभीतक किसी व्यासने अवतार लेकर 'मीमांसा' नहीं की। कबीरकी वाणीमें जो चीज महत्त्वकी है, उसे तो हम देखते नहीं; किन्तु कविताकी धुनमें उसे भी कविता ही कहे चले आते हैं।

कविवर रवीन्द्र और सन्त कबीर—कुछ लोग कहेंगे कि, विश्वविश्रुत कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ भी जिन कबीर साहबके ऋणी हैं, उन्हें कवि न मानना एक उपहासास्पद बात है! क्या रवीन्द्र बाबू विश्वमान्य महाकवि नहीं हैं? यदि हैं, तो फिर उनके भी 'गुरुदेव' कबीर साहब कवि क्यों नहीं? प्रश्न हो सकता है।

मैं मानता हूँ कि, रवीन्द्रनाथ वैसे कवि हैं और उनपर कबीर साहबका प्रभाव भी पड़ा है; तो भी कबीर कवि नहीं कहे जा सकते। कविवर रवीन्द्रपर कबीरकी कविताका प्रभाव पड़ा है, या विचार-धाराका, यह सोचनेकी बात है। रवीन्द्रनाथ सन्त कबीरके विचारोंका और भावनाओंको अपना आदर्श मानते हैं या उनकी कलाको? कविवर रवीन्द्रने कभी कहीं यह स्वीकार नहीं किया कि, कवितामें वे कबीरको आदर्श मानते हैं और उससे प्रभावित हुए हैं। कबीर साहबके आध्यात्मिक सामाजिक, और धार्मिक स्वतन्त्र विचारोंका प्रभाव कवि-शिरोमणि रवीन्द्रपर पड़ा है और इसीलिये वे उनके कृतज्ञ हैं। कबीरने जो रहस्यवाद प्रकट किया है, उसे लेकर कवीन्द्र रवीन्द्रने अपने काव्यमें परिणत कर दिया है, फीके नीरस परन्तु गुणकारी पदार्थमें मिठास पैदा कर दिया है। यही कवि-कृत्य है।

कोई कवि किसी इतिहाससे कोई कथावस्तु लेता है और अपने कौशलसे उसे काव्यका रूप दे देता है—उसी ऐतिहासिक वृत्तको वह इस ढँगसे कहता है कि, बात ही कुछ और बन जाती है। इस बाँकापनसे कहनेके कारण ही वह कवि है। तो, क्या वह इतिहास-लेखक भी कवि मान लिया जाय, जिसके इतिवृत्तको इसने काव्यका रूप दे दिया है? कौन विचारशील ऐसा स्वीकार करेगा? खानिह खोदकर और ढूँढ़कर सोना-चाँदी निकालना भी कठिन काम है; परन्तु एक चतुर स्वर्णकार जो विविध आभूषणोंके रूपमें उसे प्रकट करता है, वह एक अलग कला है। कबीरने अपने सुनहले विचार दे दिये, वे कीमत रखते हैं; परन्तु अनगढ़ होनेसे उनमें वह मोहकता नहीं, जो कलाका प्राण है। कवीन्द्र रवीन्द्रने यदि सोनारका काम किया और विचारोंको स्वर्णाचित भाँति-भाँतिके आभूषण तैयार किये, तो कुछ अन्तर हुआ कि नहीं? खान-ढूँढ़कर, परिश्रम-पूर्वक, संगमरमरकी शिला प्रस्तुत कर देना एक बात है और उसे सुन्दर, सुडौल तथा मोहक मूर्तिके रूपमें ले आना दूसरी। जो व्यक्ति संगमर्मर लायगा, उसे सफल अध्यवसायी कहा जायगा और उस मूर्तिकारको श्रेष्ठ कलाविद्। कबीर उत्तम अध्यवसायी थे। उन्होंने अनन्त अनमोल विचार हमें दिये। परन्तु उनके कहनेका ढँग वैसा न था कि, हम उन्हें 'कवि' कह सकें। उन्हीं विचारोंसे प्रभावित होकर रवीन्द्रने कविता की, इस लिये कवि हैं। जिन्होंने दोनों महापुरुषोंकी वाणीका अध्ययन किया है, वे स्पष्ट भेद समझ जायँगे।

इतनी देरमें मैंने यही कहा कि, सन्त कबीर कवि नहीं, दार्शनिक थे, जो समाज-सुधारका भी समर्थन करते थे। कुछ लोग यह भी आशंका करेंगे कि, मैं कबीरको कवि-पदसे गिराकर उनकी अप्रतिष्ठा कर रहा हूँ। फिर हिन्दीमें कबीरका स्थान ही क्या रह गया? यह भ्रम है। हिन्दीमें जिसने भी कुछ लिख दिया, छन्दोंमें, वह कवि ही है, यह गलत धारणा है। ऐसी धारणा हिन्दी-साहित्यके व्यापक महत्त्वको तो घटाती ही है, साथ ही उन महापुरुषोंको भी अन्धकारमें ढकेलती है, जिनकी वे कृतियाँ हैं। क्या हिन्दी-साहित्यमें कविताके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं? कैसी विचित्र बात है! जिन ग्रन्थोंमें साहित्यके इतिहासका निरूपण हुआ है, उनके लेखकोंको चारो ओर कविता ही दिखायी दी है और कुछ नहीं! इससे प्राचीन ग्रन्थकारोंके साथ, अन्याय हुआ है। बहुतसे लेखक ऐसे हैं, जिन्होंने अपने विविध विचार छन्दोंमें प्रकट किये हैं? जिनकी परख कविताकी कसौटीपर की गयी है। इससे उनमें फीकापन आ गया है। यह वस्तुका नहीं, पारखीका दोष है। उन ग्रन्थोंको कवितामें नहीं, बल्कि विविध विषयोंके निरूपणमें रखना चाहिये और उसी दृष्टिसे उनका तारतम्य निकलना चाहिये।

इसीलिये कहा जाता है कि, कबीरको दार्शनिक कोटिसे हटाकर उनका प्रभाव नष्ट किया गया है। और उनकी कृतिमें फीकापन ला दिया गया है, भ्रम पैदा कर दिया गया है। कबीरको दार्शनिक कहने, और समझनेमें उनका महत्त्व है, कवि कहनेमें नहीं। दार्शनिकोंका दर्जा कुछ नीचा नहीं होता।

यदि आप कबीरको दार्शनिक स्वीकार करें और कवि कहनेका भी आग्रह करें, तो कीजिये, परन्तु इससे उनका



सन्त कबीर

या उनकी कृतिका वह महत्व न रह जायगा। आप उन रूपक और अतिशयोक्ति आदि दो-चार अलंकारोंके कारण ही शायद कबीरको कवि कहेंगे, जो उनकी रचनामें हैं, परन्तु काव्यमें इनका कोई अस्तित्व नहीं है। यदि इससे आप उन्हें कवि मान भी लें तो वे बिलकुल नीचे दर्जेके कवि ठहरते हैं, क्योंकि व्यक्तियोंमें गिने जाने लायक नहीं। प्राधान्यसे व्यवहार होता है। कबीरको हम हिन्दीका उत्तम दार्शनिक मानें या निम्न कोटिका कवि? मालवीयजी उत्तम राजनीतिक और धार्मिक नेता हैं, इसी रूपमें दुनिया उन्हें पहचानती है परन्तु वे संस्कृतमें श्लोक भी बना लेते हैं। तो क्या उन्हें संस्कृतका कवि कहकर महत्त्व दिया जा सकता है? इससे तो उनका दर्जा गिर जायगा। क्या उनके श्लोक संस्कृत कवियोंके श्लोकोंके सामने ठहर सकेंगे? तब क्यों न पूज्य मालवीयजीको राजनीति और धर्मके नेतारूपमें पहचाना जाय?

संक्षेपमें यह कि कबीर कवि नहीं, दार्शनिक थे और प्रधानतः समाज-सुधारक थे। उनके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ।

चार कवि

श्रीयुत भट्टनायक

१—पाणिनि

संस्कृतसे प्रेम रखनेवाला साधारण व्यक्ति भी "पाणिनि"के नामसे कभी अपरिचित नहीं हो सकता; क्योंकि, व्याकरण-शास्त्रपर इन्होंने अपनी एक ऐसी जबर्दस्त मुहर लगा दी है कि, जिसकी छाप सदाके लिये अमिट हो गयी है। इसीसे लोग इन्हें केवल कौमुदीके रचयिता उत्कृष्ट कोटिका वैयाकरण ही समझते हैं परन्तु परम वैयाकरण होकर भी ये अतिशय रसिक थे और इनका हृदय था साहित्यकी सलोनी लतिकाका मनोरम आलवाल।

गोल्डस्टुकर भण्डारकर आदि बहुतसे विद्वानोंका मत है कि पाणिनि बुद्धके भी पहले अर्थात् ईसासे ७०० वर्ष पूर्व वर्तमान थे; किन्तु अन्य कतिपय यूरोपीय सज्जन इन्हें ईसाके पूर्व चौथी सदीमें ही अवस्थित मानते हैं।* इनके पिताका नाम तो नहीं मालूम; पर इनकी माताका नाम दाक्षी तथा जन्मस्थान शालातुर था। मि० कनिंघम यह शालातुर वर्तमान लाहुरको बताते हैं, जो पेशावरके पासका एक छोटासा गाँव है।

विद्वानोंका यह विचार है कि, पाणिनिने तक्षशिलामें शिक्षा पायी थी; परन्तु आचार्य भट्ट सोमेश्वरका कथन है कि ये पाटलिपुत्रमें रहकर विद्याध्ययन करते थे। काव्य-मीमांसामें भी यह बात लिखी मिलती है—

* आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्पमें भी पाणिनिको नन्दका समकालीन माना है। देखिये ५३ पटल, पृष्ठ ६१२ "नन्दस्यापि नृपतेः सखा ब्राह्मणः पाणिनिर्नाम... पाटलिपुत्रे॥ ...तस्याप्यन्यतमः सखा पाणिनिर्नाम माणवः॥"

श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकार परीक्षाऽत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः।" अर्थात् इन्हीं लोगोंकी पाटलि पुत्रमें परीक्षा हुई थी।

पाणिनि वैयाकरण और कवि दोनों ही थे। यह बात बहुतोंको खटकेगी। हाँ, कुछ लोग तो कहते हैं कि, यदि पाणिनि द्वारा विरचित कोई काव्य है, तो वह किसी दूसरे पाणिनिकी रचना है, इस वैयाकरण की नहीं। अवश्य, पाणिनिको मूलतः नहीं पहचानेवालोंकी ही ऐसी धारणा है।

पाणिनिके काव्यका नाम "जाम्बवती-जय" है। कहीं इसीको लोग "जाम्बवती-विजय", "जाम्बवती-जय" अथवा "पातालविजय" कहते हैं। कृष्ण जाम्बवतीको पातालसे जीतकर लाये थे; इसी कारण इसका नामकरण "पातालविजय" हुआ ऐसा लोगोंका अनुमान है। परन्तु अत्यन्त दुःख है कि, यह काव्य अब एकदम नहीं मिलता। केवल नाम अथवा उसकी चर्चा मात्र ही यत्र-तत्र सुन पड़ती है।

महाकवि जयदेवने जिन 'शरण' कविका नाम लिया है, उनकी "दुर्घट-वृत्ति" में जहाँ-जहाँ पाणिनिके पद्य उद्धृत किये गये हैं, वहाँ-वहाँ पाणिनि-रचित ग्रन्थका नाम "जाम्बवतीजय" ही बताया गया है। उद्धृत करते समय एक श्लोक जाम्बवती-जयके अठारहवें सर्गका भी है। अतः यह महाकाव्य १८ सर्गोंका माना जाता है। शरणकी दुर्घट-वृत्तिमें पाणिनि-सूत्रों द्वारा वे ही प्रयोग बड़े कौशलसे सिद्ध किये गये हैं, जो ऊपरसे देखनेमें अपाणिनीयसे मालूम पड़ते हैं।

अमरकोषके टीकाकार "रायमुकुट" ने इस पद्यांशको जाम्बवती-विजयका कहकर उद्धृत किया है—

"पयः पृषन्तिभिः स्पृष्टा वान्ति वाताः शनैः शनैः"

काव्यालङ्कारके टीकाकार 'नमिसाधु'ने पाणिनि द्वारा अपने व्याकरणके विरुद्ध किये गये प्रयोगके उदाहरण स्वरूप जाम्बवतीजयसे ही इस पद्य खण्डका उद्धरण किया है—

"सन्ध्यावधूं गृह्य करेण भानुः"

यहाँ 'गृह्य' पद अपाणिनीय है।

राजशेखरने इनकी प्रशंसामें लिखा है—

"नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं काव्यमनुजाम्बवतीजयम्॥"

अर्थात् उस पाणिनिको नमस्कार है, जिसने पहले व्याकरण बनाया और पीछे जाम्बवती-जय नामक महाकाव्य।

सदुक्तिकर्णामृतमें महाकवियोंके गणना-प्रसङ्गमें पाणिनिका भी नाम आया है। देखिये—

"सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते।
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्॥
विशुद्धोक्तिः शूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिरः।
तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते॥"

उत्कृष्ट गद्य काव्य वासवदत्ताके लेखक सुबन्धु, कालिदास, गद्यमयहृदय हरिचन्द्र और करुणरसके प्रौढ़ लेखक भवभूतिका नाम जहाँ आया है, वहाँ दाक्षीपुत्र—पाणिनिका भी नाम वर्त्तमान है। अब भला कौन कह सकता है कि, ये महाकवि नहीं थे? दाक्षीपुत्र पाणिनिका ही नाम है। महाभाष्यकारने लिखा है—

"सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः"
(११-२०)

यहाँ दाक्षीपुत्र पाणिनिका विशेषण है।

जो पाणिनि उद्भट वैयाकरण थे वे ही उच्च-कोटिके कवि भी थे, इस बातको सिद्ध करनेके

लिये मैं अब विशेष युक्तियों तथा उदाहरणोंकी आवश्यकता नहीं समझता। उपर्युक्त उदाहरण ही यथेष्ट हैं।

जो वैयाकरण है वह कवि नहीं हो सकता यह तो बड़ी ओछी शंका है। "खण्डन-खण्डखाद्य"के रचयिता, महान् दार्शनिक श्रीहर्षने जब "नैषध"-सा काव्य बना डाला, तब इनके विषयमें शंका करनेकी गुंजाइश कतई नहीं हो सकती।

अच्छा, अब इनकी कुछ सूक्तियोंको मैं बानगीके तौरपर, यहाँ पेश किये देता हूँ। पाठक उत्कृष्टताका अनुभव करें। मेरे साहित्यिक बन्धु यद्यपि ये श्लोक पढ़ चुके होंगे; तथापि बहुत कमको यह खबर होगी कि, ये पाणिनिके ही हैं।

"उपोढरागेण विलोल-तारकं,
तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया,
पुरोपि रागाद् गलितं न लक्षितम्।"

चन्द्रोदयका वर्णन है और है भरा लबालब संयोग-शृङ्गार। संध्या-समय चन्द्रमामें जो फीकी लाली आ गयी है कवि उसे उत्प्रेक्षा भरे नयनोंसे देखकर कहता है—वह चन्द्रमाका अनुराग है। अनुरागी चन्द्रमाने निशा-नायिकाके चंचल तारा वाले मुख-मण्डलको इतने अनुरागसे छुआ है कि, रात्रि स्नेहमें विभोर हो गयी है। उसने (निशाने) जो अन्धकाररूपी वस्त्रको पहन रखा था, वह उसके आगेसे ही खिसक रहा है; पर उसे खबर नहीं। मधुर शब्दोंमें कितना सुन्दर प्राकृतिक वर्णन है?

"पाणौ पद्मधिया मधूकमुकुलभ्रान्त्या तथा गण्डयोः।
नीलेन्दीवरशंकया नयनयोर्बन्धूक-बुद्ध्याधरे॥
लीयन्ते कबरीषु बान्धवजनव्या मोह—बद्धस्पृहाः।
दुर्वारा मधुपाः कियन्ति सुतनु! स्थानानि रक्षिष्यसि॥

हे; सुकुमारि, भला तुम कितने अंगोंको बचा ओगी? ये हठीले भौंरे क्या तुम्हारा पीछा करना छोड़ देंगे? तुम्हारे हाथ कमल जैसे हैं, महुएकी कली जैसे गाल हैं, नीले कमलसे नयन हैं और बन्धूकपुष्प सरीखे अधर हैं। इन अंगोंपर तो वे मँडराते ही रहेंगे और तुम्हारे सटकारे काले-काले केशोंको वे अपना भाई बिरादर ही समझते हैं फिर, क्या तुम्हारे रोके रुकेंगे?

एक मात्र पुष्पोंसे ही सारे अवयवोंकी उपमा दी गयी है; वह भी उस समय जब कि कविको "वान्त" मिलता ही नहीं था।

एक श्लोक और लिखनेका लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता—

"निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो
मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारानिपातैः सह किन्तु वान्त-
श्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास॥"

सावनका महीना था चाँदनी रात थी चन्द्रवदनी अभिसारिका सड़क तक पहुँच चुकी थी, इतनेमें ही आकाश बादलोंसे घिर गया। बिजली चमकने लगी, पानी बरसने लगा। उसी समय मेघने जब अपने विद्युन्नयनोंसे सड़कपर अभिसारिको देखा, तब उसे सन्देह होने लगा कि, कहीं मैंने मूसलधार वृष्टिके साथ चन्द्रमाको भी तो उगल नहीं डाला? अन्यथा धरातलपर यह चाँद कहाँसे आया?

पाणिनिका एक और वर्षा वर्णन सुनिये—

'क्षपां क्षामीकृत्य प्रसभमपहृत्याम्बुसरिताम्।
प्रताप्योर्वीं कृत्स्नां तरुगहनमुच्छोष्य सकलम्॥
क सम्प्रत्युष्णांशुः गत इति समालोकनपराः।
तड़िद्दीपाऽलोका दिशि दिशि चरन्तीह जलदाः॥'

सूर्य बड़ा ही ऊधमी है। इसने बड़ा उपद्रव

मचाया है। रात्रिको एकदम कृश (छोटी) बना दिया है, नदियोंको सुखा डाला है, सारी धरित्रीमें आगसी लगा दी है और पेड़-पत्तोंको भी जला डाला है; इसलिये बरसातके राजा जलद सूर्यपर अत्यन्त क्रुद्ध हो गये हैं। वह बिजलीकी बत्ती हाथमें लेकर अपराधी सूर्यको कोने-कोनेमें ढूँढ़ रहे हैं।

२—अश्वघोष

महाकवि अश्वघोषकी वाणीमें मधुरता थी और पाण्डित्य। ये बौद्ध-दर्शनके अद्वितीय विद्वान् थे। पहले ये वेदानुयायी थे। एक शिक्षित ब्राह्मणकुलमें इनका जन्म हुआ था; किन्तु कालक्रमसे ये बौद्ध हो गये। पार्श्वके शिष्य पूर्णयशसने इन्हें बौद्धधर्ममें दीक्षित किया। इनका जन्म-स्थान अयोध्या (साकेत) था और माताका नाम था सुवर्णाक्षी। ये ईसाकी पहली शताब्दीके उत्तरार्द्ध और दूसरी शताब्दीके पूर्वार्द्धमें विद्यमान थे।

बौद्ध धर्ममें दीक्षित होनेपर अश्वघोषने बड़ी तत्परतासे बौद्ध धर्मका प्रचार किया। धर्मके गूढ़ रहस्योंको ये बड़ी ही मधुर भाषामें समझाया करते थे। इन्हें संगीत-शास्त्रका भी अलौकिक ज्ञान था। इनके व्याख्यान इतने रोचक, मधुर और आकर्षक होते थे कि, बिगड़ैल घोड़े भी उन व्याख्यानोंको सुननेके लिये मौन और स्थिर हो जाते थे। इसी कारण इनका नाम ही अश्वघोष पड़ गया।

बौद्धोंमें ये एक विद्वान तथा प्रतिष्ठित भिक्षु थे। कात्यायनी पुत्रने अभिधर्म-पिटककी टीकामें साहाय्य प्राप्त करनेके लिये इन्हें काबुल बुला भेजा था। उस अभिधर्मपिटककी महाविभाषा नामकी टीका इन्हींकी सहायतासे लिखी गयी है। महायान-सम्प्रदायको दृढ़तापूर्वक स्थिर करनेमें इन्होंने अपनी अपूर्व प्रतिभाका अद्भुत परिचय दिया है। इनके दार्शनिक ग्रन्थोंका चीनी, तिब्बती और जापानी आदि भाषाओंमें, हजारों वर्ष पहले ही, अनुवाद हो चुका है।

पहले ये पाटलिपुत्र में रहकर ही धर्म-प्रचार किया करते थे; किन्तु जब कनिष्कके द्वारा पाटलिपुत्र विजित हो गया, तब ये पेशावर चले गये और वहीं धर्मोपदेश करने लगे। कनिष्कने भी इनसे ही बौद्ध-धर्मकी दीक्षा ले ली और इन्हींके आदेशानुसार चीन, तिब्बत, मध्य एशिया और जापान आदि देशोंमें बौद्ध-धर्मके प्रचारके लिये, भिक्षुओंको भेजना शुरू कर दिया।

चीनी और तिब्बती आदि ग्रन्थकारोंने अश्वघोषको आर्यशूर और मातृचेट आदि नामोंसे लिखा है। बुद्धधर्मके इतिहासकार तिब्बती तारानाथ भी अश्वघोष और मातृचेटको एक ही व्यक्ति मानते हैं; लेकिन कितनोंके विचार इनसे नहीं मिलते। मेरा विचार भी ऐसा ही है; क्योंकि ह्वेनसांगने लिखा है कि, अश्वघोष मातृचेटका अनुकरण करते थे।

अश्वघोषके बनाये ग्रन्थोंमें बुद्धचरित, सौन्दरनन्द महाकाव्य, सूत्रालङ्कार, वज्रसूचि उपनिषद्, महायानश्रद्धोत्पाद शास्त्र और शारिपुत्र-प्रकरण नामके ग्रन्थ मिलते हैं। इनमें कई एकका मूल संस्कृत-ग्रन्थ अब बिल्कुल विलुप्त हो गया है। केवल अन्य भाषाओंके अनुवाद ही शेष रह गये हैं।

अश्वघोषकी उपमाएँ अत्यन्त विलक्षण होती हैं—मौलिक और स्वाभाविक। इनकी उपमाओंसे टक्कर लेनेके लिये, संस्कृत-साहित्यमें, केवल एक कालिदास ही उतर सकते हैं। अश्वघोषने अपनी उपमामें लिङ्ग-समताका बड़ा खयाल रखा है और चमत्कारिता तथा विलक्षणतापर दृष्टि रखकर

प्रकृति सौन्दर्यको भी उसमें घुला-मिला दिया है। बाल्मीकिका एक पद्य देखिये—

> "तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष,
> भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
> सो निश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ,
> तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः॥"

यह पद्य उस जगह लिखा गया है, जब कि भगवान् बुद्ध नन्दके महलसे बेरंग वापिस हो गये हैं और यह समाचार नन्द पा चुका है। इस दुःखद समाचारसे वह मर्माहत होकर अपनी प्रियतमासे छुट्टी लेता है वह बुद्धदेवके पास जानेके लिये तैयार होता है; किन्तु ऐशो इशरतमें जिंदगी बितानेवाला वह ऐयाशनन्द अपनी नाजनियोंकी मुहब्बतसे एक डेग भी आगे नहीं बढ़ सकता है और न पीछेकी ही ओर लौटनेकी उसकी हिम्मत होती है; क्योंकि बुद्धके ऊपर उसकी अविचल भक्ति है। उस समय उसकी दशा ठीक वैसी ही हो रही थी, जैसे तरङ्ग-मालाओंके बीच तैरनेवाले राजहंसकी होती है।

राजहंसको तरंगमाला ढकेल देती है और राजहंस तरङ्गमालाको धक्का देकर बढ़ना चाहता है। इस संघर्षका नतीजा यह निकलता है कि, राजहंस स्थिर भावसे एक ही जगह ठहरा हुआ मालूम पड़ता है। यहाँ नन्दके साथ राजहंसकी उपमा खूब फबती है। प्रकृतिके सौन्दर्यकी सुकुमार छबिसे मनोविज्ञानको, बड़ी उत्तमतासे, कविने समझाया है। कविकुल गुरु कालिदासने भी कुमारसम्भवमें इसी आशयका एक श्लोक लिखा है—

> "मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः।
> शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥"

उत्प्रेक्षाकी बहारमें अश्वघोषका एक पद्य देखिये—

> "तस्या मुखं पद्मसपत्नभूतं,
> पाणौ स्थितं पल्लवरागताम्रे।
> छायामयस्याम्भसि पङ्कजस्य,
> बभौ नतं पद्ममिवोपरिष्टात्॥"

कविके धार्मिक उपदेश भी कितने चोखे होते हैं। इसका भी जरा अन्दाजा लगाइये। कवि निर्वाण-तत्त्वको समझा रहे हैं।—

> "दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
> नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
> दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्,
> स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
> तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो,
> नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
> दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्,
> क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥"

निर्वाणके गूढ़ तत्त्वको कवि दीपकके द्वारा समझा रहे हैं। दीपकी शिखा जब निवृत्त हो जाती है, तब वह न तो पृथ्वीमें, न अन्तरिक्षमें, न किसी देश-विदेशमें जाती है; बल्कि तेलके अभावसे ही शान्त होती है। मनुष्योंकी दशा उसी प्रकार है। मनुष्योंका निर्वाण भी केवल क्लेशक्षयसे ही होता है। लोगोंमें जो यह गलतफहमी फैली हुई है कि मृत्युके बाद मनुष्य किसी अनिर्वचनीय लोकमें जाकर निर्वाण पाता है, उसका कविने कितना सुन्दर विरोध किया है। बात भी सही है।

अध्यात्मवादके उत्कृष्ट विद्वान् और धार्मिक प्रवृत्तिवाले अश्वघोष सच्चे शूरकी व्याख्या करते हैं—

> "तथा हि वीरा पुरुषा न ते मता,
> जयन्ति ये साश्वरथद्विपान् नरान्।
> यथा मता वीरतरा मनीषिणो,
> जयन्ति लोलानि षडिन्द्रियाणि ये॥"

अपने पराक्रमसे हाथी, घोड़े और मनुष्यों पर विजय पानेवाले लोग सच्चे शूर नहीं कहला सकते। शूर तो वे विद्वान् हैं, जो चञ्चल इन्द्रि-

योंको अपने वशमें कर लेते हैं। दूसरोंको वशवर्ती बनानेकी अपेक्षा अपने ऊपर विजय पाना ही कहीं उत्तम है।

शरीरकी विरूपताके सम्बन्धमें भी इनकी एक सूक्ति सुनिये—

"यथा मयूर चलचित्रचन्द्रको,
विभर्ति रूपं गुणवत् स्वभावतः।
शरीरसंस्कारगुणादृते तथा,
बिभर्षि रूपं यदि रूपवानसि॥
यदि प्रतीपं हृणुयान्न वाससा,
न शौचकाले यदि संस्पृशेदपः।
मृजा विशेषं यदि नाददीत वा
वपुर्वपुष्मन्! वद कीदृशं भवेत्॥"

सुन्दर गोलक—चन्द्रतारक—युक्त पक्ष धारण करनेवाले मयूर सहज सुन्दर हैं। उन्हें कृत्रिम वस्तुओं द्वारा सौन्दर्य बढ़ाना नहीं आता है। मनुष्य तो गुह्य अङ्गोंको सदा कपड़ेसे ढके रहते हैं, शौचके अनन्तर उन्हें शुद्ध करते, सदा बने-ठने रहते हैं। कृत्रिमतासे नैसर्गिक सौन्दर्यका विनिमय नहीं हो सकता। कालिदासने भी एक जगह कुछ ऐसा ही कहा है—

"किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।"

यों तो अश्वघोषने नवो रसोंपर कलम उठायी है, लेकिन सफलता इन्हें करुण और शान्त रसके वर्णनमें ही मिली है। बुद्ध-चरितका आठवाँ सर्ग करुण रसमें शराबोर है। सौन्दरनन्द महाकाव्यमें भी वियोगिनी रानीका विलाप बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। पढ़कर पाषाण-हृदय भी रो देगा। शृङ्गार-वर्णनके समय भी कवि अपना सानी नहीं रखते; लेकिन सबसे अधिक बहार शान्त रसकी है। इनकी कवितामें प्रवाह है और प्राञ्जलता। कृत्रिमता तो ढूँढ़े भी नहीं मिलती।

३—विज्जका

कवयित्री विज्जका या विज्जाका, अपनी प्रौढ़ प्रतिभाके बलपर किसी भी पुरुष कविसे हाथ मिलाती हुई आगे बढ़ जाती है। इसे अपनी विद्या और प्रतिभाका अमित गर्व है। शार्ङ्गधर-पद्धतिके इस पद्यसे विज्जकाका गर्व-संकुल हृदय अनायास ही व्यक्त हो जाता है। यह पद्य काव्यप्रकाशकी बालबोधिनी-टीकामें भी आया है—

"नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती॥"

"सर्वशुक्ला सरस्वती" दण्डिकृत काव्यादर्शके मङ्गलाचरणका चतुर्थ पाद है। दण्डी सरस्वतीको शुक्ल बताते हैं; किन्तु विज्जका दण्डीको डाँट बताती है और कहती है, नीले कमलके पत्तेके समान श्यामल शरीरवाली विज्जकाको क्या दण्डी नहीं जानते, जो सरस्वतीको सर्वशुक्ला कहनेकी हिम्मत करते हैं?

बात सोलहो आने सही है। प्रतिभा या पाण्डित्य किसी जाति-विशेष या वर्गविशेषकी वशवर्तिनी नहीं। प्रत्येक युगमें भी स्त्रियोंने अपनी करामात दिखाकर पुरुषोंके दाँत खट्टे किये हैं। वैदिक कालमें विश्ववारा, घोषा और शची आदि विदुषी स्त्रियाँ सूक्त-पर-सूक्त रचकर पुरुषोंसे बातें करती थीं। गार्गी और भारतीसे बड़े-बड़े विद्वान् पनाह माँगते थे। विकटनितम्बा और महारानी तिरुमलाम्बाकी कवित्वशक्ति देखकर विद्याके दिग्गज दाँतों तले अँगुली दबा लेते हैं। आज भी श्रीमती महादेवीजी वर्माकी कविताओंका कौन कायल नहीं है? महाकवि राजशेखरने काव्य-मीमांसामें लिखा है—

"पुरुषवत् योषितोऽपि कवीभवेयुः। संस्कारो ह्यात्मनि समवैति न स्त्रैणं पौरुषं वा विभाग मपेक्षते।"

विज्जकाके सम्बन्धमें आधुनिक पण्डित बड़ी-बड़ी अटकलें लगाते हैं। कोई इसे महारानी विजय भट्टारिका बताते हैं और कर्णाट राजप्रिया एवम् प्रमाणमें राजशेखरके इस श्लोकको पेश करते हैं—

'सरस्वतीव कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या विदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम्।'

और इस श्लोकांशको भी उसीका बनया बताते हैं।

"ऐषां मूर्ध्नि ददामि वामचरणं कर्णाटराजप्रिया।"

लेकिन इस कर्णाटकी कार्णाटी विजयाका कविताकाल ७ वीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध माना जाता है और विज्जका दण्डीके अनन्तर हुई थी ८ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्ध में। जो हो; लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि, विज्जकाका जन्म भी किसी दाक्षिणात्य देशमें ही हुआ था।

संस्कृत-साहित्यमें कितनी ही लेखिकाओंका वर्णन मिलता है। कुछकी रचनाएँ अलङ्कार-ग्रन्थोंमें उद्धृत हुई हैं और कुछकी सूक्तियाँ सुभाषितावलियोंमें ही सङ्कलित होकर रह गयी हैं; लेकिन अम्बिका-परिणय चम्पू * को छोड़कर कोई भी ग्रन्थ अविकल रूपसे आजतक नहीं मिला है। सम्भव है, कभी आगे चलकर मिले।

विज्जका प्रतिभाशालिनी कवि थी। शृङ्गार-वर्णनमें इसे कमाल हासिल था। कविनिबद्ध प्रौढ़ोक्तिमें यदि अपना अनुभव व्यक्त होता हो, तो वह सहृदयोंको बड़ा भला मालूम पड़ता है। विज्जकाके इस पद्यका संस्कृत साहित्यमें समधिक समादर हुआ है मम्मट, राजशेखर, विश्वनाथ और भानु आदि रीति-ग्रन्थकारोंने विज्जकाके ही इस पद्यको उदाहरणके लिये बार-बार चुना है—

"धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि,
विश्रब्धचाटुशतकानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रतिप्रणिहिते तु करे प्रियेण,
सख्याः! शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि॥"

केलि-मन्दिरसे लौट आनेपर नायिकाको सखियाँ तद्गत समाचार पूछती हैं वह कहती है, सखियो,वह स्त्री धन्य है,जो केलि-कालकी हुई सारी बातोंका ख़याल रख लेती है। वल्लभके करस्पर्शसे हो मैं तो आपा खो बैठती हूँ, सुध-बुध भुला जाती हूँ। तुम्हारी शपथ अगर मुझे वहाँका कोई भी बात ख्याल हो। कामिनियोंके सरस हृदयका यह कितना सुन्दर जीता-जागता उदाहरण है? इस पद्यकी निर्मात्रीकी सरसता और भावुकता सचमुच शतमुखसे प्रशंसनीय है। यह रस-भावमयी कविता कोमलमति पाठकोंके मानस-सरोवरमें आनन्दकी एक मनोमुग्धकारिणी तरंगमाला उछाल जाती है।

सहृदय विदुषी स्त्रियोंके मुँहसे कही गयी सरस कोमल, कान्तपदावली श्रोताके श्रवण-संपुटमें सुधाधाराका निसेक करती है। जरा विकटनितम्बाके इस पद्यका मुलाहिजा कीजिये—

"अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग,
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु॥
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले,
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः॥"

रे मधुकर अपने चञ्चल मनको फूलवाली किसी

* महारानी तिरुमलाम्बा द्वारा विरचित यह चम्पू १६वीं शताब्दीकी ऐतिहासिक कथापर अवलम्बित है कवयित्री महाराजा अच्युतरायकी द्वितीय पत्नी थी। कविने इसमें समासों और अनेकार्थगर्भ सुश्लिष्ट शब्द-विन्यासोंसे यह चम्पू बाणकी कादम्बरीकी पङ्क्तिमें बैठता है। म० म० पा० प० गिरधरशर्माजीके द्वारा इसका हिन्दीमें अनुवाद भी हो चुका है।

दूसरी लतामें लगा, जो तुम्हारे उपमर्दनको सह सके। मल्लिकाकी इस कालिकापर क्यों मड़रा रहा है? यह तो अभी कली है, मुग्धा है, रजोदर्शन भी नहीं हुआ है, इसे मत दुःख दे। सहृदया कवि श्लिष्ट वचनोंसे मुग्धाकी वकालत कर रही है। सचमुच, बिना सखीच्छदके विनष्ट हुए सुरतोत्सव कैसा?

वर्तिष्यमान सुरतगोपना नायिकाका वर्णन विज्जका किस प्रकार करती है। देखिये—

"दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि! क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि,
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति।
एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलम्
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः।"

हे पड़ोसिन जरा मेरे घरपर भी नजर रखना। इस बच्चेका बाप (मेरा पति) कुएँका खारापानी नहीं पीता है। क्या करूँ, पानी ले आनेके लिये सोतके पास जाना ही होगा। कोई साथी भी नहीं है, अकेले ही जाती हूँ। बच्चेको कैसे ले जाऊँगी? वह डर जायगा। मेरी ही तो दुर्दशा हो जाती है। ताल-तमालसे घिरे अन्धकारमय पथ द्वारा जानेपर कितनी हो काँटदार लतिकाएँ मेरे शरीरको छिन्न-भिन्न कर देती हैं।

मतलब यह कि, जहाँ सरल जलके सोते बह रहे हैं, वहाँ ताल-तमालके सघन वृक्षोंसे अन्धकार छाया हुआ है। दिनमें भी रात्रिका तिमिर निवास करता है। कटीली झाड़ियाँ हैं, जो अन्धकारके कारण नहीं दीख पड़ती हैं; लेकिन चुभ-चुभकर शरीर और वस्त्रका छलनी कर देती हैं। जो हो; परन्तु मुझे तो उस तिमिर-तिरोहित कण्टकाकुलित सङ्कटग्रस्त मार्गसे जाना ही होगा। उस जगह मैं, अपने सुकुमार बच्चेको नहा ले जा सकती यह यहीं रहे खेले या सो जाय। मैं तुरत लौट आऊँगी। इसी बीच अगर मेरे प्राणनाथ आ जाँय, तो उन्हें समझा देना, नहीं तो बच्चेको अकेला देखकर वे क्रुद्ध हो जायँगे। इस तरह पड़ोसिनको समझा-बुझाकर वह कुलटा संकेत स्थानमें जाकर निर्भय रमण करती है। इस छोटेसे पद्यमें विज्जकाने कितनी बातें कह डाली हैं। धन्य प्रतिभा!

विरहिणीके सम्बन्धमें भी विज्जकाकी एक सूक्ति सुन लीजिये—

"गते प्रेमाबन्धे हृदयबहुमानेऽपि गलिते,
निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः।
तदाचेवोत्प्रेक्ष्य प्रियसखि! गतांस्तांश्च दिवसान्,
न जाने को हेतुः दलति शतधा यन्न हृदयम् ॥"

हे सखि! प्रेमका बन्धन ढीला पड़ गया, हृदयसे सम्मान भी हट गया, सद्भावनाएँ मिट गयीं, मेरा प्राणप्यारा मुझे उपेक्षित करके चला गया, इतने दिन बीत गये, उसने खोज खबरतक नहीं ली; फिर भी मैं जी रही हूँ? मेरा हृदय टूक-टूक क्यों न हो जाता?

विज्जकाके इस तरहके कितने ही छिट फुट पद्य अभी भी कालके थपेड़े खाकर बच रहे हैं। उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़नेसे इस स्त्री कविके हृदयकी गहराईका पता लगता है स्वनिर्गमित मौलिक भावोंको कोमल पदावलियोंके बीच बन्दी बना लेना विज्जकाके बायें हाथका खेल था। स्वभावोक्ति-अलङ्कार लिखनेमें भी विज्जका सदा सफल होती थी। धान कूटनेवाली स्त्रियोंके वर्णनमें भी इसने एक पद्य लिखा है, जो बड़ा ही बढ़िया और स्वाभाविक है।

काश्मीरकी तरफ शीलाभट्टारिका गौरी सूरीक आदि कितनी ही कवयत्री हो चुकी हैं। शीला भट्टारिकाका एक पद्य देखिये—

"यः कौमारहरः स एव हि वरः ता एव चैत्रक्षपाः,
ते चोन्मीलितमालती-सुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ,
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥"

कौमारावस्थामें जिसके द्वारा मैं उपभुक्त हुई थी, कालक्रमसे यद्यपि वही मेरा पति हो गया है, वही चैत्रकी रात है, फूलोंकी मस्त खुशबूको लेकर बहनेवाली हवा भी वही है, वही, मैं हूँ, वही रेवा नदीका तट है; तथापि आजके सुरतोत्सवमें मेरा मन उत्कण्ठित हो रहा है । कामिनीके मनोभावोंके रहस्यका सूक्ष्म तत्त्व इस कवितामें दरसाया गया है ।

४ भास

महाकवि कालिदासके नाटकोंकी भाँति ही महाकवि भासके नाटकोंकी प्रतिष्ठा है । मालविकाग्नि-मित्र नाटककी प्रस्तावनामें स्वयं कालिदासने ही भासको प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे देखा है । हर्षचरितके प्रारम्भिक भागमें बाणभट्टने भी भासकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है । राजशेखरने लिखा है कि

"सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥
भासनाटकचक्रेऽपि छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥"

और जयदेवने भासको कविताकामिनीका हास बताया है—

"भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः ।"

भासको प्रतिष्ठित बनानेके लिये संस्कृतज्ञोंके कोड़ियों वाक्य मिलते हैं; किन्तु इनके आविर्भाव-कालके सम्बन्धमें कुछ भी कहीं नहीं मिलता है । अगर कहीं कुछ मिला भी है; तो वह विवाद-ग्रस्त है । जो कुछ भी हो, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि, ये कालिदास आदिसे भी प्राचीन हैं । बहुतोंके विचारसे तो ये पाणिनिके भी पूर्ववर्ती हैं; क्योंकि इनके प्रयोगोंकी अपाणिनीयता पाणिनिके सर्वमान्य होनेके पहले की ही बात बताती है ।

इनके रचे कुल तेरह ग्रन्थ ही अभी तक मिले हैं । प्रतिमा-नाटक, अभिषेक-नाटक, पञ्चरात्र, मध्यम व्यायोग, दूतघटोत्कच, कर्णभार, दूतवाक्य, उरुभङ्ग, बालचरित, चारुदत्त, अविमारक, प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण और स्वप्न-वासवदत्ता । इनमें दोकी कथा रामायणसे ली गयी है और पाँचकी कथा महाभारतसे एवम् बाकी नाटकोंकी कथावस्तु कुछ-कुछ ऐतिहासिक घटनासे सम्बन्ध रखती है ।

भासने ही सबसे पहले सफल नाटक लिखनेका प्रयास किया । रामायणको रङ्ग-मञ्चपर उतारनेका भी प्रशस्य श्रेय इन्हींको प्राप्त है । अपनी मौलिक तथा अनूठी कल्पना-शक्तिसे इन्होंने नाटकीय वस्तुमें वह विचित्रता पैदा कर दी है, लोग तन्मय हो जाते हैं । भासकी तरह इतने विभिन्न विषयोंपर नाटक लिख लेना, वह भी उस समय जब कि नाटकका सर्वथा अभाव हो, कुछ हँसी-खेल नहीं ।

भासके सब नाटकोंका सम्पादन त्रिवेन्द्रम-संस्कृत सीरीजके सम्पादक म० म० प० त० गणपति शास्त्रीने किया है । शास्त्रीजीको अचानक ई० १९०६ में एक साथ ही दस रूपक उपलब्ध हुए, फिर तीन नाटक और मिले । इन नाटकोंको पाकर विद्वन्मण्डली विस्मित हो गयी; परन्तु बहुतोंने यह भी बताया कि, ये सब-के-सब नाटक भासके बनाये नहीं हैं । महामहोपाध्याय स्व० पण्डित रामावतार शर्माने कहा कि, इन नाटकोंके कुछ अंश तो अवश्य ही भासकृत हैं; परन्तु शेष अंशोंकी पूर्ति किसी दूसरे केरल-पण्डितोंके ही द्वारा हुई है । शर्माजीके मतके समर्थक भी बहुतेरे विद्वान् हैं । अपने मतको पुष्ट

करनेके लिये शर्माजीने अच्छी-अच्छी युक्तियाँ दी थीं। यह बहुत सम्भव है कि, भासके नाटक नष्ट हो गये हों; और, उनके कुछ शेष अंशोंको पाकर केरलीय नाटककारोंने उन्हें भासके ही नामपर पूर्ण कर दिया हो।

नाटकोंमें स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण बहुत अच्छे उतरे हैं। नाटकीय घटनाओंका इतना सुन्दर समावेश हुआ है और इतनी अच्छी संगति की गयी है कि, कहीं भी जी नहीं ऊबता। अस्वाभाविकता और कृत्रिमताका कहीं नामोनिशान नहीं है। चरित्र-चित्रणमें भी भास अपना एक खास स्थान रखते हैं। इनके छोटे-छोटे वाक्य अनमोल भावोंसे भरे रहते हैं। सरलताके ये पूर्ण पक्षपाती हैं। कलम लेकर कविता करना इन्हें नहीं आता था; इसीलिये इनकी रचनामें स्वभावोक्ति कूट-कूटकर भरी हुई है।

इस पद्यको पढ़िये—

"विस्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया,
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः।
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो,
निःसन्दिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः ॥"

तपोवन होनेके कारण विश्वाससे विना चकित हुए हरिण चर रहे हैं। वृक्षोंकी शाखाएँ फल-फूलोंसे लदी हैं। ऋषियोंकी इनके ऊपर दया है। कपिल वर्णकी गौएँ विचर रही हैं। खेतोंका कहीं नामोनिशान नहीं है। धुएँ चारो तरफसे निकल रहे हैं। निश्चय ही यह तपोवन है। विश्राम पानेकी इच्छा रखनेवाले एक पथिक विद्यार्थीकी यह उक्ति है।

भासने चन्द्रकलाको लेकर भ्रान्तिमान् अलङ्कारका कितना सुन्दर वर्णन किया है—

'कपाले मार्जारः पय इति करान् लेढि शशिनः,
तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी संकलयति।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताप्यंशुकमिति,
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति।"

चन्द्रकी निर्मल कान्तिको कपालपर देखकर बिल्ली उसे, दूध जानकर, चाटने लगती है, वृक्षके छिद्रोंसे आयी हुई रोशनीको कमलनाल समझकर हाथी सूँड़ बढ़ा देता है, रतान्तमें कपड़ेके धोखेसे कामिनी चन्द्रकलाको टटोलती है। यानी प्रभामत्त चन्द्र संसारको एक बार ही भ्रान्त बना देता है।

"खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः,
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचलति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च संक्षिप्तकिरणो,
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम् ॥"

तपस्वियोंके निकेतनमें सन्ध्या आयी है। विहंगम घोसलेमें चले गये, मुनिजन स्नान करनेके लिये पानीमें पैठ चुके; अग्निहोत्रके लिये वह्नि प्रज्वलित हो गया; धुआँ मुनिवनमें घूमने लगा। अपनी किरणोंको समेटकर और रथको लौटा कर सूर्य भी धीरे-धीरे अस्ताचलकी ओर जा रहे हैं। सन्ध्याकालका यह कितना सुन्दर नैसर्गिक वर्णन है?

रवीन्द्रनाथ

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी

जिसने अपनी प्रखर प्रतिभासे उपेक्षित भारतीय संस्कृतिको आलोकित किया है, जिसने अपने बुद्धि-बलसे संसारको चकित कर दिया है, जिसने अपनी मनीषासे संसारको नया आलोक दिया है, जिसने अपने रचना-कौशलसे द्वन्द्व और असामञ्जस्यको पराभूत किया है, उसी महापुरुषने अपने जीवनको भी एक सुन्दर काव्यकी भाँति रचा है। रवीन्द्रनाथने काव्य लिखा है, उपन्यास रचे हैं, नाटक लिखे हैं, गीत बनाये हैं, नृत्य भङ्गी और नाट्य-कलाको जीवन दिया है, धर्म और दर्शनकी गुत्थियाँ सुलझायी हैं, राष्ट्रियता और अन्तारा-ष्ट्रियताके तत्त्व समझाये हैं। किन्तु उनकी सबसे बड़ी रचना है उनका जीवन। उनके नाटकोंकी तरह उनके जीवनमें एक ऐक्य है, एक साम-ञ्जस्य है। वह असम्बद्ध नहीं है। अन्तर्विरोध-सम्पन्न नहीं है। असङ्गति-बहुल नहीं है। वह एक ऐसी रचना है, जिसमें कलाकारका यत्न है, नाटककारकीसंगति है, कविका सौन्दर्य है, गायक-का समत्व है।

अपने पिता स्व० देवेन्द्रनाथ ठाकुरसे ही रवीन्द्र-नाथने महत्त्व और सामञ्जस्य-दृष्टि पायी है। उन दिनों ठाकुर परिवारमें प्राचीनता और सामयि-कताका समन्वय हो चुका था। धर्म-कर्म, त्याग-भोग, कला-विद्या, ज्ञानविज्ञान, गीत-वाद्य आदि सारी बातोंमें ठाकुर-परिवार समृद्ध था। उसके लिये किसी बाहरी सहायताको आवश्यकता नहीं थी। इसी महापरिवारमें रवीन्द्रनाथकी बाल्य और कैशोर-अवस्था बीती।

रवीन्द्रनाथकी शिक्षा घरपर ही हुई है। स्कूलमें इन्होंने बहुत कम दिनोंतक अध्ययन किया है।

१७ वर्षकी कोमल अवस्थामें जब रवीन्द्रनाथ विला-यत यात्राकी तैयारी करते हैं, तब उनके जीवनके दूसरे रहस्यका उद्घाटन होता है। उस समय लोग समुद्र-यात्राको महापाप समझते थे। लेकिन बाह्य-जगत्का ज्ञान प्राप्त करना रवीन्द्रनाथने नितान्त आवश्यक समझा। पृथ्वीमें आकर भी पृथ्वीसे घनिष्ठ परिचय न पाना कितना कष्टकर है! यही सब सोचकर रवीन्द्रनाथने, बैरिस्टरी पास करने, विलायतकी यात्रा कर दी। लेकिन बैरि-स्टरीकी शुष्क पढ़ाईमें कवि-हृदय नहीं रमा।

जमींदारकी दृष्टिसे भी रवीन्द्रनाथकी गणना, अच्छे जमींदारोंमें की जा सकती है। जमींदार होनेमें दो गुण हैं—शाहाना मिजाज और अन-र्गल गाली-प्रदान। रवीन्द्रनाथने पहला गुण पाया है, दूसरा उनके भाग्यमें नहीं। रवीन्द्रनाथका हृदय राजाका हृदय है—उदार, दयालु, विशाल। उनकी तबीयत बादशाही है—सुकुमार, शानदार, मस्त। इसका फल यह हुआ कि दीन और दरिद्र नाम सुनकर ही जिस कविकी आँखें बरसने लगती हैं, हृदय पिघल पड़ता है, उसकी गल-दश्रु भावुकता और रुग्ण आदर्श रवीन्द्रनाथमें नहीं है। परोपकार करना या करनेकी इच्छा भी अनुचित है, यदि उससे दूसरेके सम्मान और प्रतिष्ठामें बट्टा लगता हो। वे उस कंगाल-भोजके सर्वथा विरुद्ध हैं, जिसमें मनुष्य हीन-

ताके पर्वतपर खड़ा होकर दाताकी कीर्ति प्राप्त करना चाहता है। यह दरिद्रोंकी सेवा नहीं है, और कुछ है। रवीन्द्रनाथ प्रदर्शन-मात्रको बुरा समझते हैं। फिर जिस प्रदर्शनमें मनुष्यकी हीनताको तूल दिया गया हो, वह उन्हें कैसे पसन्द आ सकता है? पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वे दरिद्रताको उन्मूलित नहीं करना चाहते। जहाँ अपमान है, जहाँ लाञ्छना है, जहाँ हीनता है, वहाँ उनका कवित्व वज्र तैयार है।



कवीन्द्र रवीन्द्र

प्रायः देखा जाता है कि जो लोग बाहरी दुनियामें बहुत सफल दृष्टिगोचर होते हैं, वे भी घरमें असफल होते हैं। गृहस्थ रवीन्द्रनाथ इस नियमके अपवाद हैं। अपने घरेलू पत्रोंमें उन्होंने, इस सम्बन्धमें, जो कुछ लिखा है, वह अब भी प्रकाशित नहीं हुआ। पर जो कुछ भी प्रकाशित हुआ है, वह उस जीवनके सामञ्जस्य Harmony को प्रकाशित करनेके लिये पर्याप्त है। इन चिट्ठियोंको भी रवीन्द्रनाथने बड़े यत्नसे, कवि भाषामें, लिखा है। बहुत मामूली बातोंको भी वे सुन्दर किये बिना नहीं रहते।

इन दिनों रवीन्द्रनाथ अधिकतः पद्माके तीरपर निर्जन प्रान्तमें दिखाई देते हैं। प्रकृतिसे निकटतम योग होनेके कारण वे ग्रामको शहरकी अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं। गाँवमें उनका प्रधान आकर्षण है प्रकृति। शहरसे प्रकृतिका सौन्दर्य हृदयङ्गम नहीं किया जा सकता। रवीन्द्रनाथ जन्मसे प्रकृति-प्रेमी हैं। ग्यारह वर्षकी छोटी अवस्थामें ही जब वे पहली बार शहर छोड़कर हिमालयपर गये, तब ही वे प्रकृतिके साथ घनिष्ठ भावसे मिल गये। इस आनन्दोच्छ्वाससे उनकी "जीवनस्मृति" भरी पड़ी है। एक जगह वे लिखते हैं—

"मैं जहाँ रहता था, उसकी एक अधित्यकामें विस्तीर्ण 'देवदारुवन' था। उसी वनमें अपनी लौह फलकवाली लाठी लेकर मैं प्रायः अकेला ही घूमने जाया करता था। वनस्पतियाँ विशालकाय दैत्योंके समान बड़ी-बड़ी छाया लेकर खड़े रहते थे। ओह कितने वर्षोंका विपुल-प्राण था उनका! किन्तु यह उस दिनका पैदा हुआ मानव

शिशु बिना किसी सङ्कोचके उनके पास घूम रहा है। वे एक बात भी नहीं कह सकते। उनकी छायामें प्रवेश करते ही मैं मानों एक विशेष स्पर्श पाता! मानों सरीसृपके शरीरकी तरह उसमें एक शीतलता हो। वनतलकी शुष्क पत्रराशिपर छाया और आलोकका पर्याय मानों किसी प्रकाण्ड आदियुगी सरीसृपके शरीरकी विचित्र रेखा-सी मालूम पड़ती थी।"

युवावस्थामें रवीन्द्रनाथने स्वदेशी आन्दोलनमें भाग लिया और उसे अपनी ओजमयी वाणीसे अपूर्व शक्ति दी। रवीन्द्रनाथके "घरे-बाहरे" उपन्यासमें उस युगका सुन्दर चित्र अंकित है। "घरे बाहरे"को उपन्यास कहना सत्यको कुछ कम करके कहना है। चिन्ताकी वह विशाल धारा है। आज जिन लोगोंने स्वदेशोद्धारके महाव्रतको स्वीकार किया है, उन्हें इसे अवश्य देखना चाहिये। रवीन्द्रनाथने उस युगमें अपनी एकान्त साधना छोड़कर सबके साथ योग दिया था। उन दिनों स्वदेश-सेवाका ऐसा कोई अंग नहीं था, जिसपर उन्होंने कलम न चलायी हो। क्या धर्म, क्या समाज, क्या राजनीति, क्या साहित्य, क्या सङ्गीत सर्वत्र ही उनकी प्रतिभा पहुंची थी। पर शीघ्र ही उन्हें मालूम हुआ कि, यह मार्ग उनका नहीं है। वे उससे अलग हो गये।

स्वदेशी आन्दोलनकी आवाज उठनेके पचास वर्ष पहलेसे ही ठाकुर-परिवार स्वदेशी शिल्प और संस्कृतिका प्रधान आश्रय था। रवीन्द्रनाथने उन दिनों स्वदेश-प्रेमियोंके सामने स्वदेशी प्रेमका जो मन्त्र दिया था, वह सामयिक होकर भी चिरन्तन था, सार्वभौम था। उसकी महिमा आज भी अक्षुण्ण है और जिस दिन भारतवर्ष आत्म-शासन और आत्म-शिल्पसे समृद्ध होगा, उस दिन भी ज्यों-का-त्यों रहेगा। उन्होंने बताया था कि, हमें स्वदेशीसे इसलिये प्रेम नहीं करना चाहिये कि, हम स्वदेशमें जनमे हैं; बल्कि इसलिये कि, हमने तन और मनसे स्वदेशकी सृष्टि की है। उन दिनों यह सत्य समझा नहीं गया था। आज कुछ-कुछ समझा जा रहा है।

राजनीतिसे हटते ही रवीन्द्रनाथ स्वकर्म क्षेत्रमें आये। स्वदेशको गढ़ना होगा, उसे नये सिरेसे रचना होगा। इसी उद्देश्यसे उन्होंने शान्ति-निकेतनमें विद्यालयकी प्रतिष्ठा की। रवीन्द्रनाथ इस विद्यालयकी स्थापना करके रातों-रात देशको उन्नतिके शिखरपर बैठा देनेका संकल्प नहीं रखते। यद्यपि उन दिनों राष्ट्रिय विद्यालयोंकी प्रतिष्ठा होने लग चुकी थी; पर यह विद्यालय अपनी कोटिका एक ही था। इसका उद्देश्य देशकी निरक्षरता दूर करना नहीं था, रुपया कमानेका व्यवसाय सिखाना भी नहीं था; और, न सेवा या स्वाधीनताके उपयुक्त कार्यकर्ता बनाना ही था। रवीन्द्रनाथ जानते थे कि, ये समस्याएँ सामयिक हैं, इस विद्यालयकी प्रतिष्ठा हुए बिना भी ये दूर हो जायँगी। समयके प्रचण्ड प्रवाहमें न तो निरक्षरता टिकेगी और न साहित्यिक उन्मादकी विपुल व्यर्थता। इसका उद्देश्य था जीवनकी सर्वाङ्गीणताके प्रति दृष्टि रखकर पूर्ण मनुष्य बनाना। आक्षर-शिक्षाके साथ ही नृत्य-गीत, खेल-क्रीड़ा आदि भी इसमें अवश्य अध्याप्य विषय थे। एक समालोचकने कहा है कि, "यदि संसारके सभ्य समाजसे किसी दिन यह बद्धमूल संस्कार दूर हो जाय कि आक्षर-शिक्षा ही बालकका एक मात्र कर्तव्य है, तो रवीन्द्रनाथको उनका देश और संसार कुछ और अच्छी तरह समझेगा।"

हम जिन दिनोंकी बात कर रहे हैं, उन दिनों रवीन्द्रनाथ बंगालमें खूब प्रतिष्ठित कवि समझे जाने लगे थे। नाना प्रकारकी रचनाओंसे उन्होंने बँगला

वाङ्मयको अलङ्कृत करके समृद्ध कर दिया था। उनकी रचनाओंके पक्ष और विपक्षमें तरह-तरहकी बातें सुननेमें आने लगी थीं। वे स्वयं कहते हैं—

"इन्हीं दिनों काव्य-समालोचकोंके बीच मेरे सम्बन्धमें एक आवाज उठने लगी थी कि, मैं टूटे-फूटे छन्दों और आधी-आधी भाषाका कवि हूँ। मेरा सब कुछ धुआँ-धुआँ या छाया-छाया-सा है। मेरे लिये यह बात जितनी ही अप्रिय क्यों न हो, पर अमूलक नहीं थीं। बाल्यकालसे ही जिस प्रकार लोक-संश्रयसे बहुत दूर रहकर और सीमाबद्ध होकर मैं बड़ा हुआ था, उससे लिखनेका यथार्थ सम्बल मैं कहाँसे पाता? पर एक बात मैं नहीं मान सकता। वे जब मेरी रचनाओंको धुँधली बतलाते, तब साथ-ही-साथ व्यक्त या अव्यक्त भावसे यह व्यङ्ग भी कर देते कि—वह मानों एक फैशन है। जिसकी अपनी दृष्टि अच्छी है, वह किसी युवकको चश्मा पहनते देखकर बहुत बार क्रोध किया करता है और समझता है कि, चश्मेको वह अलंकारकी भाँति व्यवहार करता है। वह बेचारा आँखसे कम देखता है। यह अपवाद स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु कम देखनेका भान करता है, यह कहना कुछ अधिक हो जाता है।"

इन्हीं दिनों रवीन्द्रनाथके परिवारमें कितनोंकी मृत्यु हो गयी। कविपर इसका बड़ा दुःखजनक प्रभाव पड़ा। पर इन्हीं दुःख-गाथाओंके शीशेमें उन्हें अपनी वास्तविक प्रकृतिका परिचय मिला। उनके उत्तम ग्रन्थ इसी समय लिखे गये। इस दुःखका क्या परिणाम हुआ, यह उन्हींके मुखसे सुनिये—

"तो भी इस दुःसह दुःखके भीतरसे मेरे मनमें एक आकस्मिक आनन्दकी हवा प्रतिक्षण बहने लगी। उससे मुझे स्वयं आश्चर्य्य होने लगा। जीवन एकदम अविचलित निश्चित नहीं है, इस दुःखके संवादसे ही मनका भार हलका हो गया। मैं इस विचारसे भीतर-ही-भीतर उल्लासका अनुभव करने लगा कि, मैं निश्चल सत्यके पत्थरसे बनी हुई दीवारके अन्दर सर्वदाके लिये बैठा नहीं। जो मेरा था उसे छोड़ना पड़ा। इसे नुकसानकी ओरसे देखकर जिस प्रकार दुःखी हुआ था, अब उसी प्रकार उसे मुक्तिकी ओरसे देखकर एक उदार शान्तिका भी अनुभव करने लगा। संसारका विश्वव्यापी अति विपुल भाव जीवन और मृत्युके हरण-पूरणमें अपने आपको सहज ही नियमित करके चारों ओर केवल प्रवाहित हो रहा है। वह भारबद्ध होकर किसीको दबा नहीं देगा—जीवनका दौरात्म्य किसीको सदा नहीं ढोना होगा—यह बात आश्चर्यजनक नये सत्यकी तरह मैंने उस दिन पहले-पहल उपलब्ध किया।"

उन दिनों इस शोक और उसके इस परिणामका विचित्र प्रभाव उनके जीवनपर पड़ा था। न खानेकी चिन्ता है, न सोनेकी। "कुछ दिनोंतक, मेरा शयन था तितल्लेका बाहरी बरामदा—शीतमें भी वर्षामें भी, बदलीमें भी। वहाँ आकाशकी ताराओंसे मेरी देखा-देखी होती और प्रभातके आलोकके साथ भी मेरे साक्षात्कारमें कोई विलम्ब न होता।

"मकानकी छतके ऊपर अकेले गंभीर अन्धकारमें मृत्युराज्यकी किसी एक चूड़ाके ऊपरकी एक ध्वजा और उसके काले पत्थरके तोरण द्वारपर अंकित कोई एक अक्षर या चिह्न देखनेके लिये मैं मानों सारी रात अन्धेकी भाँति दोनों हाथ हिला-हिलाकर घूमा करता था। सबेरे जब बाहरमें बिछाये हुए मेरे उस बिछौनेपर प्रभातका प्रकाश आ पड़ता, तब आँख खोलकर ही देखता कि, मेरे मनके चारों ओरका आवरण स्वच्छ हो आया है। कुहरा दूर हो जानेपर जैसे पृथ्वीकी नदी, पहाड़, जंगल चमक उठते हैं, जीवनालोकका प्रसारित चित्र

मेरी आँखोंमें उसी प्रकार शिशिर-सिक्त, नवीन और सुन्दर होकर दिखाई पड़ता ।"

अबकी बार कवि दूसरी बार विलायतके लिये रवाना हुए । शरीर अस्वस्थ था। उनके भतीजे अवनीन्द्रनाथ (प्रख्यात चित्रकार) ने अपने एक अंग्रेज कलाकार मित्रको पत्र लिखा दिया कि, "मेरे काका आ रहे हैं । ये मेरे देशके कवि हैं। इनकी खबर लेते रहियेगा ।" ये चित्रकार और कोई नहीं, 'रोथेन्स्टाइन' थे । अस्वस्थ अवस्थामें भी रवीन्द्रनाथ कुछ नयी बात लिखना चाहते थे । डाक्टरोंने मना कर दिया । इधर रोथेन्स्टाइनकी इच्छा थी कि, वे उस भारतीय कविकी कविताका कुछ स्वाद लें । रवीन्द्रनाथ अपनी कविता पढ़ते और उसका अनुवाद उन्हें सुनाते । दो-एक कविता सुनकर ही पारखी कलाकारने कविकी गहराईका अनुमान कर लिया और एक दिन विख्यात कवि 'येट्स'के साथ उनके पास पहुँचा। अब तो कुछ अंग्रेज सहृदयोंको उनकी सुन्दर कविता सुननेका चस्का लग गया । उन्हें सुनानेके लिये रवीन्द्रनाथ पहलेसे ही दो-चार कविताओंका अँग्रेजीमें अनुवाद कर लिया करते थे । यही "गीताञ्जलि"के जन्मकी कहानी है । "येट्स"ने इन टूटहे अनुवादोंको इंडिया सोसायटीकी ओरसे प्रकाशित करवाया । बस, इंगलैंडके साहित्य-संसारमें एक तूफान आ गया । जिसने देखा, वही दाँतों तले अँगुली दाबकर रह गया । और, एक दिन संसारका सबसे बड़ा पुरस्कार—"नोबेल प्राइज" उसी टूटहे अनुवादपर मिला ।

संसारने रवीन्द्रनाथकी जैसी पूजा की, जो आदर किया, वह संसारके किसी जीवित कविको नसीब न हुआ । कोई ऐसा देश नहीं है, जो अपनेको सभ्य और सुसंस्कृत समझता हो और रवीन्द्रनाथकी चरण-धूलिके लिये व्याकुल न हुआ हो । ऐसी साहित्यिक भाषा संसारमें शायद ही मिले, जिसमें उनकी कविताओंका अनुवाद न हुआ हो ।

सन् १९१४ का यूरोपीय महायुद्ध संसारकी एक बड़ी घटना है । कहते हैं भगवान् बुराईसे भलाईको पैदा किया करते हैं । महायुद्ध शैतानका नंगा नाच था । इस महायुद्धके विरुद्ध सर्वप्रथम रवीन्द्रनाथने आवाज उठायी थी । उन्होंने उस राष्ट्रियताके विरुद्ध सारी शक्ति लगाकर प्रचार किया, जो मनुष्यत्वकी शव चितापर बैठकर भी अपनी कराल जिह्वासे जगत्को ग्रस रही है। उन्होंने इंगलैण्डकी भी परवा न की, फ्रांसकी मुंह-देखी भी न कही और न जापानकी आलोचना ही छोड़ी । नतीजा यह हुआ कि उस समय रवीन्द्रनाथ संसारके सबसे अप्रिय व्यक्ति हो गये; पर महापुरुष अप्रियताकी परवाह नहीं करते । अन्तमें जब महायुद्धका भयानक नशा उतारा, तब संसारने देखा, कविने ठीक ही कहा है।

रवीन्द्रनाथ आज बंगालके ही नहीं, बल्कि संसारके कवि हैं। यह भारतवर्षका और उससे भी अधिक बंगालका अहोभाग्य है कि उसे ऐसे महापुरुषको जन्म देनेका संयोग मिला है। आज रवीन्द्रनाथको पाकर यह युग, यह देश, यह काल धन्य हो गया है।

मीराबाई

अध्यापक श्रीयुत लक्ष्मीप्रसाद मिश्र

ऐसा कौन पढ़ा-लिखा हिन्दू होगा, जो परम भक्त मीराका नाम नहीं जानता हो। मीराका नाम जबानपर लाते ही हृदयमें एक तरङ्ग उठती है और हृदय प्रेम-जलसे प्लावित हो जाता है। अनेक बार हृदयमें वीणा-वादन होता रहता है और वही मनोहारिणी मूर्तिका दिव्य-दर्शन होता है; जिसे मीराने पाया था।

"मेरो तो गिरिधर गुपाल दूसरो न कोई।"

इस पंक्तिमें कितनी मधुरता एवं भक्ति-रस है। मीराने अपना सर्वस्व न्यौछावर करके संसारके कल्याण-कारी गिरिधरलालजीको पा लिया था। उसका वह अपूर्व त्याग; अलौकिक प्रेम और अद्भुत संकीर्तन ही योगी कृष्णको पा सकनेमें समर्थ हुआ

मीराके जन्म-कालका ठीक ठीक पता नहीं लगता; तो भी हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि. उसका जन्म संवत् १५५८ विक्रम (सन् १५०१) में, मारवाड़की मरुभूमिके कुड़की नामक ग्राममें, हुआ था। मीराके पिता मेड़तिया राठौर थे। उनका नाम रत्नसिंह था। इसकी माताके विषयमें इतिहाससे इतना ही पता चलता है, कि वे इसे बाल्यकालमें ही छोड़कर परलोक सिधारी थीं।

एक दिन पड़ोसमें एक कन्याका विवाह होते देखकर मीराने मातासे पूछा—"माँ, मेरा दूल्हा कौन है? माताने हँसकर गिरिधरकी ओर उँगली उठा दी। कुछ भी हो; मातृ-वियोगके पश्चात् इसके दादा दूदाजीने इसे अपने पास मेड़ते बुला लिया और वहीं इसका लालन-पालन हुआ। राव दूदाजी परम वैष्णव और चतुर्भुजके अनन्य भक्त थे। उनके पास रहनेसे भगवद्भक्तिमें मीराको, बचपनमें ही, विशेष रुचि उत्पन्न हो गयी। कहते हैं, एक बार एक साधु मीराके पिताके घर ठहरा था। उसके पास गिरिधरजीकी एक सुन्दर मूर्ति थी, जिसे बाल हठ करके मीराने प्राप्त किया था। यह मूर्ति उसे बड़ी प्यारी हो गयी थी। बचपनका यह खिलौना ही आगे चलकर उसकी प्रेम-भक्तिका स्वरूप बना। यही गिरिधरकी मूर्ति "मीराके प्रभु गिरिधर नागर" में परिवर्तित हुई।

दूदाजीकी मृत्युके १ वर्ष बाद संवत् १५७३ में वीरमजीने शिशोदिया कुलावतंश हिन्दू सूर्य महाराजा साँगाके ज्येष्ठ कुँवर भोजराजके साथ मीराका विवाह कर दिया। बिदाईके समय सभी लड़कियाँ अपनी-अपनी चीज अपने साथ ले जाना चाहती हैं। मीरा भी अपने गिरिधरलालको साथ लेती गयी चित्तौड़ पहुँचकर वह अपने स्वामीकी सेवामें लगी; लेकिन उसका मन भगवद्भक्तिसे तनिक भी विचलित न हुआ।

श्वसुर-गृहमें पहुँचकर सासले मीराकी अनबन हो गयी। इसका कारण यही था कि, सासने इसे गौरी पूजन करनेके लिये बाध्य किया, लेकिन मीराने साफ जवाब दे दिया—

"नहिं हम पूजा गौरज्याजी, नहिं पूजां अनदेव।
परम सनेही गोविन्दो, थे काई जानों म्हारो भेव।"

पति-गृहमें आनेपर कुछ दिनों तक मीराकी सास-ससुरसे अनबन रही। लेकिन मीराके विधाता वाम थे। कुछ वर्षोंकी पति-सेवाके उपरान्त उसे

फिर वैधव्य दुःख भी झेलना पड़ा और इसके दो वर्षोंके बाद उसपर दूसरा वज्र-प्रहार हुआ कि संवत् १५८४ में बाबरके विरुद्ध लड़ते हुए, खानवेके रण-क्षेत्रमें, उसके पिता रत्नसिंह काम आये; और, कुछ ही महीनोंके बाद राणा साँगा भी परलोक सिधारे। इन सब अपशकुनोंका दोषारोपण मीरापर ही हुआ।

कुछ काल व्यतीत होनेपर मीराका श्रीकृष्णमें इतना प्रेम हुआ कि, वह चौबीसो घंटे उनकी अराधना, सेवा, पूजन और संकीर्तन करने लगी। उस समय वह खुद पद-रचना भी करने लगी थी। जब वह स्व-रचित सुन्दर पदोंको भगवान्‌के सामने गा-गाकर सुनाती; तब मानों प्रेमका सागर उमड़ पड़ता था। उसके गीतोंको सब बड़े ही प्रेमसे श्रवण करते थे। कई एक तो उसीके साथ भक्ति-भावसे गाने भी लगते थे। मीरा प्रभुके ध्यानमें तल्लीन हो जाती थी और कई घंटोंतक जहाँ-की-तहाँ खड़ी रह जाती थी। कभी-कभी तो वह प्रभुके ध्यानमें इस प्रकार उन्मत्त हो जाती थी कि वीणा लेकर नाचने लगती थी। लोग उसके भगवत्प्रेममें निमग्न हो जाते थे। उस समय मीराको खाने, पीने, सोने और उठने-बैठने तककी भी परवाह नहीं रहती थी।

मीराके प्रेमका आरम्भ उसी गिरिधरकी मूर्तिसे हुआ था; जिसे बाल-हठ-वश उसने प्राप्त किया था।

"बालपना ते कीन्हीं मीरा गिरिधरलाल मिताई।
सो तो अब छूटत क्यों हूँ नहिं लगन लगी बरियाई॥"

वास्तवमें वह खोलौना भी ऐसा ही सुन्दर था। वह उससे हँसती, बोलती और उसे लेकर बोलते-बोलते सो जाती थी। जब मीरा कुछ बड़ी हुई, तब अपने दादाकी देखादेखी वह उस खोलौनेकी पूजा-वन्दना भी करने लगी।

जब उसके ऊपर कठोर दुःखका प्रहार हुआ, तब अपने दुखित हृदयकी शान्तिके लिये उसने करुणामय परमेश्वरका सहारा लिया; क्योंकि दुःखके समय सिवा परमेश्वरके कुछ भी दृष्टिपथमें नहीं आता। दुखित हृदय भगवद्भक्ति-रस पान कर शान्ति पाता है। पतिदेवके अभावमें मीराने परमात्माकी प्राप्तिके लिये उसीमें अभेद बुद्धि करके मन लगा दिया।

भक्त विश्वास करता है कि, परमात्मा मेरी भक्तिको स्वीकार करेगा। मीराको भी पूर्ण विश्वास था कि, जिसने द्रौपदीकी लाज रखी, प्रह्लादकी रक्षा की और डूबते गजराजको उबारा, वही भक्त-वत्सल दीनबन्धु मुझ दुखियाका भी बेड़ा पार करेगा।

भगवान्‌की भक्ति सांसारिक माया-मोहसे विमुक्त होनेपर होती है; अतएव मीराने अपना मन समस्त सांसारिक माया-मोहसे हटाकर गिरिधरमें लगाया और उन्हें अपना आराध्य देव समझकर उनकी उपासना शुरू की। यहींसे मीराकी सच्ची प्रेम-भक्तिका प्रारम्भ होता है।

मीरा नित्य कृष्ण-मन्दिरमें जाकर गाने लगी—

"मेरो तो गिरिधर गुपाल, दूसरो न कोई
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।"

इस पदको गाकर मीरा कृष्णानन्दमें विभोर हो जाती थी। जिससे उसके हृदय-पटलपर वृन्दावन-विहारी श्यामसुन्दरकी लावण्यमयी मूर्ति अङ्कित हो गयी। "विष बड़ी मेरे माधुरि मूरत उर बिच आनि अड़ी।"

सचमुच जिसने एक बार उस साँवली मूरतको देख लिया, वह उसके तीरका शिकार हुए बिना बच नहीं सकता—

"आली साँवरेकी दृष्टि मानों प्रेमकी कटारी है।
लागत बेहाल भई, तनकी सुध बुध गई।
तन मन व्यापों प्रेम, मानो मतवारी है॥"

परन्तु प्रेमी इस विरहाग्निमें तपकर ऐसा कुन्दन हो जाता है कि, उसे किसीका ध्यान ही नहीं रहता। उसे केवल यही अनुभव होता है कि,

"औरोंके प्रिय परदेश बसत है, लिखलिख भेजे पाँती।
मेरा पिय मेरे हृदे बसत है, गूँज करूँ दिन राती॥"

प्रेमकी इस सीमापर पहुँचकर प्रेमी अपने उपास्यको सम्बोधित करता है। वह कहता है—

"अगर-चन्दनकी चिता रचाऊँ; अपने हाथ जला जा।
जल-बल भई भस्मकी ढेरी; अपने अंग लगा जा।
मीरा कहे प्रभु गिरिधर नागर; जोतमें जोत मिला जा॥"

प्रेमका परिणाम भक्ति है; भक्तिका परिणाम आत्म-निवेदन और आत्म-निवेदनका अन्तिम परिणाम है अभेद। मीराका प्रेम भी इसी प्रकार था; इसीलिये उसने कहा है—

"हेरी मैं तो प्रेम दिवानी; मेरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी; किस विधि सोना होय।
गगन मँडलपे सेज पियाकी; किस विधि मिलना होय॥
घायलकी गति घायल जाने; की जिन लाई होय।
जल बिन जैसी मछली तलफे; सो गति मेरी होय॥

"दरदकी मारी बन बन डोलूँ;
बैद मिल्या नहि कोय।
मीराकी प्रभु पीर मिटेगी;
जब बैद सँवलिया होय॥"

प्रातःकालकी रवि-रश्मि-राशियोंके सदृश प्रेम जिस वस्तुपर पड़ता है, उसीको चमका देता है। बस यही सच्चा प्रेम है, जो आत्म—समर्पण द्वारा मुक्तिका देनेवाला हो।

मीराकी कविताओंमें शान्तरसका आधिक्य है। मीराका हृदय भक्तिसे परिप्लावित था। उसके पदोंसे ईश्वरके प्रति एकान्त प्रेम और सांसारिक व्यापारोंके प्रति वैराग्य झलकता है—

"मेरो तो गिरिधर गुपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥
तात मात भ्रात सगा अपनो न कोई॥
छाँड़ दई कुलकी कान, का करि हैं कोई।
संतन ढिग बैठि बैठि लोक लाज खोई॥
चुनरीके किये टूक ओढ़ लीन्हि लोई;
मोती मूँगे उतार बनमाला पोई॥
अँसुअन जल सींच-सींच प्रेम-बेलि बोई;
अब तो बेल फैल गई होनी हो सो होई॥
दूधकी मथनिया बड़े, प्रेमसे बिलोई।
माखन जब काढ़ लियो छाँछ पिये कोई॥
आई मैं भक्ति काज; जगत देख मोही।
दासि मीरा गिरिधर प्रभु; तारो अब मोही॥"

* * *

कृष्णका उपास्य देव होना ही मीराके शृङ्गार-वर्णनका कारण है। परन्तु शृङ्गार होनेपर भी उसमें मस्ती न होकर अपूर्व शान्ति ही प्रकट होती है। उसकी कविता अलौकिक शृङ्गार-मूलक है। वह माधुर्य मयी है। जिस प्रकार नायिकाका प्रेम अपने प्रियतमपर होता है; उसी प्रकार सच्चे भक्तका प्रेम अपने उपास्यपर होता है। इसीका नाम प्रेम-भक्ति है। इसीका नाम प्रेम-रसास्वादन है। दोनोंकी तुलनाका कैसा सुन्दर चित्र इन पंक्तियोंमें खींचा गया है—

"मैं बिरहिन बैठी जागूँ; जगत सब सोवेरी आली॥
बिरहिन बैठी रंग-महलमें मोतियनकी लड़ पोवे।
इक बिरहिन हम ऐसी देखी; अँसुअन माला पोवे।
तारा गिण गिण रैण बिहानी सुखकी घड़ी कब आवे।
मीराके प्रभु गिरिधर नागर, मिलके बिछुर न जावे।"

दोनोंका लक्ष्य एक ही है—प्रियतमसे मिलना; और मोतियोंकी माला बनाकर प्रियतमका स्मरण करना। एकमें सांसारिक स्वार्थ दिखाई पड़ता है, परन्तु

आँसुओंकी मालामें आत्म-समर्पणकी पूरी-पूरी झलक है। ईश्वरकी प्राप्ति अमूल्य एवं दुष्कर साधन द्वारा ही हो सकता है।

मीराके अधिकांश पद संगीतके सुर-लयसे बँधे हुए हैं। मीराका 'मलार' राग विशेष प्रसिद्ध है। 'कल्याण' और 'मारू' आदिमें भी उसके उत्तम भजन हैं। कविके लिये संगीत-शास्त्रकी अभिज्ञता परमावश्यक है। वास्तवमें यदि कविता शरीर है, तो संगीत हृदय और रस आत्मा। मीराकी कवितामें इन तीनोंका सामञ्जस्य है।

मीरा अलङ्कारोंकी उपासिका नहीं थीं; फिर भी उनकी कवितामें अलङ्कारोंका उतना ही स्थान है जितना स्वाभाविक कवितामें होना चाहिये। अनुप्रासका यह कैसा अच्छा उदाहरण है।--

"कुण्डलकी अलक झलक कपोलनपर छाई।
मना मीन सरवर तजि मकर मिलन आई॥
साँवरो त्रिभङ्ग अंग चितवनमें टोना।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृगछौना"॥

मीराका सम्बन्ध चार विभिन्न प्रदेशोंसे रहा है। मारवाड़, मेवाड़, व्रज तथा गुजरात। यद्यपि इसके पद इन चारों स्थानोंकी भाषाओंमें पाये जाते हैं; तथापि अधिकता केवल व्रजभाषाके पदोंकी है। इसका कारण यह हो सकता है कि, व्रजभाषा ही उस समय कविताकी भाषा थी।

आज ४०० वर्षोंके उपरान्त भी बड़े बड़े प्रासादोंसे लेकर छोटी-छोटी कुटियोंतक मीराके गीत बड़े चावसे गाये जाते हैं; क्योंकि उसकी उत्तम कविताओंका मुख्य आधार केवल कृष्ण-प्रेम है। मीराकी चमत्कारिक प्रतिभा और भाषा-पर असाधारण अधिकार उसके काव्यको विश्वके श्रेष्ठतम काव्योंमें स्थान देता है। हिन्दीके शुद्ध भक्ति-मय गीत-काव्यमें मीराका स्थान कदाचित् सूरके निकट है।

× × ×

चित्तौड़में जब मीरा साधु-संगममें अपने दिन काट रही थीं; तब उसके ससुर और देवरोंको न उसका यह कृष्ण प्रेम अच्छा लगा और न यह साधु सेवा। सबने मिलकर मीराको उस ओर-से विमुख करना चाहा; लेकिन मीरा अटल रही। गिरिधर गोपालके प्रेमसे विरत होनेके लिये मीरा कदापि तैयार नहीं थी। इसलिये उसे विष पिलाया गया, साँपकी पिटारी दी गयी; परन्तु सब निष्फल।

कुछ कालके बाद मीरा मेड़ते चली गयी और वहाँसे वृन्दावन गयी। इस प्रकार गिरिधर गोपाल-के प्रेममें संलग्न रहकर मीरा संवत् १६३० में सुरपुर सिधारी।

मीरा

श्रीयुत कुमार गंगानन्द सिंह एम० ए०

ऐश्वर्य और विलासकी सब सामग्री पाकर उसे ठुकरा देना, माता, पिता, पति और कुटुम्बोंकी मर्यादाकी अवहेलना कर निर्जीव मूर्ति अथवा काल्पनिक गिरिधारीलालसे प्रेम करना, समाजका तिरस्कार कर सकल साधारणके साथ स्वच्छन्दता-पूर्वक विचरण करना, राजपुतानेकी एक युवती राजकुमारीके लिये, सांसारिक दृष्टिसे, पागलपन नहीं तो क्या कहा जा सकता? फिर भी उस समय जब राजपुताना आज कलका राजपुताना नहीं था, जब वहाँकी भूमि वीर-प्रसविनी थी, जब वहाँके नरनारीगण अपनी मान-रक्षा अपने प्राणोंसे करते थे। पर उसके पागलपनमें विकार नहीं था, निर्मलता थी; चंचलता नहीं, दृढ़ता थी; डरानेवाली कठोरता नहीं, अक्षय सुख और शान्ति पहुँचानेवाली कोमलता थी। क्या तब हम उसे पागलपन कहेंगे? —नहीं, इसी प्रकारके पागलपनका नाम 'भक्ति' है। इसकी आलौकिकता लोगोंको विस्मित करती है, प्रभावान्वित करती है।

वह पगली—नहीं, भक्ति परायणा—राजकुमारी, मीरा जोधपुरमें जनमी थी और उदयपुरमें ब्याही गयी थी। गर्व, ईर्ष्या, द्वेष, क्रूरता आदिसे अभिभूत और वीरोंके रक्तके प्यासे राजपुतानेको निर्मल, स्वच्छ, शान्त-प्रिय और मधुर बनानेके लिये ही प्रायः उसका आविर्भाव हुआ था।

किशोरावस्थामें ही मीरा अपने ज्ञान, ध्यान, देह, प्राण आदिको उस "गिरिधारी लाल' के राजीव चरणोंपर अर्पित कर चुकी थी, जिसके भिन्न-भिन्न अवतारोंको लेकर, उस समय, भक्तिभावकी सरिता भारतभूमिके कोने-कोनेको प्लावित कर रही थी। वेदान्त-वादियों और तार्किकोंसे लेकर अपढ़ जुलाहे तकको जिस लीलागुरुकी प्रेरणाने उन्मत्त बना दिया था, उसीकी प्रेरणाने राजाके अन्तःपुरसे भी किंकणीके तालोंके साथ मधुर संगीत सुनाया—

"मेरो तो गिरिधरगोपाल दूसरो न कोई
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।"

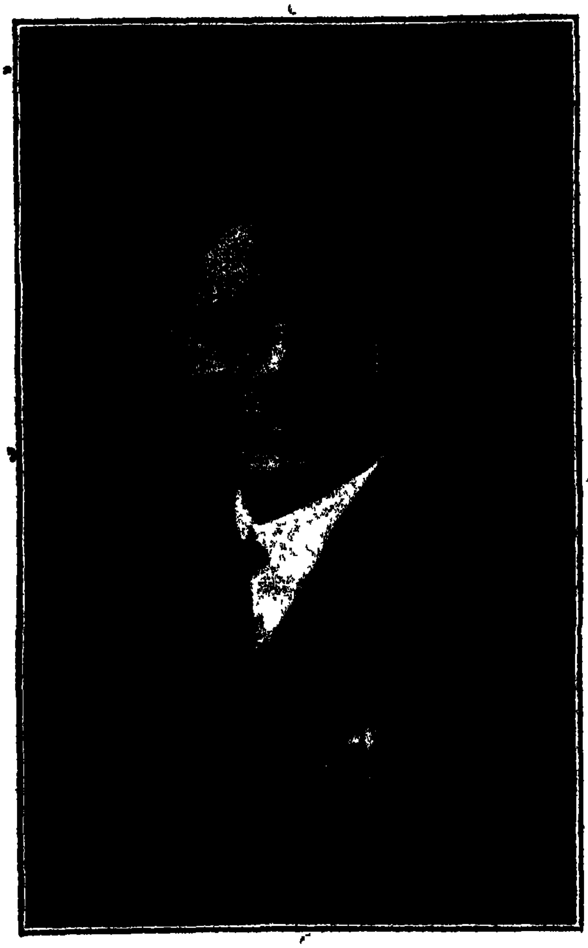
मीराके गिरिधरगोपाल काल्पनिक पुरुष नहीं थे। मीरा जिस संसारमें विचरण करती थी, उसके वे एक मात्र अधिनायक, कौतूहलपूर्ण और रहस्य-मय पुरुष थे। मीरा-स्वरूपा प्रकृति उनसे मिलना चाहती थी, पर एक-न-एक उपायसे वे भाग जाते थे। विरह-व्यथिता मीरा रोती थी। गिरिधारीलाल आकर उसके आँसू पोंछते थे, कुछ कालतक उसका मनोरञ्जन करते थे, पर फिर निकल भागते थे। इस संसारमें मीराका अपना कोई नहीं था। यों तो लौकिक सम्बन्ध, औरोंकी तरह, था ही, पर आन्तरिक सम्बन्ध उसका था एकमात्र 'गिरिधारीलाल रणछोड़जी'से ही। वही उसके आराध्य देव थे, वही उसके हृदय-मन्दिरके सम्पूर्ण अधिकारी थे, वही उसके सहचर, सखा, एवम् अभिभावक थे। उसकी आशा और तृष्णाको वही पूर्ण कर सकते थे, उसकी वेदनाको वही दूर कर सकते थे। ऐसी स्थितिमें स्वार्थ-लोलुप, अहंकारमय गार्हस्थ्य जीवन

कैसे उसे अपने बन्धनमें रख सकता था ?

ससुरालमें उसका जीवन एक तिरस्कृताका जीवन रहा, एक बन्दिनीका जीवन रहा। कुलको कलंकसे बचानेके लिये उसे मार डालनेके भी अनेक उपाय रचे गये। साँपके पिटारे भेजने और विष-पान करानेकी कथाएँ प्रचलित ही हैं; पर सब उपाय निष्फल हुए। उसपर जितनी कड़ाइयाँ होती गयीं, उसका प्रेमोन्माद उतना ही बढ़ता गया। क्रमशः उसके सांसारिक बन्धन शिथिल होते गये। एक दिन उसे घरसे निकलना पड़ा। अपने सोनेके पिंजड़ेको उसने छोड़ दिया। स्वतन्त्र वायुमडल उसके संगीतसे गूँज उठा। उदयपुरकी निर्वासिता रानी मीराके हृदयका झंकार इस गानके रूपमें प्रकट हुआ—

"तेरा कोइ नहिं रोकन हार मगन होय
मीरा चली।
लाज सरम कुलकी मरजादा सिरसे दूर करी॥
मान अपमान दोउ धर पटके निकली हुँ
ज्ञानगली।"

मीराके चले जानेपर राजाको क्षोभ हुआ। उन्होंने उसे लौटानेकी अनेक चेष्टाएँ कीं; पर सभी विफल हुईं। वह अब रात-दिन नाचकर, गाकर, हँसकर, रोकर, बोलकर, खेल कर अपने 'गिरिधारी लालजी' को रिझानेमें मस्त रहने लगी। देश-देशान्तरके लोग मीराकी आलौकिक भक्ति देखकर मुग्ध हो गये। उसके हृदयकी सच्ची पुकारके आगे बड़े-बड़े विद्वान् साधु-सन्तोंने सिर झुकाया। उसकी कथा तथा उसके अमर संगीतसे भारतवर्ष चकित हो गया। आज भी हम, उसके निर्मल हृदय, अगाध प्रेम और सुदृढ़ भक्तिके चिन्ह, सरलता, कोमलता और मनोहारिताका अनुभव इन संगीतोंसे भली भाँति करते हैं।



लेखक

एक दिन नटवर नागर गिरिधारी लाल रीझ ही गये। उन्होंने मीराका आलिङ्गन कर कहा "मीरा, आओ। तुम मेरी हो। मैं तुम्हें अलग नहीं रहने दूँगा।"

भक्तोंने जयकार किया "जय गिरिधारी लाल! जय मीरा!!"

बुद्ध

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

हमारे गुरुओं, हमारे आचार्यों तथा हमारे महापुरुषोंके जीवन-चरित्रोंके अध्ययन हमें क्यों उतना ऊँचा नहीं उठाते, जितना ऊँचा कि वे उठा सकते हैं? हम अपने पूर्वजोंकी जीवनियोंका अध्ययन नहीं करते, हम केवल उनकी कथा बाँचते हैं।

अपने महापुरुषोंके प्रति आदर और श्रद्धाकी भावनाकी एक सीमा होती है। जब हम उसका व्यतिक्रमण कर जाते हैं, तब फिर हमारी श्रद्धाकी भावना हमारे लिये कल्याणकर नहीं रहती; अकल्याणकर सिद्ध होने लगती है।

जबतक हम अपने पुरुषोत्तमोंको मनुष्यत्वकी सीमाके बहुत ऊपर उठाकर रखेंगे, इतना ऊपर कि किसीको 'ईश्वरका अवतार' कह उसके आचरणकी समीक्षा न करेंगे, किसीको 'ईश्वरका पुत्र' कह उसे अपने पापोंको धोने वाला ठहरा लेंगे, किसीको "ईश्वरका पैगम्बर" कह उसे अपने लिये सस्ता मुक्तिदाता समझ बैठेंगे, तबतक किसी भी पुरुषोत्तमके जीवन-चरित्रके अध्ययनसे हमें तनिक भी लाभ न होगा।

पाठक 'बुद्ध'की इस छोटीसी जीवनीको इस दृष्टिसे न पढ़ें, जिस दृष्टिसे कि गोसाईं तुलसीदासने 'श्रीराम-चरित-मानस' लिखा है और जिस दृष्टिसे वह उत्तर भारतके घर-घरमें बाँचा जाता है।

(२)

ईसाके जन्मसे बहुत पहले—(छ सौ तेईस वर्ष पहले) इस समय जहाँ नेपाल राज्यकी दक्षिण सीमा है, वहाँ रोहिणी नदीके पश्चिम छोरपर, शाक्योंकी कपिलवस्तु नामकी राजधानी थी। वहाँ शुद्धोदन शाक्य राज्य करते थे। उन्हें दो रानियाँ थीं, माया और प्रजापति। राजाकी ४५ वर्षकी आयुमें माया देवीको गर्भ रहा। प्रसवका समय समीप आया देख, माया देवीने अपने मायके, कोलियोंकी राजधानी देवदह, जाना चाहा। राजाने कपिलवस्तुसे देवदह तककी यात्राका वैसा प्रबन्ध किया, जैसा एक रानीकी यात्राके लिये होना चाहिये था। रानी देवदह पहुँचने भी न पायी थी कि रास्तेमें, लुम्बिनी वन * में, ही शाल-वृक्षके नीचे सिद्धार्थका जन्म हुआ। पुत्रोत्पत्तिके बाद मायादेवी अधिक दिन इस लोकमें न रही। एक सप्ताहके भीतर-ही-भीतर परलोक-गामिनी हो गयी।

बालक सिद्धार्थ बचपनसे ही होनहार था, चिन्ताशील था और था एकान्त-प्रेमी। राजा शुद्धोदन अपने पुत्रकी इस चिन्ताशील प्रकृतिसे डरता था कि न जाने यह उसे किस ओर ले जाय? उसने मन्त्रियोंकी सलाहसे जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी; उसे ब्याहके बन्धनमें बाँधना उचित समझ कोलिय-कुमारी यशोधरा + से उसका ब्याह कर दिया। एक ओर था एक समृद्ध परिवारका विलासमय जीवन और दूसरी ओर

---

* लुम्बिनी देई, नौतनवा स्टेशन (B. N. W. R.) से प्रायः ८ मील पश्चिम है।—लेखक

+ पाली-ग्रन्थोंमें सिद्धार्थकी स्त्रीको केवल 'राहुल-माता' कहा गया है। यशोधरा नाम संस्कृत-महायान-ग्रन्थोंमें है। —लेखक

थी सिद्धार्थकी विचार-पूर्ण प्रवृत्ति। विलास-मय जीवन चिन्ताशील प्रवृत्ति को न बदल सका।



भगवान् बुद्ध

एक दिन सिद्धार्थ अपने रथमें बैठकर भ्रमणके लिये जा रहे थे। उन्होंने देखा, रास्तेमें एक श्वेत-केश, जीर्णकाय व्यक्ति लकड़ीके सहारे अत्यन्त धीरे-धीरे चल रहा है। सिद्धार्थने सारथिसे पूछा—

"छन्नक! इस व्यक्तिको क्या हुआ है? यह ठीक क्यों नहीं चल रहा है? इसके केश श्वेत क्यों हैं? यह काँप क्यों रहा है?"

"कुमार! यह व्यक्ति हमेशा ऐसा ही नहीं था। बचपनमें इसने भी माताका दूध पिया है। जवानीमें इसने भी धनुषको टंकोरा है; लेकिन अब बुढ़ापेमें यह ऐसा हो गया है।"

"छन्नक! क्या यह बुढ़ापा इसीको प्राप्त हुआ है अथवा सबको होता है?"

"कुमार! सबको।"

"छन्नक! तो रथको वापिस करो। चित्तमें यह दुःखद वेदना लेकर मैं उद्यानकी सैर न कर सकूँगा।"

इसी प्रकार एक दूसरे अवसर-पर एक रोगी तथा एक और अवसरपर एक मृत व्यक्तिके दर्शनने कुमारके हृदयपर वह छाप लगायी कि वह दिन-रात यही सोचने-लगा—

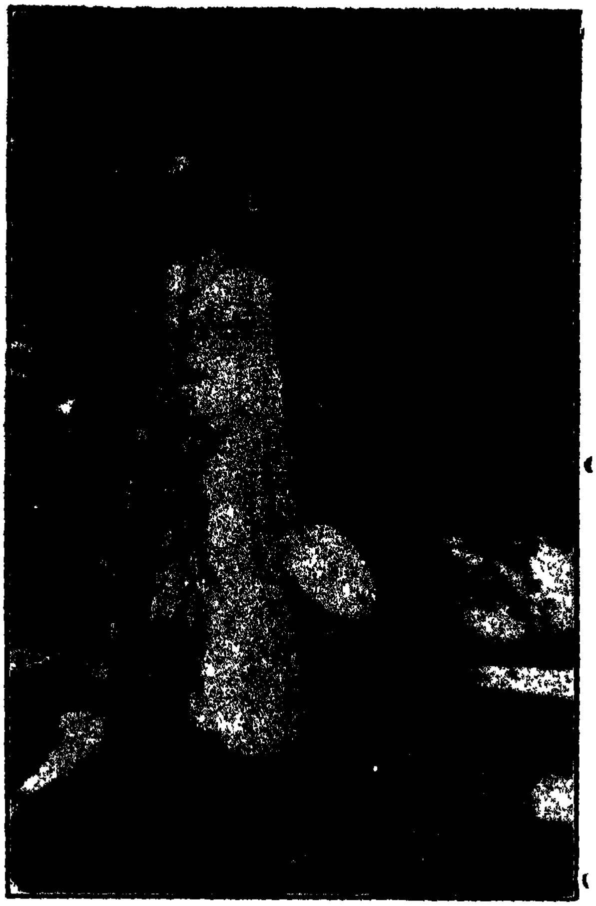
"इस बुढ़ापेसे, इस व्याधिसे तथा इस मृत्युसे मुक्तिका मार्ग है अथवा नहीं? यदि है, तो कौन सा?"

इसी बीचमें उन्हें एक शान्त प्रसन्नमुख संन्यासीके दर्शन हो गये। इसका परिणाम सिद्धार्थके मनमें एक दृढ़; किन्तु मौन संकल्प हुआ। वह उसपर निरन्तर विचार करने लगे।

इस समय गौतमकी आयु २८ वर्षकी हो चुकी

थी। यशोधरा देवीसे उन्हें राहुल नामका एक पुत्र था। संन्यासीके दर्शनके बादसे गौतम दिन-रात यही सोचते थे कि वह अपने परिवारकी ममता और महलोंके सुखमय जीवनको छोड़ किस प्रकार जंगलका रास्ता लें। उनके मनमें कितना बड़ा संघर्ष हुआ होगा ? एक ओर प्रजापति गौतमीका मातृ-वात्सल्य, यशो, धराकी पति-भक्ति राहुलका पुत्रस्नेह तथा महलोंका विलासपूर्ण जीवन और दूसरी ओर थी एक आदर्शकी धुँधली झलक! 'श्रेय' ने 'प्रेम'पर विजय पायी। एक रात चुपकेसे, अपने 'कन्थक' घोड़ेपर चढ़, छन्नक सारथिके साथ, राजकुमार कपिलवस्तुसे विदा हुए।

बौद्ध-ग्रन्थ इसे सिद्धार्थ गौतमका महाभिनिष्क्रमण कहते हैं।



लेखक

(२)

शाक्योंके देशसे मल्लोंके देशमें घूमते-घूमते, यह अकिंचन राजकुमार विद्यार्थी गङ्गाको पार करके राजगृह पहुँचा। मार्गमें आलार-कालाम सदृश अनेक साधु-महात्मा मिले। किन्तु न तो किसीके कर्मकाण्डी जीवनने और न किसीके सूखे दर्शन-शास्त्रने कुमारके हृदयकी प्यास बुझायी। राजगृहमें बिम्बिसार नरेशने आग्रह किया—"तुम्हारी यह वन-वन घूमनेकी अवस्था नहीं। तुम या तो अपने माता-पिताके पास लौट जाओ या मेरे साथ ही राज्यके हिस्सेदार बनकर रहो।"

कुमारको जंगलोंके क्षुत्पिपासामय जीवनका पर्य्याप्त अनुभव हो चुका था; लेकिन तब भी राजा बिम्बिसारका आग्रह उसे अपने प्रणसे न डिगा सका। उसका एक ही उत्तर था—"या तो जिस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये गृह त्याग किया है, उस उद्देश्यकी पूर्ति होकर रहेगी या उस प्रयत्नमें शरीर उत्सर्ग होकर रहेगा।"

राजगृहसे चलकर सिद्धार्थ गयाके पहाड़ी जंगलोंकी ओर बढ़ा। वहाँ नेरंजरा नदी के किनारे, उरुवेल नामक स्थानपर, वह छः वर्षों तक तपस्या करता रहा। सत्य और ज्ञानकी प्राप्तिके लिये जितने भी मार्ग उस समय समझे जाते थे, कुमारने सबकी परीक्षा की। आहार-त्यागसे शरीरको कृशताकी अन्तिम सीमातक पहुँचा दिया और इस क्रमको तबतक जारी रखा,

अबतक यह निश्चय नहीं हो गया कि, इन्द्रियोंको दुःख देने मात्रसे मनका शमन नहीं हो सकता। उसका निश्चय था—"चाहे मेरे चमड़े, नसें, हड्डियाँ ही क्यों न बाकी रह जायँ, चाहे शरीर, मांस, रक्त क्यों न सूख जायँ; सम्यक् सम्बोधिको, प्राप्त किये बिना इस आसनको नहीं छोड़ूँगा।" *

आखिर अनेक परीक्षाओंके बाद अपने चित्तकी बुरी वासनाओंपर विजय-प्राप्त कर, मारको सम्पूर्ण रूपसे जीत कर वैशाखी पूर्णिमाकी पुण्य तिथिको सिद्धार्थ गौतम, उस अमरबोधि-वृक्षके नीचे, बुद्धत्वको प्राप्त हुए। उस समय उन्होंने कहा—

"इस जन्म-मरणके कारणको खोजता हुआ, मैं अनेक जन्मोंतक संसारमें दौड़ता रहा। ओहो! बार-बार जन्म लेना (कितना) दुःखकर है। हे गृह (शरीर रूपी घर)-कारक! (अब) मैंने तुझे पहचान लिया। (अब) तू फिर घर न बना-सकेगा। तेरी सभी कड़ियाँ भग्न हो गयीं। घरका शिखर गिर पड़ा। संस्कार-रहित चित्तसे तृष्णाका क्षय हो गया।" (धम्मपद)

(४)

यदि गौतम केवल अपने बोधसे सन्तुष्ट हो जानेवाले व्यक्ति होते, तो उनके जीवनका कार्य पूरा हो गया था, लेकिन उन्हें शान्ति कहाँ! उनका तो हृदय समस्त संसारके कल्याणकी कामनासे तड़प रहा था। वे सोचने लगे, किसे सर्वप्रथम यह ज्ञानामृत पान कराया जाय? ध्यानमें आया कि, उन्हीं पाँचों साथियोंको, जो बुद्ध-गयामें रहते समय गौतमको पथ-भ्रष्ट हुआ समझ अकेला छोड़ आये थे, उपदेश दिया जाय। बुद्ध उनकी खोजमें गयासे ऋषिपतन, मृगदाव (बनारस) आये। उन पाँचों प्रव्रजितोंपर बुद्धकी तेजस्विताका प्रभाव पड़ते देर न लगी। तथागतने उपदेश दिया—

"भिक्षुओ! संन्यासीको चाहिये कि, वह इन



मूलगन्धकुटी, सारनाथ

* राहुल सांकृत्यायन-कृत बुद्धचर्या।

दो अन्तोंका सेवन न करे। कौनसे दो अन्त ? एक तो यह जो काम और विषय-वासनाओंका जीवन है, जो अत्यन्त हीन, ग्राम्य, अनार्य और अनर्थकर है; और, दूसरा यह जो शरीरको व्यर्थ ही पीड़ा पहुँचाना; (क्योंकि) यह भी अत्यन्त हीन,



श्वेडगान पगोडाकी बुद्धमूर्तियां

ग्राम्य, अनार्य और अनर्थकर है। इन दोनों अन्तोंको त्याग कर तथागतने मध्यमा-प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) का उपदेश दिया है। यह मध्यमा-प्रतिपदा आँख खोलनेवाली है, ज्ञान देनेवाली है, (रागादि अग्नियोंका) शमन करनेवाली है। कौनसी है यह मध्यमा-प्रतिपदा ? यही जो (१) ठीक (सम्यक्) विचार, (२) ठीक संकल्प (३) ठीक वाणी, (४) ठीक कर्म, (५) ठीक आजीविका, (६) ठीक व्यायाम (उद्योग), (७) ठीक स्मृति (चित्त-वृत्ति) (८) और ठीक समाधि।"

(धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र, बुद्धचर्या)

इस प्रकार बुद्धने अपने उन पाँचों शिष्योंको आर्य अष्टांगिक मार्गका उपदेश दे 'आर्य-जीवन'का अनुयायी बनाया। उस दिन ऋषिपतन (मृगदाव) में तथागत*ने अपना वह धर्म-चक्र प्रवर्तित किया, जिसे पहले न किसी श्रमण, न ब्राह्मण, न देवता, न मार, न और किसीने भी चलाया था।

उन दिनों बनारसमें एक बड़ा सेठ रहता था, जिसके लड़केका नाम था यश। पिताने अपने प्रिय पुत्रके लिये भोग-विलासकी सब सामग्री जुटा रखी थी। लेकिन यश उन नवयुवकोंमेंसे था, जिन्हें ऊँचे आदर्शोंकी प्रेरणा विलासमय जीवनमें फँसने नहीं देती। विलासी जीवनसे उसको सन्तोष न हुआ। वह ऊब कर तथागतके पास गया और उनका उपदेश सुन कर, उन्हींके पास भिक्षु (प्रव्राजित) हो गया।

अब दिनानुदिन गौतमकी ख्याति फैलने लगी। युवक-गण एक-एक करके उनकी भिक्षु मण्डलीमें सम्मिलित होने लगे। जब भिक्षुओंकी संख्या ६० तक पहुँची, तब तथागतने उन्हें सम्बोधित किया।

"भिक्षुओ! अब तुम लोग जाओ, घूमो। जनताके हितके लिये, जनताके सुख लिये देवों और मनुष्योंके कल्याणके लिये जाओ, घूमो। दो भिक्षु एक तरफ न जाओ। तुम लोग उस

* बुद्ध अपने लिये 'तथागत' शब्दका व्यवहार करते थे।

धर्मका उपदेश करो, जो आदिमें कल्याण कारी है, मध्यमें कल्याण-कारी है और अन्तमें भी कल्याण-कारी है।…… और हे भिक्षुओ! मैं स्वयं भी जहाँ उरुवेल है, वहाँ धर्मोपदेश देने जाता हूँ।"

(महावग्ग)

(५)

उरुवेल, राजगृह, कपिलवस्तु, वैशाली, जेतवन, कौशाम्बी आदि स्थानोंमें (वर्षा-कालके तीन महीनोंको छोड़) भगवान् बुद्ध नित्य ही किसी न-किसी जगहकी चारिका करते थे। उनके जीवनका प्रत्येक क्षण जिस प्रकार केवल लोक-हितमें व्यतीत होता था, उसका दूसरा उदाहरण नहीं।

एक बार भगवान् विचरते-विचरते केसपुत्तिय नामक ब्राह्मणोंके ग्राममें जा पहुँचे वहाँ कालामा गोत्रके लोगोंने पूछा—"भन्ते! हमारे ग्राममें कुछ श्रमण-ब्राह्मण आते हैं वे अपने मतोंका समर्थन करते हैं और दूसरोंके मतोंका खण्डन। फिर दूसरे आते हैं व अपने सिद्धान्तोंका समर्थन करते हैं और दूसरोंके सिद्धान्तोंका खण्डन। भन्ते, हम कैसे जानें कि किनका कथन सत्य है और किनका असत्य? कैसे जानें कि कौन सही और कौन गलत है?'

भगवान्ने कहा—'कालामा! सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक है। किसी बातमें केवल इसलिये विश्वास मत करो कि बहुतसे लोग उसे मानते हैं। इसलिये विश्वास मत करो कि वह तुम्हारे आचार्योंकी कही हुई बात है। इसलिये विश्वास मत करो कि, वह तुम्हारे धर्मग्रन्थोंमें लिखी हुई है। बल्कि प्रत्येक बातको अपने व्यक्तिगत अनुभवकी कसौटीपर जाँचो। यदि तुम्हें वह अपने तथा औरोंके लिये हितकर जान पड़े, तो उसे मान लो, न जान पड़े तो मत मानो।"

× × ×

राजा शुद्धोदनके कानोंमें पुत्रकी ख्याति पहुँची। वे अपने पुत्रको देखनेके लिये उत्कण्ठित हो गये। बड़ी कठिनाईसे वे अपने पुत्रको अपने राज्यमें बुलानेमें सफल हुए। बुद्ध कपिलवस्तु आये। वहाँ अपने नियमके अनुसार नगरसे बाहर ठहरे और भिक्षाके समय, अन्य भिक्षुओंको साथ ले भिक्षा माँगने निकले। राजाको पता लगा, तो वे घबराये हुए आये और बोले—

"क्या मुझमें, आपको और आपके भिक्षुओंको भोजन करानेका, सामर्थ्य नहीं है, जो आप घर-घर भिक्षा माँग रहे हैं?"

"राजन्! हमारे वंशका यही धर्म है।"

"भन्ते! हमारा वंश क्षत्रिय-वंश है। हमारे वंशमें किसी एकने भी तो आजतक भिक्षा नहीं माँगी।"

"राजन्! तुम्हारा वंश क्षत्रिय-वंश होगा। हमारा वंश तो बुद्धोंका वंश है।"

कपिलवस्तुमें रहते समय भगवान्ने अपने पुत्र राहुल तथा अन्य कई जनोंको प्रव्रजित किया।†

* * *

कृशागौतमी नामकी एक अत्यन्त दरिद्र स्त्रीका इकलौता पुत्र मर गया। वह शोकसे पगली हो गयी। वह अपने मृत पुत्रकी लाशको इस आशासे

---

† एक बार लाहौरमें भदन्त राहुलजीका व्याख्यान हो रहा था। उनका कहना था कि भगवान् बुद्ध क्षात्र वंशके विरोधी न थे। किसी सज्जनने पूछा—'तो फिर बुद्धने अपने पुत्र राहुलको, जो कि एक क्षत्रिय-कुमार था, संन्यासी क्यों बनाया?' राहुलजीने उत्तर दिया, 'क्योंकि बुद्ध जन्मसे आनुवंशिक भेदको न मानते थे।'—लेखक

गोदमें उठाये फिरती थी कि कोई जिला देगा। उसे क्या मालूम कि मरे हुए जिया नहीं करते और यदि जी उठें, तो वह मरे हुए नहीं होते।

किसीने उसे तथागतके पास भेज दिया। कहा—"जा। वहाँ समुचित औषध मिलेगी।"

आपत्तिकी मारी गौतमी रोती, चिल्लाती, सिर धुनती तथागतके पास पहुँची। बोली—

"मेरे पुत्रको जिला दो।"

बुद्ध बोले—"जिस घरमें आजतक कोई मरा न हो, उस घरसे सिद्धार्थक (पीली सरसों) ले आ।"

गौतमी घर-घर घूमी। सिद्धार्थक देनेके लिये सब तैय्यार थे, लेकिन कोई घर ऐसा न था, जहाँ कोई-न-कोई मरा न हो।"

उसकी आँख खुल गयी। पुत्रकी लाश छोड़कर वह तथागतके पास आयी। भगवान् बोले—"देखा गौतमी! यह जो अनित्यता है, यह न केवल एक ग्रामका, न केवल एक निगमका, न केवल एक कुलका धर्म है, यह तो सारे संसारका धर्म है। देवता भी इसके अपवाद नहीं हैं।"

कृशागौतमीने प्रव्रज्या ग्रहण की।

× × ×

उस समय एक भिक्षुको पेटकी बीमारी हो गयी थी। बेचारा अपने पेशाब-पैखानेमें पड़ा था। आयुष्मान् आनन्द-सहित भगवान् घूमते-घूमते वहाँ पहुँचे, जहाँ वह भिक्षु पड़ा था। जाकर पूछा—

"भिक्षु, तुझे क्या रोग है?"

"भगवन्, पेटकी बीमारी है।"

"भिक्षु, तेरा कोई परिचारक है?"

"नहीं।"

"और भिक्षु क्यों तेरी सेवा नहीं करते?"

"भगवन्, मुझसे किसी भिक्षुका कुछ बन नहीं पड़ता।"

भगवान्ने आयुष्मान् आनन्दको कहा—"जा आनन्द पानी ला। इस भिक्षुको नहलाऊँगा।"

आनन्द पानी लाये। भगवान्ने पानी डाला। आयुष्मान् आनन्दने धोया। भगवान्ने सिरसे पकड़ा। आयुष्मान् आनन्दने पैरसे। उठाकर चारपाईपर लिटाया। तब भगवान्ने भिक्षुओंको एकत्र कर कहा—

"भिक्षुओ! तुम्हारी माता नहीं, पिता नहीं, जो तुम्हारी सेवा करें। यदि तुम एक दूसरेकी सेवा न करोगे, तो कौन करेगा? जो रोगीकी सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है।"

× × ×

भगवान् राजगृहमें विचर रहे थे। कुछ ब्राह्मणोंने उनसे पूछा—

"भन्ते! क्या आपके सब शिष्य आपका अनुकरण करते?"

"कुछ करते हैं कुछ नहीं।"

"यह कैसी बात है कि आपके शिष्य भी आपका अनुकरण नहीं करते?"

भगवान् बोले—"हे ब्राह्मणो! मैं तुम लोगोंसे ही एक प्रश्न पूछता हूँ। उत्तर दो। क्या कभी लोग तुम लोगोंसे राजगृह जानेवाला मार्ग पूछते हैं?"

"हाँ, पूछते हैं।"

"तो क्या सभी राजगृह पहुँच जाते हैं?"

"इसमें हमारा क्या दोष है। हमारा काम तो केवल मार्ग बतला देना है।"

"इसी तरह हे ब्राह्मणो! मेरा काम केवल मार्ग बतला देना है। इसमें मेरा क्या दोष है। यदि कुछ लोग मेरा अनुकरण करते हैं, कुछ नहीं करते।"

(६)

उस समय भगवान् राजगृहमें गृध्रकूट

पर्वतपर विहार कर रहे थे। वैदेही-पुत्र राजा अजातशत्रुका महामात्य वर्षकार (ब्राह्मण) आया, और भगवान्‌को श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके बोला--

"भन्ते, वैदेही-पुत्र मगध-नरेश वज्जियोंपर आक्रमण करना चाहते हैं। उनकी इच्छा है कि वैशालीवालोंका चिह्नमात्र बाकी न रहे। उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है कि 'जाओ भगवान्‌से मेरा प्रणाम कहो और इस सम्बन्धमें उनका जो विचार हो, उसे पूछकर आओ।" "भन्ते, इस सम्बन्धमें आपका क्या विचार है?"

आनन्द खड़े भगवान्‌को पंखा कर रहे थे। भगवान्‌ने आनन्दको देखा--

"आनन्द, वज्जियोंमें कुछ ऐसी बातें हैं कि वे जबतक उनके अनुसार आचरण करते रहेंगे, वज्जियोंका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता"

"भन्ते! कौनसी वे बातें है?"

"आनन्द, वज्जी लोग नियमपूर्वक अपनी सभा करते हैं, सभाके समय सब वज्जी उपस्थित होते हैं, अपने बनाये हुए नियमोंका उल्लंघन नहीं करते, आदरणीय व्यक्तियोंका आदर करते हैं, परायी स्त्रीको जबर्दस्ती अपनी स्त्री नहीं बनाते, अपने नगरके पूज्य स्थानोंका खयाल रखते है, अपने राज्यमें आनेवाले धर्मोपदेशकोंका यथोचित सत्कार करते हैं, जिससे भविष्यमें भी वे उनके राज्यमें आवें। आनन्द, जबतक वज्जियोंमें ये सात गुण है, तबतक वज्जियोंका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।"

वर्षकार भगवान्‌की बात ध्यानसे सुन रहा था। भगवान्‌ने कहा--"ब्राह्मण, वैशालीमें विचरते हुए एक बार मैंने वज्जियोंको यह सात बातें कहीं थीं। जबतक वज्जी इनके अनुसार आचरण करते रहेंगे, तबतक वज्जियोंका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।"

मगध-महामात्यने भगवान्‌को प्रणाम कर कहा--"भन्ते, मैं सन्तुष्ट हो गया। अब आप जानेकी आज्ञा दें, मुझे कई आवश्यक कार्य हैं।"

"ब्राह्मण जैसा तू उचित समझ वैसा कर।"

भगवान्‌ने आनन्दको कहकर सब भिक्षुओंको एकत्र किया और उन्हें सातों बातोंका उपदेश दिया।

(७)

पाटलिग्राम, कोटिग्राम और नदिकाग्राम होते हुए भगवान् जिस समय वैशाली पहुँचे तो बात फैलते-फैलते वैशालीकी प्रसिद्ध गणिका अम्बपालीके कानोंतक वह जा पहुँची। उसे मालूम हुआ कि भगवान् उसीके आम्रवनमें ठहरे हुए हैं।

बुद्ध जैसे महापुरुषके पास जानेकी किसे उत्सुकता नहीं होगी? अम्बपालीकी भी इच्छा हुई कि वह भगवान्‌के दर्शनार्थ जाय। वह अपने सबसे अच्छे रथको जुतवा उसपर सवार हो वैशालीसे निकली। मार्गमें उसके मनमें अनेक विचार उठ रहे थे। कभी वह अपने कमीज पेशेकी ओर देखती और कभी शीलकी मूर्ति भगवान्‌की ओर। जब आम्रवन अधिक दूर न रहा, तब अधिक समीपतक रथपर चढ़कर जाना आर्य-मर्यादाके विरुद्ध जान अम्बपाली रथसे उतर पैदल चल पड़ी। बागमें प्रवेश करते ही उसने देखा कि भगवान् भिक्षुसंघको उपदेश दे रहे हैं। वह भी एक ओर शान्तिसे बैठ उपदेश सुनने लगी। उपदेशकी समाप्तिपर उसने भगवान्‌से प्रार्थना की--

"भन्ते भिक्षुसंघ-सहित आप कलके लिये मेरा भोजन स्वीकार करें।"

भगवान्‌ने मौन रह गणिकाका निमन्त्रण स्वीकार किया

× × × ×

"अम्बपाली, आज क्या बात है कि तू रथसे रथको धक्का देकर चल रही है!"

"आर्यपुत्रो, भगवान्ने कलके लिये मेरा भोजन स्वीकार किया है।"

लिच्छवियोंने दाँतों तले अँगुली दबायी। बोले—"अम्बपाली, यह दान हमें देने दे। हम तुझे इसके लिये एक लाख मुद्रा देंगे।"

"आर्यपुत्रो, एक लाख तो क्या, यदि आप बदलेमें मुझे सारी वैशाली भी दें, तो भी मैं यह निमन्त्रण नहीं दे सकती।"

लिच्छवी बोले—

"ओह! हम चूक गये। हम हार गये। हमें इस गणिकाने जीत लिया।" वे सब इकट्ठे होकर भगवान्के पास गये और बोले—

"भन्ते, संघ-सहित आप कलके लिये हमारा निमन्त्रण स्वीकार करें।"

"लिच्छवियो, कलके लिये तो मैंने अम्बपालीका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।"

अत्यन्त पतित गणिकातकके लिये भगवान्का यह भाव देख लिच्छवी स्तब्ध रह गये और नत-मस्तक हो अपने स्थानको लौट आये।

× × ×

दूसरे दिन भोजनका समय हो जानेपर अम्ब-पालीने भगवान्के पास समयकी सूचना भेजी। पात्र चीवर ले भिक्षु-संघ सहित भगवान् अम्बपालीके निवास स्थानपर पहुँचे और बिछे आसनोंपर विराजमान हुए। अम्बपालीने बड़े ही प्रेम और श्रद्धासे, बार-बार पूछ-पूछकर, भगवान्को अपने हाथसे भोजन कराया। उनके भोजन-पात्रसे हाथ खींच लेनेपर हाथ धुलवा, वह एक ओर बैठ गयी और बोली—

"भन्ते, मैं बुद्ध-धर्म-संघकी शरण जाती हूँ और इस अपने आम्रवनको बुद्ध और भिक्षु-संघको प्रदान करती हूँ।"

भगवान्ने मौन रहकर स्वीकार किया।

(८)

वेणुग्राम (वैशाली) में वास करते समय भगवान्ने भिक्षुओंसे कहा—

"भिक्षुओ, वर्षा-वासका समय आ गया। तुम वैशालीके आस-पास जहाँ-जहाँ सुविधा देखो, वहाँ-वहाँ वर्षा-वास करो। मैं इस वर्ष वेणु-ग्राममें ही वर्षा वास करूँगा।"

"भन्ते अच्छा।"

उसी वर्षा-वासमें भगवान् रोग ग्रस्त हो गये। आरम्भमें तो रोग मामूली था; लेकिन बढ़ते बढ़ते वह भयङ्कर हो गया। मरणान्तक पीड़ा होने लगी। तब भगवान्ने सोचा—"इस रोगको तो मुझे अपने मनोबलसे शान्त ही करना चाहिये। भिक्षु-संघको बिना कुछ सन्देश दिये इस जीवन-प्रदीपको बुझा देना ठीक नहीं।"

भगवान्के मनोबलसे उस समय वह रोग शान्त हो गया।

रोगसे तो भगवान् मुक्त हो गये, किन्तु शरीरमें अभी बल नहीं आया था। विहारके बाहर भगवान् आसनपर बैठे थे। आनन्दने कहा—

"भन्ते, आपको नीरोग देखकर मेरा दिल कुछ हरा हुआ। नहीं तो मेरी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया था। धर्म तो क्या, पूरब-पच्छिम भी न सूझता था। किन्तु इतनी आशा थी कि भिक्षु-संघको बिना कुछ सन्देश दिये भगवान् निर्वाणको प्राप्त नहीं होंगे।"

"आनन्द, अब संघ मुझसे और क्या आशा-रखता है? धर्मका जो उपदेश करना था, वह तो मैंने कर दिया। कोई रहस्यकी बात छिपाकर नहीं

रखी। अब और भिक्षु-संघ मुझसे क्या चाहता है? आनन्द, भिक्षु संघके लिये तो वही चिन्तित हो, जिसकी यह धारणा हो कि, भिक्षु-संघ मेरा है, मैं उसका मालिक हूँ। मुझे तो आनन्द, स्वप्नमें भी यह खयाल नहीं होता; तो फिर मैं किसलिये भिक्षु संघके लिये चिन्तित होऊँ? आनन्द, अब यह शरीर जीर्ण है। अस्सी वर्षकी उम्र है। पुराने छकड़ेकी भाँति किसी तरह बाँध-बूँधकर इसे चला रहा हूँ। केवल समाधि-अवस्थामें ही पूर्ण सुखसे रहता हूँ। आनन्द दूसरेका आश्रय छोड़ो। आत्मावलम्बी बनो। धर्म तुम्हारा पथ-प्रदर्शक है। उसीका अनुसरण करो।"

(९)

भोगनगर होते हुए भगवान् पावामें, चुन्द सुनारके आम्रवनमें, ठहरे। चुन्दने सुना तो वह भगवान्‌की सेवामें उपस्थित हुआ और बोला—

"भन्ते, भिक्षुसंघ-सहित भगवान् कलके लिये मेरा भोजन स्वीकार करें।"

भगवान्‌ने मौन रहकर स्वीकार कर लिया। अगले दिन चुन्दने अनेक प्रकारके खाद्य पदार्थोंके साथ शूकर-मद्दव * भी तैय्यार कराया। उसे क्या मालूम था कि, शरीर-पुष्टिके लिये बना यह शूकर-मद्दव प्राण-घातक रोग उत्पन्न करेगा। भोजनका समय होनेपर उसने समयकी सूचना दी और उधर संघ-सहित बुद्धके लिये आसन बिछाये। भगवान् आकर आसनपर बैठे। चुन्दने अपने हाथसे संघ-सहित भगवान्‌को भोजन परोसा। भोजन समाप्त कर, चुन्दको अपना उपदेशामृत पान करा भगवान् अपने स्थानपर लौट आये।

* * *

थोड़ी ही देर बाद भगवान्‌को रक्तस्राव होने लगा। पेटमें मर्मान्तक व्यथा होने लगी। भगवान्‌ने आनन्दसे कहा—

"देखो आनन्द, मेरे बाद चुन्दको कोई यह न कहे कि, चुन्द तुम बड़े अभागे हो; तुम्हारे भोजनको खाकर भगवान्‌ने शरीर छोड़ा। यदि कोई ऐसा कहे, तो आनन्द, तुम कहना—"चुन्द, तुम बड़े सौभाग्यशाली हो। तुमने महान् पुण्यार्जित किया, जो तुम्हारे भोजनको ग्रहण कर तथागतने निर्वाण लाभ किया। चुन्द तुम्हारा यह भोजन वैसा ही श्रेष्ठ है, जिस तरह सुजाताकी खीर थी, जिसे ग्रहण कर भगवान् बुद्धत्वको प्राप्त हुए।"

(१०)

"चलो आनन्द, हिरण्यवती नदीके परले किनारेपर, कुशीनगरमें जहाँ मल्लोंका शालवन है, वहाँ चलें।"

"अच्छा, भन्ते।"

उस व्यथाकी अवस्थामें भी चार कोसकी यात्रा कर भगवान् हिरण्यवतीके किनारे मल्लोंके शालवनमें पहुँचे। उन्होंने कहा—

"आनन्द, शालके इन दोनों वृक्षोंके बीचमें मेरे लिये चारपाई बिछादो बहुत थक गया हूँ। लेटूँगा।"

"अच्छा, भन्ते।"

उत्तरको ओर सिरकर, दाहिनी करवटसे उस अन्तिम शय्यापर भगवान् बोले—"आनन्द, चारों दिशाओंसे श्रद्धालु कुलपुत्र तथागतके जन्म-स्थान लुम्बिनी, बुद्धत्व-प्राप्तिके स्थान गया, धर्म चक्रप्रवर्तनके स्थान ऋषिपतन और महा परिनिर्वाणके स्थान इस कुशीनगरके दर्शनार्थ आयेंगे और संसारकी क्षणिकताको देख वैराग्यको प्राप्त होंगे।

× × × ×

* शूकर-मद्दवका अर्थ एक प्रकारकी जड़ और सुअरका मांस दोनों किया जाता है।—सम्पा०

भन्ते, तथागतके शरीरके प्रति हमें क्या करना होगा ?"

"आनन्द, तथागतकी मृत देहके लिये तुम्हें कुछ नहीं करना है। तुम्हारे लिये सत्यकी खोज और उसकी प्राप्ति ही कर्तव्य है । ऐसे गृहस्थ हैं, जो तथागतके शरीरके प्रति जो-जो उचित होगा, सब करेंगे" ।

× × ×

आनन्दको विश्वास हो गया कि वह वृक्ष, जिसकी शीतल छाया-तले वह सुख-शान्ति पा रहे थे, अब कुछ ही घंटोंमें नामशेष रह जायगा । वह अपनेको सम्हाल न सके और विहारके एक कोनेमें खड़े हो आँसू बहाने लगे । "हाय ! अभी मैं निर्मल चित्त हो अर्हत-पदको भी न प्राप्त कर पाया और मेरा पथ-प्रदीप बुझ रहा है ।"

भगवान्ने भिक्षुओंसे पूछा—"आनन्द कहाँ हैं ?"

"भन्ते, आनन्द उधर खड़े रो रहे हैं ।"

"जाओ, कहो कि तथागत बुला रहे हैं ।"

आनन्द आये ।

"आनन्द, यह शोक किसलिये ? क्या मैंने पहले ही यह नहीं कह दिया है कि सभी प्रिय वस्तुओंका नाश होता है; अतएव वियोग अनिवार्य है ? आनन्द, क्या यह सम्भव है कि प्रिय जनोंका वियोग न हो ? यदि नहीं, तो फिर क्यों रोते हो ? आनन्द, तुमने इतने दीर्घ समयतक मन, कर्म, वचनसे तथागतकी सेवा करके अपार पुण्य सञ्चय किया है। अब आनन्द, तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे शीघ्र ही राग-द्वेष और मोहरूपी पाशोंसे मुक्त हो जाओ ।"

(११)

सुभद्र परिव्राजकको मालूम हुआ कि भगवान् मृत्युशय्यापर पड़े हैं। उसने सोचा, श्रमण गौतम जैसे महापुरुष रोज-रोज पैदा नहीं हुआ करते । मेरी शङ्काओंकी निवृत्तिका फिर ऐसा अवसर नहीं आयेगा, निवारण कर लूँ । वह मल्लोंके उस एकान्त शालवनमें गया । जाकर बोला—

"हे आनन्द, मेरे चित्तमें धर्म सम्बन्धी कुछ शंकाएँ हैं । यदि उन्हें इस समय न मिटा सका , तो फिर वे कभी न मिट सकेंगी। कृपया मुझे भगवान्के दर्शन कराइये ।"

' सुभद्र, यह भगवान्से शंका-समाधान करानेका समय नहीं है । भगवान् निर्वाण-शय्यापर हैं । अब उन्हें कष्ट मत दो ।"

'आनन्द, मुझे भगवान्के दर्शन कर लेने दो ।"

' सुभद्र, अब उन्हें कष्ट मत दो ।"

४५ वर्षों तक निरन्तर अखिन्न चित्तसे जिसने मनुष्योंके लिये अमृत वर्षा की हो, वह अब इस अन्तिम समयमें भी अपनी उस सहज करुणाको कैसे भूल सकता है ! आनन्द और सुभद्रके इस कथा संलापको सुनकर भगवान्ने कहा—

'आनन्द, सुभद्रको मत रोको। आने दो। वह ज्ञान—प्राप्तिकी इच्छासे आया है, मुझे तकलीफ देनेके लिये नहीं । वह बहुत समझदार है। इस समय मैं जो कुछ उसे कहूँगा, वह तुरत समझ लेगा ।"

आयुष्मान् आनन्दने सुभद्र परिव्राजकसे कहा—'आवुस सुभद्र, आओ। भगवान् स्वयं तुम्हें बुला रहे हैं।"

सुभद्र परिव्राजकने करुणाकी उस शान्त मूर्तिको देखा और देखा उस भव्य जीवनके सन्ध्या-कालको। फिर अन्तिम शय्यापर पड़े तथागतका उपदेश क्यों न उसके अन्तस्तल तक पहुँच जाता ? सभी शङ्काओंसे मुक्त हो उसने कहा —"भन्ते, मैं बुद्धधर्म और संघकी शरण आता हूँ । मुझे

आप भिक्षु बना लें—

"सुभद्र, संघका नियम है कि दूसरे सम्प्रदायमें प्रव्रजित व्यक्ति यदि बौद्ध-संघमें प्रव्रजित होना चाहे तो उसे चार मासतक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।"

"भन्ते चार मास तो क्या, मैं चार वर्षों तक प्रतीक्षा करनेके लिये तैय्यार हूँ।"

भगवान्‌ने कहा—"तो आनन्द, सुभद्रको प्रव्रजित करो।"

सुभद्र बुद्धके अन्तिम शिष्य हुए।

(१८)

समय नजदीक आ गया था। भगवान्‌ने कहा—"भिक्षुओ, सम्भव है मेरे बाद तुम समझने लगो कि अब हमारा शास्ता (उपदेशक) कोई नहीं, हमारा मार्ग दर्शक कोई नहीं। ऐसा कभी मत समझना। जिन-जिन धर्मोंका मैंने उपदेश किया है, उन्हींको तुम अपना शास्ता और मार्ग-दर्शक समझना। भिक्षुओ, मेरे बाद यदि संघ आवश्यक समझे, तो छोटे-मोटे नियमोंको छोड़ भी सकता है।"

* * *

"आनन्द, छन्न भिक्षुको मेरे बाद ब्रह्मदण्ड देना।"

"भन्ते, ब्रह्म-दण्ड क्या है?"

"आनन्द, भिक्षुओंको छन्न जो चाहे सो कहे, किन्तु भिक्षु छन्नसे न तो कुछ बोलें, न उसे कुछ उपदेश ही करें।"

× × × ×

"भिक्षुओ, यदि तुममेंसे किसीको बुद्ध धर्म या संघके बारेमें किसी प्रकारकी कुछ शंका हो, तो अब समय है पूछ लो। फिर न पछताना कि तथागतके जीवन कालमें अपनी शङ्काएं हमने क्यों न मिटा लीं!"

सभी भिक्षु चुप थे। किसीको कुछ न पूछना था।

"अच्छा तो भिक्षुओ, मैं तुम्हें कहता हूँ, संसारकी सभी चीज़ें बनी हैं, इसलिये बिगड़नेवाली हैं, नश्वर हैं। तुम अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें प्रमाद न करना। यही तथागतके अन्तिम शब्द हैं।"

× × ×

वह भुवन-प्रदीप संसारसे सदाके लिये बुझ गया। तथागत महापरिनिर्वाणको प्राप्त हो गये।

आचार्य भिखारीदासजी

श्रीयुत अच्युतानन्द दत्त सहायक सम्पादक, 'बालक'

हिन्दीमें सोलहवीं शताब्दीसे लेकर उन्नीसवीं शताब्दीतकका समय 'रीतिकाल' कहलाता है। उस समय हिन्दी-साहित्यका भाण्डार अधिकतर लक्षण ग्रन्थोंसे ही भरा गया है। जो काव्यांगोंकी पूरी जानकारी रखते थे, उनका राजदरबारमें अच्छा सम्मान होता था। उन्हें लाखों रुपये मिल जाते थे और ऐसे ग्रन्थ-प्रणेताओंको आचार्यका पद प्राप्त होता था। कविवर भिखारीदासजीकी गणना भी हिन्दी-साहित्यके आचार्योंमें की जाती है। वे हिन्दी-साहित्य-गगनके उज्ज्वल नक्षत्र थे।

ये संस्कृतके अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने बड़ी ही हृदयहारिणी रचनाएँ की हैं। इनका बनाया हुआ रीति-ग्रन्थ 'काव्यनिर्णय' इनकी आचार्यताको आज भी उद्घोषित कर रहा है और भविष्यमें भी इनके नामको अमर बनाये रहेगा।

ये प्रतापगढ़ (अवध) के रहनेवाले थे। प्रतापगढ़ दुर्गसे एक मीलके फासलेपर हेउँगा गाँव स्थित है, जहाँ कविवरने जन्म ग्रहण किया था। ये बहीवार-शाखाके श्रीवास्तव्य कायस्थ थे। बड़ी खोज-ढूँढ़से विद्वानोंने इनका वंशवृक्ष प्राप्त किया है। वह इस प्रकार है—

नरोत्तमदास

रामदास

वीरभानु

कृपालुदास

भिखारीदास

अवधेशलाल

गौरीशंकर (निःसन्तान मर गये)

वंशवृक्ष देखनेसे जान पड़ता है कि, भिखारीदासजीके पौत्र गौरीशङ्करके मर जानेपर इनके वंशकी समाप्ति हो गयी। इनकी बिरादरीके लोग अब भी हेउँगा गाँवमें विराजमान हैं।

इनका जन्म, मिश्रबन्धुओंके मतानुसार, संवत् १७५५ के लगभग हुआ था और तीस वर्षकी अवस्थासे ये कविता करने लगे थे। ये कवितामें अपना उपनाम 'दास' रखते थे।

दासजी ब्रजभाषामें सरस कविता करने लगे। धीरे-धीरे इनकी ख्याति बढ़ चली। जब यह समाचार प्रतापगढ़के तत्कालीन चन्द्रवंशी राजा पृथ्वीपति सिंहको मिला, तब उन्होंने दासजीको ससम्मान अपने दरबारमें बुला लिया। राजा पृथ्वीपति सिंहके छोटे भाई हिन्दूपति सिंह दासजीपर विशेष अनुराग रखने लगे और दासजीने भी विष्णुपुराण (अनुवाद) को छोड़कर शेष सभी ग्रन्थ इन्हीं बाबूसाहबको समर्पित कर दिये। यह घटना लगभग संवत् १७९१ को है। संवत् १८०७ तक इनका कविता काल कहा जाता है।

दासजीने छोटे-बड़े कितने ही ग्रन्थोंकी रचना, हिन्दी भाषामें, की है। उनमें जो विशेष प्रसिद्ध और उपलब्ध हैं, उनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

(१) विष्णुपुराण—दासजीका यह ग्रन्थ बहुत बड़ा है। संस्कृत-विष्णुपुराणका गो० तुलसीदासजीकी रामायणके ढंगपर सुन्दर अनुवाद है। इसकी कथा रोचक और प्रशंसनीय है। इसमें दोहों, चौपाइयोंके अतिरिक्त थोड़े अन्यान्य छन्द भी आ गये हैं। इसमें रचनाकालका संवत् नहीं दिया गया है और न यह ग्रन्थ किसीको समर्पित ही है। इससे अनुमान किया जाता है कि इस ग्रन्थके निर्माण होनेतक कविकी पहुँच राजा पृथ्वीपति सिंहके दरबारमें नहीं हुई थी।

(२) रस-सारांश—यह संवत् १७९१ में बना। इसमें रसोंका वर्णन, विस्तार-पूर्वक, अच्छे ढंगसे किया गया है।

(३) नाम-प्रकाश—इस ग्रन्थकी रचना अनेक छन्दोंमें हुई है। जो सुन्दर है। यह हिन्दीका अमरकोष है। इसे देखनेसे इनकी संस्कृतकी विद्वत्ताका पता चलता है। यह ग्रन्थ संवत् १७९५ में बना।

(४) छन्दोऽर्णव—यह संवत् १७९९ में बना। यह पिङ्गल-ग्रन्थ है। इसमें प्रस्तार, मेरु, मर्कटी, पताका, नष्ट, उद्दिष्ट और छंदोंके लक्षण तथा उदाहरण भलीभाँति वर्णित हैं।

(५) काव्य-निर्णय—यह रीतिग्रन्थ है। इसमें काव्यके लक्षण, भेद, ध्वनि, लक्षणा, व्यञ्जना, व्यङ्ग्य, रस, अलङ्कार, दोष इत्यादिका अच्छा वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ सुबोध और हिन्दी-काव्य-प्रेमियोंके लिये मनन करने योग्य है। यह संवत् १८०३ में बना।

(६) शृङ्गार-निर्णय—यह ग्रन्थ संवत् १८०७ में बना। इसमें नायिका-भेद, नायक-वर्णन, उद्दीपन विभाव, अनुभाव आदि भलीभाँति वर्णित हैं। संभवतः यही दासजीका अन्तिम ग्रन्थ है। संवत् १८०७ के थोड़े ही दिनोंके बाद इनका अन्तकाल भी अनुमित है।

दासजीने संस्कृत-रीति-ग्रन्थोंका भलीभाँति अध्ययन किया था। इन्होंने हिन्दी-साहित्यमें कहीं-कहीं विषयको स्पष्ट करनेके लिये नियमोंमें कुछ परिवर्त्तन भी कर दिया है। इन्होंने स्वयं कहा भी है—

'कहीं बात सिगरी कहे, उलथो होत इकंक।
निज उक्ति हि करि बरनिये, रहे सुकलिपत शंक॥'

एक उदाहरण लीजिये, काव्यप्रकाशमें लिखा है—

'भेदाविमौ च साहृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तदा।
गौणौ शुद्धौ च ....।'

अर्थात् साहृश्यादिगुण-सम्बन्ध जहाँ होता है, वहाँ गौणी और इनके सिवा जहाँ अन्य सम्बन्ध होता है, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। मगर दासजीने विषयको समझानेके लिये या भ्रमवश इसका लक्षण यों दिया है—

'उपादान सो लक्षणा, पदगुन लाखें होइ।'

अच्छा, अब सारोपा लक्षणाका लक्षण भी सुन लीजिये। काव्य प्रकाशमें लिखा है—

'सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।'

अर्थात् जो आरोपित किया जाता है और जहाँ आरोपित होता है और जहाँ इन दोनों विषयी और विषयका कथन हो, वहाँ सारोपा लक्षणा होती है।

किन्तु दासजी इसका लक्षण यों देते हैं—

'और थापिये औरको, क्यों हूँ समता पाय।
सारोपा सो लक्षणा, कहे सकल कविराय॥'

न मालूम, दासजीके समयमें ऐसा कोई रीति-ग्रन्थ रहा हो, जिसके आधारपर इन्होंने ऐसा परिवर्त्तन किया। काव्यनिर्णय वस्तुतः दासजीके पाण्डित्यका प्रखर प्रमाण है।

दासजीने खासकर 'काव्यप्रकाश' और 'चन्द्रालोक'का ही अनुगमन किया है, किन्तु ऐसा करनेमें इन्होंने 'मक्षिकास्थाने मक्षिका'की कहावतको चरितार्थ नहीं किया है, वरन् अपनी समुज्ज्वल प्रतिभासे उसमें चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। आचार्य मम्मटने काव्यप्रकाशमें काव्यका प्रयोजन यह लिखा है—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मितपरोपदेशयुजे॥'

अर्थ—काव्यसे यश, धन, व्यवहार, ज्ञान, अकल्याणका नाश, तत्काल दुःखकी समाप्ति और मनोहारिणी प्रेयसीके कहे उपदेशोंके समान उपदेशकी प्राप्ति होती है।

दासजीने उदाहरणके साथ इस प्रकार काव्यका प्रयोजन बतलाया है—

"एक लहे तप-पुंजनको फलु
ज्यों तुलसी अरु सूर गुसाईं,
एक लहे बर सम्पति केशव
भूषण ज्यों बर बीर बड़ाई।
एकनको यश ही ते प्रयोजन

है रसखानि महीमकी नाईं,
'दास' कवित्तनि की रचना
मतिमन्तनि को सुख दै सब ठाईं ॥

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उदाहरणोंके साथ किसी बातका प्रभाव ज्यादा स्थायी होता है।

कविता-रचना आसान नहीं; ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा चाहिये, कवियोंकी संगति चाहिये और लोक-व्यवहारका ज्ञान भी चाहिये। तब कहीं सुन्दर कविता करनेकी योग्यता प्राप्त होती है। दासजी कहते हैं—

"सक्ति कवित्त बनाइबेकी जेहि
जन्म नक्षत्र मैं दीन्हीं विधातैं।
काव्यकी रीति सिखी सो कवीन—
सौं देखी सुनी बहु लोककी बातैं ॥
दासजू जामैं एकत्र ये तीनौं
बने कविता मनरोचक तातैं।
एक बिना न चलै रथ जैसे
धुरंधर सूतकी चक्र निपातैं ॥"

दासजीकी इस सवैयापर इनके पूर्ववर्ती कविवर तोषकी सवैयाकी छाप पड़ी है। वह सवैया भी सुन लीजिये—

"एक तौ भालहि मैं कविता कवि
तोष कवित्तकी सक्ति सचै जू।
दूसरे काव्यकी रीति पढ़ै औ
कवीन सौं प्रेमके नेम मचै जू ॥
तीसरे बैन सिखै ब्रजके सब
तौ कविसो कविताई रचै जू।
ज्यों कथ चून सुपारी बिहून
कहूँ न कहूँ मुख पान रचै जू ॥"

देखा आपने? तोषजी कविताके लिये केवल ब्रज-भाषाका सीखना आवश्यक समझते हैं, किन्तु दासजी विविध प्रकारकी भाषाओंके अध्ययनकी सलाह देते हैं। उनकी रायमें—

"तुलसी गंगा दोउ भये, सुकविनके सरदार।
जिनकी कवितामें मिली, भाषा विविध प्रकार ॥"

गो० तुलसी दासजी और कवि गंगकी कविताओंकी भाँति विविध भाषा-सम्पन्न कविताओंका अध्ययन आवश्यक है। दासजीको ब्रजभाषापर पूरा अधिकार था। माननीय मिश्रबन्धु लिखते हैं—"दासकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है।" इसीसे इनकी रचना बड़ी ही मधुर और मनोहारिणी भी हुई है।

महाकवि अमरुकका यह प्रसिद्ध श्लोक है—

'शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीम्
लज्जा नम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरंचुम्बिता ॥"

नायक और नायिका पलंगपर लेटे हुए हैं। नायिकाकी प्रेम-परीक्षाके निमित्त नायक छलसे सो गया है। नायिकाके हृदयमें, उस निर्जन स्थानमें, रति-भावका उदय हो गया। वह धीरेसे पलंगपरसे उठी और गम्भीर दृष्टिसे पतिको देखती हुई उसका मुँह चूम लिया। इससे नायकके मुँहपर रोमाञ्च हो आया। नायिका लजाकर नीचेकी ओर देखने लगी। नायक हँस पड़ा और अपनी लजीली प्यारीको गलेसे लगा लिया!

इस भावको दासजीने किस खूबीसे अपनाया है, देखिये—

'मिस सोइयो लालको मानसही
सुहरै उठि भौन महा धरिके,
पटु टारि रसीली निहारि रही
मुखकी रुचिको रुचिको करिके।
पुलकावलि पेखि कपोलन मैं
सुख स्याइ लजाइ मुरी अरके।

लखि प्यारो बिनोद सौं गोद
गह्यौ उमह्यौ सुखमोद हियो भरिकै ॥"

अमरुककी नायिका लजीली जरूर है; परन्तु उसने मुँह चूम लिया तब नायकके मुँहपर सात्त्विक भावका चिह्न (रोमांच) नजर आया; किन्तु दासजीकी नायिका उससे अधिक लजीली जान पड़ती है और उसके जरा कपड़ा हटाकर प्रेमपूर्वक देखने मात्रसे ही नायकके कपोलोंपर सात्त्विक भाव (पुलकावलि) स्पष्ट लक्षित हो जाता है। विदग्ध पाठक इतनेसे ही समझ लेंगे कि कौन कितने पानीमें है।

हाँ, मिश्र बन्धुओंके शब्दमें 'काइयाँ' विहारी-लाल भी—जो दासजीके पूर्ववर्त्ती कवि थे—अमरुकके उक्त श्लोकका भाव ले उड़े हैं। उनका दोहा भी देख लीजिये—

'मैं मिसहा सोयो समुझि, मुँह चूम्यौ ढिग जाय।
हँस्यौ खिसानी गर गह्यौ रही गरे लपटाय'

बिहारीलालकी नायिका कुछ ढीठ और निर्लज्ज मालूम होती है। वह केलि-गृहकी यह वारदात अपने सखियोंको सुनाती है। वह कहती है, मैंने उस बहानेबाज़ (पति)को सोया समझा और नजदीक जाकर मुँह चूम लिया। वह हँस पड़ा मैं खिसिया गयी। उसने गला पकड़ लिया। मैं क्या करती, उसके गलेसे लिपट गयी। जान पड़ता है कि विहारीजीकी नायिकाकी यह करतूत उसकी सखियाँ देख रही थीं और नायिकाने भी शायद यह भाँप लिया था; इसलिये अपनी सखि-योंसे वह टालमटूल नहीं कर सकी।

लाला मार्कण्डेयलाल उपनाम चिरजीवी कविने अपने रस-ग्रन्थ लक्ष्मीश्वर विनोदमें भगवान्‌के दस अवतारोंकी भाँति दस कवि-विभूतियोंके भी नाम गिनाये हैं। इनमें दासको श्रीरामचन्द्रका अवतार माना है।

"मच्छ ऐसो केसव सुकच्छ ऐसो चिन्तामनि
सुन्दर बराह जाको लेत नित नाम हौं।
भूषन नृसिंह बेस बामन बिहारीलाल
परसुराम राम देव दास आठो जाम हौं।
कहैं चिरजीवी कृष्ण ठाकुर बउध गंग,
पद्माकर कलंकी विदित सब ठाम हौं,
दस अवतार रूप ईश्वर कवीश्वर को
नित कर जोरि-जोरि करत प्रनाम हौं।"

गोस्वामी तुलसीदासजी

प्रो० अक्षयवट मिश्र 'विप्रचन्द्र"

इस अगाध संसार महासागरके विशाल वक्षः-स्थलसे एक अत्यन्त अमूल्य रत्न, भारतवर्षके असीम सौभाग्यसे, उत्पन्न हुआ था, जिसके पवित्र प्रकाश-से हमलोगोंके पापान्ध-निर्बल नेत्रोंकी ज्योति बढ़ी

है; अन्धकार दूर हुआ है। हृदयकी विशाल वेदना विनष्ट हुई है। हमलोगोंने उसी निर्मल रत्नकी देदीप्यमान दीप्तिके सहारे भूला हुआ धर्मरूपी दुर्लभ तथा प्राणोपम धन प्राप्त किया



गोस्वामी तुलसीदासजी

है। उसीके प्रकाशसे हमलोगोंको परमपवित्र कल्याणास्पद शीतल छाया परिपूर्ण वेद-शास्त्रानुमोदित सनातन धर्मपथ दृष्टिगोचर हुआ है। यदि उस समयपर उस उज्ज्वल रत्नका प्रकाश प्रसरित न होता, तो न जानें किस अज्ञान महागर्तमें हमलोगोंका अधःपतन हो जाता। इतना तो सभी लोग अनुभव कर सकते हैं कि उसी निर्मल रत्नके प्रकाशके अवलम्बसे हमलोग अपना रूप अवलोकन कर सकते हैं। नहीं तो जिस रूपमें हमलोग वर्त्तमान हैं, वह रूपान्तरित हो जाता।

जिस समय मुगल सम्राट् अकबर हिन्दू और यवनको वैवाहिक सम्बन्ध-शृङ्खलासे बाँधकर अपना राज्य सर्वदाके लिये अचल और आर्य (हिन्दू) शब्दका प्रभेद निर्मूल करना चाहते थे, उसी समय इस महारत्नने अपने प्रखर प्रकाशसे हमलोगोंकी जड़ता दूर की और अपने रामायण महाकाव्यकी परमोपयोगिनी सकल भवव्याधि विनाशिनी रचनासे समस्त हिन्दू-धर्मोंकी रक्षा की। जबतक इस भूमण्डलपर यह सनातन धर्म जीवित रहेगा, तबतक गोस्वामीजीकी कमनीय कीर्त्ति-पताका भारतके वक्षःस्थलपर फहराती रहेगी। अब उनका जीवन-चरित लिखना सूर्यको दीपकके प्रकाशके सहारे ढूंढ़ना है। कोई ऐसा भारतीय नहीं है, जो गोस्वामीजीके परम पवित्र प्रातस्मरणीय नामसे अपरिचित हो। मैं केवल अपनी कलि-कल्मष-कलुषित कालिमा-मलिनमुखी लेखनीको पवित्र करनेके ही लिये उनके गौरवपूर्ण गुणगान करनेमें प्रवृत्त हुआ हूं।

जगद्वन्द्य चरणयुगल, प्रातस्मरणीय, कविकुल-कुमुद-कलाधर, कविता-कानन-कमनीय कोकिल, स्वकीय-सुन्दर सरस साहित्यसे संसारको सुगन्धित करनेवाले, रामचन्द्र-चरण-चतुरचञ्चरीक, जगज्जननी जानकी-जीवन-जागरूक दास श्री-गोस्वामी तुलसीदासजी केवल कोरे कवि ही नहीं थे; किन्तु समाज-सुधारक, कुरीति-संशोधक तथा धर्म-प्रचारक भी थे। यदि उनका अवतार न होता, तो सनातन धर्म रसातलमें विलीन हो जाता। किन्तु उन्होंने रामायणकी रमणीय रचनासे आबाल वृद्ध वनिताके मनको मोहित कर भक्ति-मार्गका परम प्रवीण पथिक बना दिया। सभीने एकस्वरसे उनके सुरागमें अपना आलाप मिला दिया। गोस्वामीजीकी भक्तिभावित भावुकताने भारतीयोंके भव्य हृदयमें अपना विशाल भवन बना लिया। ये कमनीय कामिनियोंके कोमल केश-कलापकी कोमल कविता संकलित कर कवियोंको कामी बनाना नहीं चाहते थे; वरन सभीको भक्त तथा सदाचारी बनाकर संसारको सुधारना चाहते थे। करुणासागरकी असीम अनुकम्पासे अपने इस सुकार्यमें ये सब प्रकारसे सफल भी हुए।

ये सच्चे भक्त थे और सभीको भगवद्भक्त बनाना चाहते थे। इन्होंने अपने किसी ग्रन्थमें शृङ्गार रसको पूर्ण स्थान नहीं दिया। इसीलिये श्रीरघुकुलकमल-दिवाकर, मर्यादा पुरुषोत्तम,

दशरथनन्दनके 'नखसिख' वर्णनमें अपनी सारी साहित्य-कला प्रदर्शित कर दी; किन्तु श्रीजनक-ललीके वर्णनमें केवल—

"सब उपमा कवि रहीं जुठारी।
केहि पटतरिय विदेह कुमारी।"
"सोह नवल तन सुन्दर सारी।
जगत जननि अतुलित छबि भारी।"
"भूषण सकल सुदेस सुहाये।
अंग-अंग रचि सखिन्ह बनाये।"
"रंगभूमि जब सिय पगुधारी।
देखि रूप मोहे नर-नारी।"
"सखिन मध्य सिय सोहति कैसी।
छविगन मध्य महा छवि जैसी।"

इत्यादि कहकर ही चुप रह गये। फिर प्रेम-भावके वर्णनमें श्रीरघुकुलनन्दनने जनकललाका अवलोकन कर—

"परम प्रेममय मृदुमसि कीन्ही।
चारु चित्र भीतर लिख लीन्ही।"
"हृदय सराहत सीय लुनाई।
गुरु समीप गमने दोउ भाई।"

इतना ही कहकर सन्तुष्ट हो गये। कैसा पवित्र शृंगार है कि जो चित्तमें तनिक भी निन्द्य विकार उत्पन्न होने नहीं देता!

गोस्वामीजीकी दृष्टि सर्वतोमुखी थी। ये केवल कोरी, कल्पित कथा ही लिखनेमें लीन नहीं रहते थे, अपितु देश-काल-पात्रका भी ध्यान रखते थे। इसलिये इनके ग्रन्थोंमें समाज-सुधार धर्म-प्रेम, कुरीति-संशोधन, घरेलू प्रथा, पितृभक्ति, मातृभक्ति, सौभ्रात्र, पातिव्रत्य, इष्टमैत्री इत्यादि सभी उपादेय विषयोंपर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। यद्यपि इनके सभी ग्रन्थ उत्तम और उपयोगी हैं, तथापि "राम-चरित-मानस" तो सर्वोत्तम, अद्वितीय, अनुपम तथा अमूल्य है। इसके समान भारतवर्षमें दूसरा प्रचलित, प्रसिद्ध, सर्वजन सुबोधगम्य तथा मनोहर ग्रन्थ नहीं है। विशेषता तो इसमें यह है कि इस ग्रन्थके पाठसे जैसा आनन्द षट्शास्त्र ज्ञाताको, अपनी बुद्धिके अनुसार, मिलता है, वैसा ही आनन्द मन्द बुद्धिवालेको भी, अपनी बुद्धिके अनुसार, मिलता है। इसीलिये इसका प्रचार गगनचुम्बी भवनोंसे लेकर पत्तोंकी झोपड़ियों तक हो गया है। इसके अनन्तर दूसरा स्थान "विनय-पत्रिका" का है। इसमें बड़ी मार्मिकता, नम्रता तथा रोचकतासे भक्तिमार्गका अवलोकन कराया गया है। इसके प्रारम्भिक संगीतबद्ध पद्य बड़े ही गम्भीर और विद्वत्तापूर्ण हैं।—

गोस्वामी तुलसीदासजीके बनाये निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

१ राम-चरित-मानस या रामायण २ विनयपत्रिका, ३ दोहावली, ४ गीतावली, ५ कवित्त रामायण, ६ राम-सतसई या तुलसी-सतसई, ७ रामाज्ञा, ८ रामलला नहछू, ९ वैराग्य संदीपनी, १० बरवैरामायण ११ पार्वती-मङ्गल, १२ जानकीमङ्गल, १३ कृष्ण गीतावली, १४ संकट-मोचन, १५ हनुमद्बाहुक, १६ रामसलाका, १७ छन्दोवली, १८ छप्पय रामायण १९ कड़खा रामायण, २० रोला रामायण, २१ झूलना रामायण और २२ कुण्डलिया रामायण।

मेरी समझमें मृत महात्माओंका ही जीवन-चरित लिखना आवश्यक है। तुलसीदासजी मरे नहीं हैं, जबतक उनका काव्य-कलेवर वर्तमान है और रहेगा, तबतक वे जीवित ही हैं और रहेंगे। सत्य बात तो यह है कि, ये अब आकल्पान्त नहीं मरेंगे और इनके ग्रन्थ भी आकल्पान्त नहीं मरेंगे तथा इनके ग्रन्थ भी आकल्पान्त लुप्त न होंगे। भारतवर्षमें रामायणके अगणित संस्करण

हो चुके हैं और उनमें गोस्वामीजीके चरित भी यथाशक्ति प्रकाशित हो चुके हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीका जन्म (अधिक सम्मतिसे) विक्रम संवत् १५८९ में हुआ। इनका जन्मस्थान 'राजापुर' सर्वसम्मत है। ये सरयूपारीण (सरवरिया) ब्राह्मण थे। प्रपितामहका नाम "परशुराम मिश्र", पितामहका नाम "रुद्रनाथ मिश्र," पिताका नाम "आत्माराम" और माताका नाम 'हुलसी" था। इनका नाम बाल्यावस्थामें 'तुलाराम' और "रामबोला" भी था। गुरुका नाम 'नरहरिदास' था। ये रामानन्दजीके बारह शिष्योंमें थे। बहुतसे लोग इनके गुरुका नाम 'रामदास' कहते हैं। गोस्वामीजीका विवाह दीनबन्धु पाठककी कन्या रत्नावलीसे हुआ था। जिससे तारक नामक पुत्र हुआ था जो बाल्यावस्थामें ही स्वर्गवासी हो गया था। तुलसी-चरित नामक ग्रन्थके अनुसार इनके तीन विवाह हुए। तीसरा विवाह कंचनपुर ग्रामके उपाध्याय लछमनकी कन्या "बुद्धिमती"से हुआ था। इसीके उपदेशसे गोस्वामीजी विरक्त हुए थे। विरागावस्थामें प्रायः ये अयोध्या, चित्रकूट और काशीमें रहा करते थे। अन्तमें काशीमें ही इनकी मृत्यु हुई। एक भूतके परामर्शसे हनूमान्‌जीके द्वारा इन्हें श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन प्राप्त हुआ था। इनका 'खान-खाना' और माहाराजा मान सिंहसे बड़ा स्नेह था। इन्होंने अपनी भक्तिके प्रभावसे एक मुर्दको जिला दिया। एकबार बादशाहने इन्हें कैदकर लिया था; किन्तु इनका प्रभाव देखकर छोड़ दिया। भक्तिके ही प्रभावसे वृन्दावनमें श्रीकृष्णमूर्त्ति राममूर्त्ति बन गयी। मीराबाई तथा सूरदासजीसे भी इनका पूरा परिचय था। इनका देहान्त विक्रम संवत् १६८० श्रावण शुक्ला सप्तमीको, काशीके असी घाटपर हुआ।

तुलसीदासके पद्योंमें अलङ्कारोंका समूह देख कर अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। भावकी गम्भीरता तो कहीं-कहींपर ऐसी झलकती है कि जिसमें अत्यन्त आश्चर्य होता है और विवश होकर भूरि-भूरि प्रशंसा करनी हो पड़ती है। आपने रामललाजी तथा लखनलालजीका 'नखसिख' इस प्रकार वर्णन किया है—

"पीतवसन परिकर कटिभाथा।
चारुचाप सर सोहत हाथा।
तनु अनहरत सुचंदन खोरी।
स्यामल गौर मनोहर जोरी।
केहरि कंधर बाहु बिसाला।
उर अति रुचिर नाग मनिमाला।
सुभग सोन सरसी रुह लोचन।
बदन मयंक तापत्रयमोचन।
कानन्हि कनक फूल छबि देही।
चितवत चितहि चोरि जनु लेही।
चितवनि चारु भृकुटि बर बाकी।
तिलक रेख सोभा जनु चाकी।
रुचिर चौतनी सुभग सिर,
मेचक कुंचित केस।
नखसिख सुंदर बँधु दोउ,
सोभा सकल सुदेस।"

दूसरी जगह फिर लिखते हैं कि—

"सोभा सींव सुभग दोउ बीरा।
नील-पीत जलजाभ सरीरा।
मोरपंख सिर सोहत नीके।
गुच्छा बिच-बिच कुसुम कलीके।
भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाये।
स्रवन सुभग भूषण छबि छाये।

विकट भृकुटि कच घूँघरवारे।
नव सरोज लोचन रतनारे।
चारु चिबुक नासिका कपोला।
हास विलास लेत मनु मोला।
मुख छवि कहि न जाइ मोहि पाहीं।
जो बिलोकि बहु काम लजाहीं।
उर मनिमाल कंबु कल ग्रीवा।
काम कलभकर भुजबल सींवा।
सुमन समेत वाम कर दोना।
साँवर कुअँर सखी सुठि लोना।"
इसी प्रकार लिखते हैं—
"सहज मनोहर मूरति दोऊ।
कोटि काम उपमा लघु सोऊ।
सरदचंद निंदक मुख नीके।
नीरज नयन भावते जीके।
चितवनि चारु मारमद हरनी।
भावत हृदय जात नहिं बरनी।
कलकपोल स्रुति कुंडल लोला।
चिबुक अधर सुन्दर मृदु बोला।
कुमुद बंधुकर निन्दक हासा।
भृकुटी बिकट मनोहर नासा।
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं।
कच बिलोकि अवलि लजाहीं।
पीत चौतनी सिरन्ह सुहाई।
कुसुमकली बिच बीच बनाई।"

'कुंअर मनि कंठा कलित उरन्ह तुलसिका माल।
वृषभ कंधर केहरि ठवनि बलनिधि बाहु बिसाल।
कटि तूनीर पीत पट बाँधे।
कर सर धनुष बाम बर काँधे।
पीत जग्य उपबीत सुहाये।
नखसिख मंजु महा छवि छाये।"
है

अब केवल श्रीरघुनाथजीका वर्णन सुनिये—
"स्याम सरीर सुभायँ सुहावन।
सोभा कोटि मनोज लजावन।
जावक जुत पद कमल सुहाये।
मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाये।
पीत पुनीत मनोहर धोती।
हरति बाल रवि दामिनि जोती।
कल किंकिनि कटिसूत्र मनोहर।
बाहु बिसाल बिभूषन सुन्दर।
पीत जनेउ महाछवि देई।
कर मुद्रिका चोरि चित लेई।
सोहत ब्याह साज सब साजे
उर आयत भूषण उर राजे
पिअर उपरना काखासोती।
दुहुँ आचरन्हि लगे मनिमोती।
नयन कमल कल कुंडल काना।
बदन सकल सौन्दर्ज निधाना।
सुंदर भृकुटि मनोहर नासा।
भालतिलक रुचिरता निवासा।
सोहत मौर मनोहर माथे।
मंगलमय मुकुता मनिगाथे।"
भाव-गाम्भीर्यकी एक अत्यन्त ही अनुपम दशा देखिये। बनवास हो गया। तीनों रास्तेमें चले जा रहे हैं। उस समय ग्रामकी स्त्रियाँ पूछती हैं कि—
"बार-बार सब लागहिं पाये।
कहहिं बचन मृदु सरल सुभायें॥
राज कुमारि बिनय हम करहीं।
तिय सुभाय कछु पूछत डरहीं॥
स्वामिनि अविनय छमबि हमारी।
बिलगु न मानब जानि गँवारी॥
राज कुँअर दोउ सहज सलोने।
इन्हते लहि दुति मरकत सोने॥

श्यामल गौर किसोरवर, सुन्दर सुषमा ऐन।
सरद-सर्बरी नाथमुख, सरद्-सरोरुह नैन॥
कोटि मनोज लजावनि हारे।
सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी।
सकुचि सीय मनमहँ मुसुकानी॥"

अब श्रीजानकीजीका परम प्रवीणतापूर्ण उत्तर सुनिये, जिसका गाम्भीर्य सहृदय ही समझ सकता है—

"तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी।
दुहुँ सँकोच सकुचति परबरनी॥
सकुचि स प्रेम बालमृगनैनी।
बोली मधुर बचन पिकबैनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे।
नाम लखनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी।
पियतन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि।
निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि॥"

देखा कैसा मनोहर मूक उत्तर है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि, तुलसीदासजी अद्वितीय कवि थे, तथापि इनमें अभिमानका लेशमात्र भी नहीं था। ये अपनी रामायणकी भूमिकामें स्वयं लिखते हैं कि—

"कबि न होउँ नहिं चतुर प्रबीनू।
सकल कला सब बिद्या-हीनू॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरे।
सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥
बंचक भगत कहाइ रामके।
किंकर कंचन कोह कामके॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी।
धिग धर्मध्वज धँधरक धोरी॥
जौं अपने अवगुन सब कहऊँ।
बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ॥"

मैं तो यह कहूँगा कि—

कविताकामिनीकान्तो रामभक्तशिरोमणिः।
अमरस्तुलसीदासो रामायणशरीरवान्॥

फिर भक्ति पूर्वक नतमस्तक होकर—

रटन्तं रामरामेति काव्यकाननकोकिलम्।
हिन्दीभाषासुकाव्यानां व्यासवाल्मीकिरूपिणम्॥
वैष्णवं विमलज्ञानं रामभक्तिप्रसारकम्।
श्रीसनातनधर्मस्य रक्षकं प्रियशङ्करम्॥
सुन्दरं मधुरालापं मानहीनं महामतिम्।
जानकीचरणाम्भोजचञ्चरिकं विरागिणम्॥
श्रीराममुखचन्द्रस्य चकोरं चतुरं कविम्।
नमामि तुलसीदासं जरामरणवर्जितम्॥

कृत्तिवास

श्रीयुत परमानन्ददत्त 'परमार्थी'

बौद्धोंने अपने उत्थान-कालमें अन्य स्थानोंकी भाँति बंगालमें भी प्राकृतमय बँगला-भाषाको अपनाया था। पौराणिक जागृतिके साथ-साथ जब बौद्ध-धर्मका ह्रास होने लगा, तब स्वभावतः प्राकृतके स्थानपर संस्कृतका साम्राज्य भी शनैः-शनैः स्थापित हो चला। धार्मिक और सामाजिक क्रान्तिके साथ-साथ साहित्यिक क्रान्ति भी होने लगी और उसमें बौद्धोंके शून्यवादके स्थानपर ईश्वरकी भक्ति, पौराणिक देवताओंका यशोगान एवं ब्राह्मणोंका सम्मान प्रतिपादित होने लगा। यह समय बंग-साहित्यका विकास-काल कहलाता है। इस विकास-कालमें रामायण, महाभारत तथा पौराणिक गाथाओंके, बंगला-भाषामें, एक नहीं अनेक अनुवाद हुए।

इस विकास-कालके महाकवियोंमें कृत्तिवासका नाम अमर है। इनका जन्म सन् १३४६ ई० में हुआ था। ये संभवतः बहुत दिनोंतक जीवित रहे; क्योंकि गोस्वामी तुलसीदासजीकी जीवनीके लेखक स्वर्गीय बाबू शिवनन्दनसहायके कथनानुसार कृत्तिवास महाराजा मानसिंह द्वारा सम्मानित हुए थे। उस समय महाराजा साहब सम्राट् अकबरकी आज्ञासे बंग-विजय करनेके लिये बंगाल आये हुए थे। इतिहासका साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि उक्त सम्राट्ने सन् १५५५ ई० से सन् १६०५ ई० तक राज्य किया था।

महाकवि कृत्तिवासने अपनी बंगला-रामायणमें कहीं-कहीं संक्षिप्त रूपसे आत्मचरित भी लिखा है। इससे जान पड़ता है कि ये कुलीन ब्राह्मण थे। ये सुप्रसिद्ध नैषधीय चरितके रचयिता श्रीहर्षके वंशज थे। आज-कल कुछ विद्वानोंका अनुमान है कि श्रीहर्ष मैथिल ब्राह्मण थे। ये कन्नौज-नरेशके दरबारमें अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे *। राजा आदिसूरके कहनेसे ये लोग कन्नौजसे आकर पूर्वीय बंगालमें बस गये। प० नरसिंह झा श्रीहर्षके वंशज थे। तेरहवीं शताब्दीके आरम्भमें जब फकीरुद्दीनने पूर्वीय बंगालपर चढ़ाई की, तब उन लोगोंने वहाँसे हटकर चौबीस परगनाके कुलिया नामक गाँवको अपना वासस्थान बनाया। प० नरसिंह झाके पुत्र गर्वेश्वरझा अपनी उदारताके लिये प्रसिद्ध थे। उन्हींके वंशमें मुरारि झा बड़े ही प्रसिद्ध हुए। महाकवि कृत्तिवास उन्हीं मुरारि झाके पौत्र थे।

महाकवि कृत्तिवास बचपनसे ही एक अच्छे संस्कारसम्पन्न और प्रभूत प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ये एक संस्कृत पाठशालामें पढ़ने लगे। वहाँ कुछ वर्षों तक रहकर, अपने बुद्धि-वैलक्षण्यसे, इन्होंने व्याकरण और साहित्यमें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

अध्ययन समाप्त कर ये तत्कालीन गौड़ाधिपतिके दरबारमें उपस्थित हुए। वहाँके राजा साहब काव्यके बड़े रसिक थे। कृत्तिवासकी काव्य-प्रतिभापर मुग्ध होकर उन्होंने इनसे रामायणका पद्यानुवाद करनेका अनुरोध किया। इस घटनाका वर्णन बादके कई लेखकोंने किया है।

---

* श्रीहर्षने स्वयं ही लिखा है—'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।'—लेखक

इन्होंने बंग-भाषाके सुललित और मधुर छन्दोंमें रामायणका सरस अनुवाद किया है। इन्होंने लिखा भी है—

'कृत्तिवास पंडितेर मधुर पाँचाली।
आदिकांड गाहिलेन प्रथम शिकली॥'

अर्थात् कृत्तिवास पंडितका पाँचाली छन्द अत्यन्त मधुर होता है, (जिसमें इन्होंने) आदिकांडको प्रथम शिकली गायी है।

ये रामायणका अनुवाद-कार्य करनेमें अपनेको कृतकृत्य समझते थे। लिखा है—

'कृत्तिवास पंडितेर जन्म शुभक्षण,
लंकाकांड गाहिलेन गीत रामायण।'

अर्थात् कृत्तिवास पंडितका जन्म शुभ मुहूर्तमें हुआ है, जिससे उस (कवि)ने रामायणका लंकाकांड गीतोंमें गाया है।

इन्होंने सुप्रसिद्ध वाल्मीकि-रामायणके आधार-पर अपनी रामायणकी रचना की है। अनुवादको भी इन्होंने, गोस्वामी तुलसीदासजीकी भाँति, मौलिकताका जामा पहना दिया है। एक नमूना देखिये। हनुमन्नाटकका एक प्रसिद्ध श्लोक है—

"मनसि वचसि काये जागृते स्वप्नमार्गे,
यदि मम पतिभावो राघवादन्य पुंसि।
तदिह दह (!) ममाङ्गं पावकः पावकाङ्गं,
सुकृतदुष्कृतभाजां त्वं हि कर्मैकसाक्षी॥"

सीताजी लंकामें अग्निकुण्डके समीप जाकर कहती हैं—

यदि मन, वचन और शरीरसे भी, सोने या जागतेमें, मैंने रामजीके सिवा किसी दूसरे पुरुषमें पति-भाव माना हो, तो हे पावक (अग्नि)! तुम मेरे शरीरको जला डालो; क्योंकि तुम सबको पवित्र करनेवाले एवम् अच्छे-बुरे कर्मोंके एक मात्र साक्षी हो।

इस स्थलपर कृत्तिवासने यह लिखा है—

"एत बलि सीतादेवी अन्तरे व्यथित।
अग्निकुण्ड समीपे हइल उपनीत॥
सीता बले साक्षी हय सकल देवता।
राम बिने अन्ये जाने यदि रामेर वनिता॥
तबे मोर एइ अंग छारखार हय।
निरमल सूर्य-वंशे कलङ्क रहिब॥
राम बिने आमि यदि अन्ये नाहि जानि।
तबे मोर देह-रक्षा करिबे आगुनि॥
कृत्तिवास पंडितेर कवित्व मधुर।
शुनिले परमानन्द पाप जाय दूर॥"

यह कह कर हृदयसे दुःखित होती हुई सीता अग्निकुण्डके पास जाकर कहने लगी—'हे देवताओ, तुमलोग साक्षी हो। यदि रामकी सीता रामके सिवा दूसरेको जानती हो, तो मेरा यह अंग जलकर राख हो जाय—जिससे निर्मल सूर्य-कुलमें कलङ्क न लगने पावे। यदि मैं रामके सिवा किसी दूसरेको नहीं जानती तो अग्निदेव, मेरे शरीरकी रक्षा करें।

वाल्मीकि-रामायणके सिवा अन्यान्य रामायणों-की सुन्दर-सुन्दर कथाओंका अनुवाद भी कृत्तिवास-ने अपनी रामायणमें किया है। ये एक स्थानपर लिखते हैं—

'नाहिक ये सब कथा वाल्मीकि रचने
विस्तारिया लिखित अद्भुत रामायणे॥"

अर्थात् ये सब कथाएँ वाल्मीकि-रामायणमें नहीं हैं—अद्भुत रामायणमें विस्तार-पूर्वक लिखी गयी हैं।

इसी प्रकार महानाटक, आनन्द-रामायण, अद्भुत रामायण, योगवाशिष्ठ आदिका आश्रय भी महा-कविने लिया है।

कृत्तिवासकी रामायणका प्रचार बँगालमें उतना ही है, जितना हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तोंमें तुलसीकृत रामचरितमानसका और ईसाइयोंमें बाइबिलका। यह रामायण बंगालके घर-घरमें श्रद्धा-भक्तिके साथ पढ़ी जाती है। महाकविने अपनी प्रतिभाके अनुरूप ही काम किया। इस रामायणने इन्हें अमर कर दिया है। अलंकारादिसे कम सम्बन्ध रखते हुए महाकविने जिन सरल शब्दोंमें जीवनकी अनुभूतियोंको अभिव्यक्त किया है, उन्हींके कारण इनकी कविता सीधे-सादे ग्रामीणोंके हृदयोंमें पैठ जाती और उन पर अपना प्रभाव छोड़ देती है। यह एक समालोचकका मत है।

रामायणकी रचनासे महाकविका यश चारों ओर फैल गया। दूर-दूरके लोग इनके दर्शनोंको आने लगे। महावंशावलीमें लिखा है कि ये बहुत ही अच्छे प्रकृतकवि थे तथा शान्त-प्रकृति और मिलनसार थे।

इनके जीवनके अन्तिम भागका ठीक-ठीक पता नहीं लगता। इनके बनाये दूसरे ग्रन्थका नाम भी अभी तक सुननेमें नहीं आया।

ऐसे अमर कविकी जयन्ती प्रति वर्ष माघकी वसन्त पंचमीको बड़े समारोहके साथ मनायी जाय; क्योंकि उक्त तिथिमें ही इनका धरा-धाममें अवतार हुआ था।

मौलाना हाली

श्रीयुत कमलनारायण झा 'कमलेश'

उर्दू-संसारमें मौलाना हाली सरल कविता रचनेके कारण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनका पूरा नाम शम्सुलउलमा मौलाना अलताफ़ हुसैन 'हाली' था। ये पानीपत (करनाल) के निवासी थे।

इनका जन्म वि० सं० १८९४में हुआ था। जब ये नौ सालके थे, तभी इनके पिता ख्वाजा ईज़ाद बख्श साहबका स्वर्गवास हो गया। इनकी माता पतिवियोग सहन न कर सकी, अतः पगली हो गयी। अब इनकी शिक्षाकी देखरेख करनेवाला कोई न रह गया; परन्तु विद्याकी ओर इनकी स्वाभाविक रुचि थी।

पहले इन्हें कुरान कण्ठस्थ कराया गया, फिर इन्होंने फ़ारसी और अरबी-साहित्यकी शिक्षा प्राप्त की। अब इनकी इच्छा बाहर चलकर उच्च शिक्षा पाने की हुई; परन्तु इनके सम्बन्धियोंने आग्रह करके इनका विवाह एक धनी परिवारमें करा दिया। उस समय इनकी उम्र केवल सत्रह वर्षकी थी। ये विवाहको शिक्षा-प्राप्तिके मार्गमें बाधक समझते थे; अतः अपनी सहधर्मिणीको मायके भेज ये चुपकेसे दिल्ली भाग आये। वहाँ दो वर्षों तक रहकर इन्होंने अरबी-फारसीके उच्च कोटिके साहित्य, छन्दःशास्त्र तथा तर्कशास्त्रका अध्ययन किया। इनकी शिक्षा समाप्त भी न होने पायी थी कि इनके कुछ सम्बन्धी दिल्ली आ धमके और इन्हें घर वापस ले गये।

घर पहुँचकर, स्वाध्यायके बलपर, इन्होंने उपर्युक्त शास्त्रोंका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया। अब इनकी इच्छा धन प्राप्त करनेकी ओर हुई। संवत् १९१३ में इन्होंने हिसारके जिला-मैजिस्ट्रेटके दफ्तरमें एक छोटीसी नौकरी स्वीकार कर ली

किन्तु कई कारणोंसे ये अधिक दिनोंतक वहाँ न रह सके। इन्हें घर वापिस आना पड़ा। इसी समय सिपाही-विद्रोहकी आग भभकी; अतः इन्हें कई सालोंतक घरपर ही रहना पड़ा। घरपर भी ये चुपचाप बैठे न रहते थे। जब कभी मौका मिलता पानीपतके सुप्रसिद्ध विद्वानोंसे मिलकर उनके सदुपदेशोंको सुना करते थे।

कुछ दिनोंके बाद ये पंजाब सरकारके बुक-डिपोट में संशोधक नियुक्त किये गये। इनका काम अँग्रेजीके उर्दू-अनुवादको शुद्ध करना था। इस पदपर ये चार वर्षों तक रहे। फिर लाहोरके एंग्लो-अरबिक स्कूल में मुदर्रिस नियुक्त किये गये। इस पदपर ये संवत् १६४८ तक काम करते रहे।

जब कभी ये दिल्ली जाते, तब मौलाना 'गालिब'से निश्चय ही मिल लेते और उनसे अरबी-फारसीके कठिन शेरोंका अर्थ पूछ लिया करते थे। एक बार इन्होंने फारसीमें कुछ ग़ज़लें लिखकर 'गालिब' साहबको दिखायीं। 'गालिब' साहब अपने मिलने-वालोंको कविता करनेसे रोकते थे; परन्तु हालीकी गजलोंको देखकर वे दिलोजानसे खुश हो गये और बोले—"मेरी आदत है कि मैं किसीको भी शायरी करनेकी राय नहीं देता; लेकिन अगर तुम शायरी न करोगे, तो अपने दिलको दगा दोगे।"

उस समयसे ये 'गालिब'को अपना काव्य-गुरु समझने लगे और रोज नये-नये शेरोंकी रचना करने लगे। संवत् १६३१ में कर्नल हालराइड् नामक एक अँग्रेज सज्जनने एक कवि-समाजकी स्थापना की। उसमें समस्यापूर्तिकी जगह, किसी निर्धारित विषयपर कविता-पाठ किया जाता था। इस कवि समाजमें अपनी रचनाएँ सुनाकर 'हाली' और प्रोफेसर 'आजाद' साहबने उर्दू-कविताकी काया पलट कर दी। उस समय तकके उर्दू कवि काफिया और रदीफके ही फेरमें पड़े हुए थे। हिन्दी-कवियोंकी तरह किसी खास विषयपर क्रमबद्ध कविता करते ही न थे।

'हाली' साहबने उस कवि-सभामें चार मसनवियाँ लिखकर पढ़ी थीं—

(१) बरसात; (२) निशाने उमेद, (३) मनुजरा रहमो इन्साफ, (४) हुब्बे वतन।

उर्दू-संसारमें ये चारो कविताएँ नयी चीज थीं; अतः इनकी प्रसिद्धि खूब बढ़ गयी और लोग इन्हें आदरकी दृष्टिसे देखने लगे।

कर्नल हालराइड् उन दिनों शिक्षा-विभागके प्रधान थे। वे 'हाली' साहबकी कविताओंपर मुग्ध हो गये और इन्हें दिल्लीके एंग्लो-अरबिक स्कूलका अध्यापक बना दिया। कुछ दिनोंके बाद ये लाहोरके चीफ्स कालेजके अध्यापक बनाये गये। परन्तु वहाँ इनका मन न लगा।

जिस समय 'हाली' साहब अरबिक स्कूलमें अध्यापक थे, उसी समय हैदराबाद राज्यके प्रधान मन्त्रीने उस स्कूलका निरीक्षण किया और उर्दू-फारसी एवम् अरबीके सुलेखकों तथा सुकवियोंको वार्षिक वृत्तियाँ प्रदान कीं। उन्हीं वृत्तियोंमेंसे हाली साहबको ७५) मासिक वृत्ति मिलने लगी। जब ये सर सैयद् अहमदके साथ अलीगढ़ कालेज-के डेपुटेशनमें हैदराबाद गये, तब इनकी वृत्ति बढ़ा कर सौ रुपये मासिक कर दी गयी। ये मृत्यु-पर्य्यन्त उस वृत्तिका उपभोग करते रहे।

हाली साहबकी रचनाओंने सभी प्रसिद्ध मुसलमान नेताओंको अपना मित्र बना लिया था। सर सैयद अहमद हाली साहबके बड़े समर्थकोंमें थे। उन्हींके आग्रहसे इन्होंने अपना सुप्रसिद्ध मुसद्दस, लिखा था। इस मुसद्दसमें हालीने अपनी अपूर्व प्रतिभाका परिचय दिया है। सर सैयद अहमद इस मुसद्दसको पढ़कर निहायत खुश हुए और अपने पत्रमें उसकी खूब तारीफ की। इस मसद्दसका अनुवाद पश्तो और सिन्धी भाषा-

ओंमें हो गया है। हिन्दीके सुप्रसिद्ध कवि बाबू मैथिलीशरणर गुप्तकी भारतभारती नामक ग्रन्थकी कविताएं भी इसी ढर्रेकी हैं। जिस तरह भारत-भारतीके पद्योंकी हिन्दीप्रेमी बड़े प्रेमके साथ पढ़ते और गाते हैं, उसी तरह हाली साहबके मुसद्दसको भी उर्दू-प्रेमी आदरके साथ पढ़ते और उनके गुणगान करते हैं।

'गालिब' के मरनेपर मौलाना हालीने 'यादगार गालिब' नामक एक पुस्तक लिखी, जो अपने ढंगकी अकेली है। इन ग्रन्थोंके सिवा इन्होंने शेख-शाही और हकीम नासिर खुसरोकी भी जीवनियाँ लिखी हैं। 'हाली' साहब अपने गुरु गालिबकी ही तरह भाषा और भावमें निकट सम्बन्ध स्थापित करनेवालोंमें थे। इनकी कविताओंमें सबसे बड़ी विशेषता भाषाकी सरलता और भावोंकी सुबोधता थी। जिस तरहसे महात्मा तुलसीदासजीकी कविताएँ भावपूर्ण होती हुई भी सरल भाषामें लिखी जानेके कारण हिन्दी-भाषा-भाषियोंकी प्रेम-भाजन बनी हुई हैं, उसी तरह मौलाना हालीकी कविताओं-का भी प्रचार मुसलमानोंके घरमें है।

पहले लोग इनकी कविताओंको कोरी तुकबन्दी समझते थे; परन्तु जब उन्हें उसका मर्म समझमें आ गया, तब थोड़े ही समयमें उनका सर्वत्र प्रचार हो गया। 'हाली' साहबकी "मुनजाते बेवा" नामक पुस्तकका अनुवाद संसारकी करीब दस भाषाओंमें हुआ है। संस्कृत-भाषामें भी इसका अनुवाद किया गया है। इससे बढ़कर इसकी लोकप्रियताका दूसरा कौन उदाहरण हो सकता है?

इनकी रुबाइयोंका अनुवाद अँग्रेजी भाषामें भी हुआ है। वास्तवमें ये उर्दूके महाकवि हो गये हैं।

मौलाना 'हाली' बड़े ही निष्पक्ष गुणग्राहक और मजहबी कट्टरतासे पाक थे। ये कभी किसी-की बुराई न करते थे।

एक बार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके स्वर्गीय सभापति, हिन्दीके उद्भट लेखक एवं सुप्रसिद्ध समालोचक प० पद्मसिंह शर्माने 'सरस्वती' में 'सतसई संहार' नामक एक लेख लिखा, जिसमें प्रसंगवश उन्होंने बिहारीके एक दोहेको उर्दूके एक शेरसे बढ़कर बता दिया। इसपर बड़ा वादविवाद हुआ। आखिर शर्माजीने हाली' साहबको इस मामलेका पंच मुकर्रर किया। हाली साहबने दूधका दूध और पानीका पानी इन्साफ कर अपनी निष्पक्षताका परिचय दिया।

संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि मौलाना हालीने उर्दू-संसारमें युगान्तर उपस्थित कर दिया। उर्दूके कवियोंको गुल, बुलबुल, आशिक, माशूक सैयाद और घोसलोंके बखेड़ोंसे पिण्ड छुड़ा दिया। नीति-कविता लिखनेमें लोगोंने उन्हें शेख साहीके जोड़का माना है। इन्होंने उर्दूके सिवा फारसी और अरबीमें भी कविताएँ लिखी है। इन्होंने अरबीके एक ग्रन्थका अनुवाद किया था, जिसे पंजाब युनिवर्सिटीने छपवाया था।

इनकी विद्वत्ता एवम् कवितापर मुग्ध होकर ब्रिटिश सरकारने वि० स० १९६१ में इन्हें शम्सुल उल्माकी उपाधिसे विभूषित किया था।

ये अलीगढ़ यूनिवर्सिटीके ट्रस्टी बनाये गये और आजीवन इस पदोचित कार्य्यको सुचारु रूपसे करते रहे। वि० स० १९७१ में ये ८४ वर्षकी उम्रमें अपनी अमर कीर्तियोंको छोड़ इस असार संसारसे चल बसे। इनकी कुछ कविताएँ यहाँ मैं पाठकोंके मनोरञ्जनार्थ उद्धृत कर रहा हूँ—

"उनके गुस्सेमें है दिल सोजी सलामतमें है प्यार।
महरबानी करते हैं ना महरबानोंकी तरह॥
कामसे काम अपने उनको जो हो आलम नुक्ताचीं।
रहते हैं बत्तीस दाँतोंमें जुबानोंकी तरह॥
ताने सुन सुन अहमकोंके हँसते हैं दीवाना वार।
दिन बसर करते हैं दीवानोंमें सयानोंकी तरह॥
कीजे क्या हाली न कीजे सादगी गर अख्त्यार।
बोलना आये न जब रंगी बयानों की तरह॥"

× × ×

"है इश्क तबीब दिलके बीमारोंका।
या दर है वह खुद हजार आजारोंका।
हम कुछ नहीं जानते पै इतनी है खबर।
इक मशगला दिलचस्प है बेकारोंका॥"

× ❀ ❀

"वइजाने कहा कि वक्त सब जाते हैं टल।
इक वक्तसे अपने नहीं टलती तु अजल॥
की अर्ज यह इक सिठने उठकर कि हुजूर।
है टैक्सका वक्त भी इसी तरह अटल॥"

रानाडे

प० रामनिवास शर्मा

महामति रानाडेका जन्म नासिक जिलेके निफाड ग्राममें, सन् १८४२ के मंगल बारको, संध्या समय, हुआ था। इनकी माताका नाम गोपिकाबाई और पिताका नाम गोविन्द भाऊ था।

रानाडे अनेक भाषाओंके विद्वान् थे। अंग्रेजी, संस्कृत और मराठीपर तो इनका पूरा आधिपत्य था। हिन्दू-धर्म-शास्त्र और अंग्रेजी कानूनके ये विशेषज्ञ थे। इतिहास, अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र और राजनीतिके अद्वितीय ज्ञाता थे। अंग्रेजी और मराठीके अच्छे लेखक तथा वक्ता थे। इनके मराठीके शिक्षक तात्या दिवेकर थे। रानाडेने बी० ए० और बी० ए० आनर्सकी परीक्षाएँ पास की थीं। अन्तमें ये एम० ए० भी बना दिये गये थे। ये बी० ए० आनर्सकी परीक्षाको छोड़कर अन्य सब परीक्षाओंमें प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए थे। एल-एल० बी०में भी प्रथम श्रेणीमें ही आये थे। अपने अध्ययन-कालमें, अपनी योग्यताके कारण, इन्होंने बहुत दिनों तक २०) रु० मासिककी छात्रवृत्ति पायी और पठन-कालमें ही ये जूनियर दक्षिण फेलो चुने जानेसे बहुत दिनोंतक ६०) रु० मासिक भी पाते रहे; फिर तीन वर्षोंतक सीनियर दक्षिण फेलोके पदपर रहकर १२०) रु० मासिक भी पाते रहे। इन्हें बी० ए० आनर्सकी परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके उपलक्षमें एक स्वर्ण-पदक और दो सौ रुपये पारितोषिक मिले थे। विद्यार्थि-कालमें ये एक प्रशंसनीय विद्यार्थी समझे जाते थे।

रानाडेका स्वास्थ्य बचपनमें बहुत खराब था। बादमें भी कुछ ऐसा ही रहा। बी० ए० की परीक्षा देनेके बाद तो इन्हें लगातार छः मासोंतक आँखोंपर हरी पट्टी बाँधनी पड़ी थी। इनकी आँखोंकी पीड़ा प्रायः जन्मभर थोड़ी बहुत बनी ही रही; परन्तु इसके कारण इन्होंने कभी भी लिखना-पढ़ना नहीं छोड़ा। हाँ, जब कभी पीड़ा बढ़ जाती थी तब पुस्तकोंको स्वयं न पढ़कर दूसरोंसे सुना करते थे! रातको यदि कोई विशेष कार्य न होता, तो ग्यारह बजे राततक वे पढ़ते ही रहते थे। जीवनके अन्तिम

दिनोंमें जब डाक्टरोंने कारणवश इन्हें रोगका नाम नहीं बताया, तब इन्होंने स्वयं चिकित्सा-शास्त्रकी पुस्तकें पढ़कर अपने रोगका ठीक नाम स्वयम् बता दिया था। एक बार एक अँग्रेज इनकी विद्वत्ता और स्मरण-शक्तिकी तारीफ़ सुनकर इनसे मिलने आया। दैवात् आरम्भमें ही घोड़ोंकी बात चल पड़ी, तो घंटों इन्हें इसीपर बोलते देखकर वह दंग हो गया। ऐसे ही एक बार सन् १८६८में मद्रास कांग्रेसके समय, तंजोरके पुस्तकालयमें, एक विद्वान् महाराष्ट्र सज्जन "गेन्स आफ़ लर्निंग" बिलपर इनकी बात-चीत सुनकर दंग रह गया था। उसे आश्चर्य हुआ कि, ये महाराष्ट्रमें रहते हुए भी मद्रासके मुआमलोंको इतना अधिक समझते हैं। इसका कारण



रानाडे

यह था कि, ये देशकी राजनीतिक और सामाजिक स्थितिपर पूरा ध्यान रखते थे। पहले ये दैनिक पत्रोंके सबसे सार ही सुनते थे। समय-समयपर रानाडे लेख भी लिखा करते थे। इनकी लिखी हुई छोटी-बड़ी अनेक पुस्तकें हैं; परन्तु उन सबमें "भारतीय रेवन्यु विभागकी मेनुअल, भारतीय आर्थिक लेख-माला, पेशवाओंकी दिनचर्य्याकी भूमिका, महाराष्ट्रोंका अभ्युदय" आदि पुस्तकें इनकी विशेष महत्वपूर्ण रचना हैं। इस तरह इनका विद्या-व्यसन जीवनभर जारी रहा। इनके उच्च विचार और आचार इस अध्ययनके ही परिणाम थे। यही कारण है कि स्वर्गीय गोखलेके शब्दोंमें, इनके विचार परिपक्व, कार्य-विधायक और सफलताके उत्पादक होते थे। ये प्रत्येक बातमें अपना निश्चित मत रखते थे और उसपर अटल भी रहते थे।

रानाडे अत्यन्त भले मनुष्य थे, इनका स्वभाव बहुत ही अच्छा था। इनसे चाहे कोई कितने ही समयाभावमें मिलता ये उसपर कभी, मनमें भी, क्रुद्ध नहीं होते थे। साथ ही इनके काममें भी विघ्न नहीं पड़ता था; क्योंकि ये बड़े-से-बड़े विघ्नोंमें भी शान्तिपूर्वक अपना काम करते रहते थे। रानाडे बड़े सहिष्णु और क्षमा शील व्यक्ति थे। विरोधियोंकी कूट नीतियोंसे ये ज़रा भी क्षुब्ध नहीं होते थे। इनके विचार तत्त्व-वेत्ता और दिव्य-द्रष्टाओंकेसे होते थे। रानाडे प्रार्थना-समाजके सिद्धान्तोंको मानते थे; परन्तु ये किसी भी धर्मसे द्वेष नहीं रखते थे। अछूतोद्धारके ये पक्षपाती थे और इस विषयमें समयानुसार कुछ-न-कुछ करते भी रहते थे। स्वामी दयानन्दको ये अपने समयका सर्वश्रेष्ठ सुधारक और धार्मिक नेता समझते थे। जब स्वामीजी पूनामें आये, तब इन्होंने उनकी प्रत्येक बातमें भाग लिया और उनके स्वागत और व्याख्यान आदिके मुख्य प्रबन्धक भी रहे। रानाडेकी वक्तृत्व-शक्ति

भी बड़ी अच्छी थी। इनके व्याख्यान बड़े गंभीर और महत्त्वपूर्ण होते थे। इनके विचार, तर्क और विषय-विश्लेषण बड़े प्रामाणिक होते थे। ये इतने निर्दोष और दृढ़ विचारके पुरुष थे कि, दूसरोंपर भी इनकी बातोंका पर्याप्त प्रभाव पड़ता था। एक बार स्वयं गोखलेने कहा था कि "मुझे अपने जीवनमें तीन पुरुष ऐसे मिले कि जिनके सामने आते ही बुरे विचार काफूर हो जाते थे। वे पुरुष दादा भाई, रानाडे और महात्मा गान्धी थे।" पथ-प्रदर्शनके काममें भी दूसरा इनकी बराबरी नहीं कर सकता था।

ये बड़े शास्त्रार्थी पण्डित थे। भण्डारकरके साथ जो इनका शास्त्रार्थ हुआ था, वह एक पढ़नेकी वस्तु है। ये बड़े सहृदय थे। मित्रोंके साथ इनका आदर्श व्यवहार होता था। दौरेमें ग्रामीणोंके साथ भी ये बड़ा अच्छा व्यवहार करते थे। इनकी सादगी और निरभिमानता सुप्रसिद्ध हैं। स्त्री-शिक्षाके ये बड़े हिमायती थे। ये सच्चे न्यायाधीश भी थे। न्याय करते समय यह हर एक बातकी तहमें जाकर अपनी दृढ़ और स्पष्ट सम्मति देते थे। यही कारण था कि इनकी न्याय-परायणताका सिक्का जीतने और हारनेवाले दोनों पक्षोंपर रहता था। इनकी काउंसिलकी सेवाएँ भी प्रशंसनीय थीं। लार्ड हेरिसनने एक बार इसी विषयके पत्रमें, इनके विषयमें, लिखा था—"रानाडेको कष्ट सहनेका अभ्यास-सा हो गया है। उन्हें प्रायः किसी काममें कोई कष्ट ही नहीं मालूम होता।" नौकरीमें हुज्जत करना ये मूर्खता समझते थे। इनके गुणोंपर मुग्ध होकर एक बार डाक्टर पोलनने कहा था कि "मुझे भारतवर्षमें रानाडेसे बढ़कर विद्वान् और देश-हितैषी नहीं मिला।" ये बड़े निर्भीक थे। यह अपने जीवनमें कभी किसी अँग्रेज शासकसे नहीं डरे। ये दूरदर्शी और गम्भीर भी थे। इनका खयाल था कि धैर्य, शान्ति और विचारसे काम अधिक होता है। ये बड़े शान्त स्वभावके थे; किन्तु शान्तिका अर्थ इनके कोषमें आलस्य नहीं था। काम निकलवानेमें ये बड़े चतुर थे।" ये सबके साथ बराबरीका बर्ताव करते थे। पचासो तरहके भेद-प्रभेदोंके रहते हुए भी लोगोंसे प्रेमपूर्वक मिलना इनका एक लोकोत्तर गुण था। विपद्ग्रस्त लोगोंके साथ इनकी एक अद्भुत सहानुभूति रहती थी। उस समयके देश-सेवकोंमें रानाडे प्रमुख व्यक्ति थे। उन्होंने कभी किसीकी निन्दा



लेखक

नहीं की। ये कहा करते थे कि किसीकी निन्दा करनेसे क्या लाभ? यदि तुम किसीसे काम लेना चाहते हो, तो उसे उसके प्रसुप्त गुणोंकी याद

दिलाकर उसकी कमीको पूरा करो। ये बड़ी-से-बड़ी आधि-व्याधिको भी, यथाशक्ति, मिलने-जुलने-वालोंपर प्रकट नहीं होने देते थे।

इनका पहला विवाह १८५४में, पिताकी आज्ञासे, जब कि इनकी अवस्था बारह वर्षकी ही थी, इच-लकरंजीके राजाकी साली सखूबाईके साथ हुआ था। इस पत्नीका क्षय-रोगसे देहान्त हो गया था। पत्नीकी बीमारीमें इन्होंने बहुत परिश्रम किया था। दूसरे विवाहकी बात सुनकर तो ये बुरी तरह रोने



रानाडे

लगते थे। दूसरा विवाह ये नहीं करना चाहते थे। फिर चाहते भी थे तो किसी विधवाके साथ; परन्तु इनके पिता इस बातके बेहद विरोधी थे। इसलिये उन्होंने इन्हें बड़ी युक्तिसे संकटमें डाल दिया। पितृ-भक्त होनेके कारण ही इन्हें उनकी बात स्वीकार करनी पड़ी। कन्याके पिता भाऊ गोविन्द रावने इनके यह कहनेपर भी इन्हें नहीं छोड़ा कि—

"मैं विधवा-विवाहको मानता हूँ, विलायत जाना मैं पाप नहीं समझता; फिर मेरे नेत्र और कान भी ख़राब हैं।"

अपनी दूसरी पत्नी रमाबाईके पढ़ाने-लिखानेमें भी इन्हें बरसों कष्ट सहना पड़ा, घरके लोगोंका कोप-भाजन बनना पड़ा, नित्य बात-बातमें तिर-स्कार सहना तो मामूली बात थी। अनेक बार डाँट-डपट भी सही; परन्तु माता-पिता और कुटुम्बि-के भक्त रानाडेने कभी उफ़ तक नहीं की। ये अपना काम बड़ी शान्तिसे करते रहे। आखिर रमाबाई इनके अध्यवसाय और प्रेमसे एक विदुषी स्त्री बन गयी। उन्हें कई भाषाओंका ज्ञान हो गया। वे घरका सब हिसाब-किताब रखने लगीं, बड़ी-बड़ी सभाओंमें भाषण देने लगीं और सुधार-सम्बन्धी कामोंमें योग भी देने लगीं। साथ ही वे आदिसे अन्ततक पिताके इन शब्दोंपर भी दृढ़ रहीं—

"बेटी, ससुरालमें जाकर इस तरहसे रहना कि, सब लोग तुम्हें कुलीन और सुशील समझें। वहाँ कुटुम्बियोंके दुःख सहकर भी तुम उनकी सेवा ही करना। अपने पतिसे कभी उनकी बुराई न कहना। यदि तुमने इन बातोंपर अमल किया, तो लोग तुम्हारी प्रशंसा करेंगे और घरमें तुम्हें पूर्ण आदर मिलेगा। फिर तुम्हें किसी बातकी कमी न रहेगी। ऐसी दशामें ही हमारे घरमें तुम्हारा जन्म लेना भी सार्थक होगा।"

इन्हीं शब्दोंका यह फल था कि रमाबाई एक आदर्श महिला बन गयीं। महिला-महासभाके पहले अधिवेशनकी प्रधान, सर्व सम्मतिसे, यही चुनी गयीं। इनके व्याख्यान बड़े ही सुन्दर होते थे। गवर्नमेंटकी ओरसे ये कैदियोंको धर्म-शिक्षा देनेका काम भी बरसों तक करती रहीं। ये स्त्री-सम्बन्धी सब सुधारोंमें अग्रगण्य समझी जाती थीं। रानाडे अपने अन्य कुटुम्बियोंको भी सुखी

और शान्त बनानेमें कमी नहीं रखते थे। ये माता-पिताके साथ ही नहीं अपितु सब कुटुम्बियोंके साथ बड़ी ही उदारता और सेवा-भावसे पेश आते थे। ये गृहपति और गृह-संचालक होते हुए भी कुटुम्बियोंके दास थे; परन्तु कुटुम्बियोंका व्यवहार इनके साथ कुछ अच्छा नहीं होता था। वे लोग धार्मिक मत-भेदके कारण इन्हें बहुत सताया करते थे। अपनी सौतेली माताको प्रसन्न रखनेमें ये कभी भी कोर-कसर नहीं करते थे।

वकालतकी परीक्षा पास करते ही भाग्यसे रानाडेको दो सौ रुपये मासिकका, मराठी अनुवादकका, पद मिल गया। इसके बाद चार सौ रु० मासिकपर कोल्हापुरमें ये न्यायाधीश बनाये गये और फिर एलल्फिस्टन कालेजमें अँग्रेजी भाषा और साहित्यके प्रोफेसर हुए। प्रोफसरीके बाद कुछ दिनोंतक क्रमशः ये बंबईके तीसरे पुलिस मैजिस्ट्रेट और स्माल काज कोर्टके चौथे जज रहे। फिर पूनाके सब जज हुए। इसके बाद डिस्ट्रिक्ट जजका पद आपको मिला और फिर आप बंबईके प्रेसीडेंसी मैजिस्ट्रेट हुए। इसके बाद पूनाके सदरआला हुए। बादमें फिर पूना और सिताराके असिस्टेंट स्पेशल जज चुने गये। इसके अनन्तर १२००) रु० मासिकपर पूनाके खफीफा जज और १८८५ ई० में स्पेशल जज नियत हुए। इसी समय आप डेकन कालेजमें न्यायके अध्यापक भी रहे। अन्तमें आप २३ नवंबर सन् १८९३ ई० को बंबई हाईकोर्टके जज बना दिये गये। इसके सिवा ये सन् १८८५, १८९० और १८९३ ई० में बंबई प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाके सभासद भी रहे।

रानाडेने बंबईके जस्टिसके पदपर रहकर अपनी प्रतिभाका पूर्ण परिचय दिया था। इनके विषयमें यह कहा जाता है कि—ये अपने ढंगके एक ही जज थे। इस पदपर इनकी नियुक्ति सुनकर देश-भरके पत्रोंने इसका समर्थन किया था और अनेक उच्च पदाधिकारी अँग्रेज और भारतीय व्यक्तियोंने इस नियुक्तिपर सन्तोष प्रकट किया था। यहाँ तक कि जो अँग्रेज इनसे अप्रसन्न थे, उन्होंने भी उस समय इनकी प्रशंसा की थी। अनेक विद्वानों-की सम्मति है कि रानाडे यदि अपने जीवन-कालमें और कुछ भी न कर पाते, तो भी केवल एक जजीके कारण ही इनका नाम चिरस्मरणीय रहता। चीफ् जस्टिस सर लारेन्सनने इनके विषयमें एक बार लिखा था कि "ये एक महान् विभूति थे। इनकी निरीक्षण शक्ति बड़ी उच्च श्रेणीकी थी। ये सत्य और औचित्यके पूर्ण पक्षपाती थे। इनकी सम्मति इनके सहायक जजोंके लिये बहु-मूल्य होती थी।" उन्होंने यह भी लिखा था कि "इनके फैसले भविष्यमें इनकी विद्वत्ताके स्मारक होंगे।।"

एक और विशेष बात इनमें यह थी कि इन्होंने इतने बड़े पदपर रहकर कभी किसीको कटु वचन नहीं कहा और न किसीके साथ किसी प्रकारका दुर्व्यवहार ही किया। यही नहीं इन्होंने अपने तमाम सरकारी सर्विसके समयमें कभी कोई अकीर्तिकर काम भी नहीं किया; और, सदैव अपने आपको जनताका एक नम्र सेवक ही समझा। शुरूमें जब ये दौरे आदिमें जाते थे, उस समय भी लोगोंके साथ इनका व्यवहार बड़ा ही अनुकरणीय रहता था। ये जहाँ कहीं जाते, वहाँ कुछ-न-कुछ सुधार और विद्या-प्रचारका काम अवश्य करना चाहते थे।

रानाडे सुधारके बड़े भारी पक्षपाती थे। ये कहा करते थे कि हमारी बिगड़ी हुई सामाजिक दशाके कारण लोग हमारी निन्दा करते

हैं। साथ ही राजनीतिक कामोंमें भी हमारी सामाजिक निर्बलतायें हमें आगे बढ़ने नहीं देतीं। ये उन समय-विरुद्ध पुराने रीति-रवाजों-को बिल्कुल ही नष्ट कर देना चाहते थे, जो हमारे समाजको बुरी तरहसे खा रहे हैं। परन्तु इसके साथ ही ये हिन्दुओंकी अनेक सामाजिक दूषित परम्पराओंका संशोधन करना ही पसन्द करते थे। इनके संशोधनका यह अभिप्राय कदापि नहीं था कि उन परम्प-राओंके स्थानमें नयी बातें अपनायी जायँ। एक बार सुधार और संशोधनके विषयमें इन्होंने इस आशयके शब्द प्रकट किये थे—

"सुधार या संशोधन करना खाली स्लेट-पर लिखना नहीं है; बल्कि लिखे हुए वाक्योंको शुद्ध करना या अर्द्धलिखित वाक्यको पूरा करना है। ऐसी दशामें हमारा यह कर्तव्य होना चाहिये कि हम प्राचीन कालीन सत्यको परम्परागत धाराको सत्य मानकर ही अपना काम शुरू करें। परन्तु यह खयाल रहे कि उस परम्परागत धारामें हम न बाँध बाँधें और न उसका सम्बन्ध बलात् किसी नवीन स्रोतसे ही जोड़ें। हाँ, उसके बहावमें आवश्यकता-वश हम कहीं थोड़ा फेर-फार अवश्य कर सकते हैं।" बस, इसी सिद्धान्तके अनुसार ये जीवन भर काम करते रहे। सबसे पहले इन्होंने इस कामके लिये कांग्रेसकी तरह एक सोशल कान्फ्रेन्स कायम की और उसके तेरहवें अधिवेशनतक बराबर उसमें जाते रहे। परन्तु बादमें रोग और निर्बलताके कारण उसमें सम्मिलित न हो सके। प्रार-म्भमें इस कांग्रेसकी बड़ी मिट्टी पलीद हुई थी। कहते हैं प्रायः प्रत्येक वर्गके हिन्दू इसका विरोध करने लगे थे; किन्तु थोड़े ही दिनोंमें रानाडेकी दृढ़ता, सहनशीलता और देशहितैषिताने विघ्नोंके सब बादलोंको छिन्न-भिन्न कर दिया और अन्तमें वह दिन आया, जब कि संकृतके बड़े विद्वान्, राजनीतिक नेता और उच्च गृहस्थतक इनके इस समाज-सुधारके आन्दोलनका समर्थन करने लगे और यथाशक्ति हृदयसे इसका साथ भी देने लगे।

रानाडेकी देश-सेवा अत्यन्त विशाल थी। अपने समयके ये अद्वितीय देशसेवक थे। इन्होंने 'इन्दु-प्रकाश'के सम्पादन द्वारा शिक्षा-सम्ब-न्धी कामोंमें देशको बहुत लाभ पहुँचाया। स्वदेशी आन्दोलनमें भी इन्होंने खूब काम किया। सार्व-जनिक सभाके मुख्य कार्यकर्ता और उसके त्रैमासिक पत्रके सम्पादक भी यही थे। सुप्रसिद्ध फर्ग्युसन कालेजके संस्थापकोंमें रानाडे भी एक थे। महाराष्ट्रकी सुप्रसिद्ध "वसन्त-व्या-ख्यान-माला" (जिसमें प्रतिवर्ष इतिहास, पुराण, समाज-सुधार, राजनीति, शिक्षा आदि विषयों-पर व्याख्यान हुआ करते थे) इन्हींके उद्योगका फल है। अँग्रेजीसे मराठीमें अनुवाद करानेवाली एक सभाका जीर्णोद्धार भी इन्होंने ही किया था। पूनाके रेशमी और सूती कपड़े तैयार करनेवाली एक कम्पनीका भी उद्धार इन्हींके हाथसे हुआ था। पूनाकी पेपर-मिलके उद्धारक भी यही थे। हीरा-बागमें टाउन हाल भी इन्हींके उद्योगसे बन पाया था। एक अजायबघर भी इन्होंने खुलवाया था। संक्षेपमें यही कि पूनाकी प्रायः सब संस्थाओंके निर्माणका श्रेय इन्हींको था। एक बार इन्होंने पूनाकी विविध संस्थाओंको एक मुश्त २५०००) रु० का दान भी दिया था। प्रार्थना-समाज, स्त्री-सुधार-सभा और कन्या-पाठशालायें आदि संस्था-ओंके ये जीवन-भर रक्षक, सहायक और उद्धारक रहे। बंबई विश्व-विद्यालयके लिये मंगलदास

नाथूभाईका ३½ लाखका डूबा हुआ दान भी इन्हींके युक्ति-बलसे मिल सका था। विश्व-विद्यालयोंमें देशी भाषाओंको स्थान दिलानेके लिये भी इन्होंने बड़ा परिश्रम किया था। मराठीके लिये इन्होंने यह सिद्ध कर दिया था कि वह कालेजकी उच्च श्रेणियोंमें पढ़ायी जा सके। ये चौबीसो घंटे देशकी हितचिन्तनामें ही लगे रहते थे।

कहते हैं, बचपनमें रानाडेके राजनीतिक विचार बड़े उग्र थे। इसी कारण इनकी छात्रवृत्ति एक-बार छः मासों तक बन्द कर दी गयी थी। बादमें भी ये अपने राजनीतिक विचारोंके कारण ही सरकारकी दृष्टिमें बुरे समझे जाते थे। इसीलिये अनेक बार इधर-उधर इनके तबादले भी होते रहे। वेल्वी कमीशनके लिये भी सरकारने इन्हें विलायत नहीं जाने दिया और बंबई हाईकोर्टकी जजी भी इन्हें इसी कारण बहुत विलम्बसे मिली। यद्यपि शुरूसे ही सरकारी नौकरीमें पड़ जानेके कारण ये प्रत्यक्ष रूपसे राजनीतिक क्षेत्रके प्रधान नेता नहीं बन सके; परन्तु देशोद्धार और समाज-सुधारके कामोंमें ये सदैव राजनीतिक नेताओंके सहायक रहे। इनसे प्रायः राजनीतिकी प्रत्येक बातमें सहायता ली जाती थी और अनेक बातोंमें तो ये स्वयं भी अग्रसर रहते थे। सच तो यह है कि उस समयकी राजनीतिके सूत्रधार होनेका गौरव इन्हें ही प्राप्त था। प्रायः प्रत्येक राजनीतिके कार्यमें इनका हाथ रहता था। महात्मा गान्धी अनेक बातोंमें इनसे सहायता लेते थे। स्वर्गीय गोखलेके कानून-सम्बन्धी अनेक प्रस्तावोंमें रानाडे मौजूद रहते थे। गोखले और सुरेन्द्रनाथ बनर्जीने वेल्वी कमीशनमें उपस्थित करनेके लिये जो मसिवदा बनाया था, उसमें रानाडेकी बुद्धिमत्तासे ही काम लिया गया था। लोकमान्य-तिलक इनसे मतभेद रखते हुए भी इनके राजनीतिक विचारोंका लोहा मानते थे। उन्होंने चिरकालतक सार्वजनिक सभामें इनके साथ काम भी किया था। कांग्रेसके पूर्वरूप पूनाकी "सार्वजनिक" सभाके ये ही कर्ता-धर्ता थे। वर्तमान राजनीतिक महासभाके संस्थापकोंमें यह भी एक अन्यतम व्यक्ति थे। ये उस समय राजनीतिके नरम और गरम दोनों तरहके विचारकोंके प्रिय और पूज्य थे। कांग्रेसकी विषय-निर्धारिणी इन्हींकी दूर-दर्शिताका फल है। प्रायः ये सदैव कांग्रेसकी विषय-निर्धारिणीमें सम्मिलित भी हुआ करते थे। फिर सरकारी नौकर होते हुए भी प्रत्येक बातको समय-पर, बिना हिच-कचाहटके, कह भी सकते थे। १८८७ को कांग्रेसमें इन्होंने एक नवयुवकके उग्र भाषणका मुक्त-कण्ठसे अनुमोदन किया था। १८६६ में जब बंबईमें दादाभाई नौरोजीकी मूर्तिका उद्घाटन-संस्कार हुआ, तब यही सभापति बनाये गये थे। उस समय इन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें दादाभाईके राजनीतिक विचारोंका समर्थन करते हुए यह कहा कि, "दादाभाईके विचारोंमें, मैं नाम मात्र भी राजद्रोहकी भावना नहीं देखता।" साथ ही यह भी कहा कि "मैं दादाभाईका शिष्य हूँ, मेरे विचार उन्हींकी शिक्षाके फल हैं।" इसी व्याख्यानमें इन्होंने तत्कालीन भारत-मन्त्री लार्ड जार्ज हेमिल्टनके विचारोंकी भी काफी समालोचना की थी। इनकी इन्हीं सब सेवाओंका यह नतीजा था कि भारत-हितैषी और कांग्रेसके प्राण ह्यूम साहब इनपर मुग्ध थे और राजनीतिक क्षेत्रके सब लोग इन्हें अपना मुखिया मानते थे। अन्तमें यहाँ यह कह देना भी उचित होगा कि एक सरकारी नौकरका प्रत्येक राजनीतिक काममें उस

समय, प्रत्यक्ष रूपसे, इस तरह भाग लेना एक असाधारण बात थी, जब कि इस समय भी अनेक लोग साधारणसी बात कहनेमें भी हिच-किचाते हैं।

रानाडेका जन्म १८४२ की १८ जनवरीको हुआ था और १९०१ की ८ जनवरीको विशेष अस्वस्थ हो जानेके कारण इन्होंने छः मासकी छुट्टी ली। इस समय इनकी चिकित्सा विशेष सावधानीसे की जाने लगी। इनका घर औषधालय बन गया। परन्तु रानाडेको चिकित्सापर विश्वास नहीं था। वे कहते थे—"दवा साधन मात्र है। लोग पीछे बुरा न कहें; इसलिये मैं औषधि लेता हूँ। और जबतक कि मनुष्य जीवित रहे उसे उद्योग करते ही रहना चाहिये। यही कर्तव्य है।"

इस कठिन अवसरमें लाहोर कांग्रेसका महोत्सव शुरू होनेवाला था। लोगोंके मना करनेपर भी इन्होंने उसमें जानेकी तैयारी की। व्याख्यान तैयार किया और सदैव पत्रोंका उत्तर भी दिया। रोग-ग्रस्त होनेके कारण अपनी धर्म-पत्नीको साथ चलनेके लिये भी कह दिया। रेलके कमरे भी रिज़र्व करा लिये गये; परन्तु ठीक जानेके दिन हालत ज्यादा खराब हो गयी। पेटमें सख्त दर्द होने लगा। ये रात भर न सो सके। सबेरे जब चलनेको तैयार हुए, तब डाक्टरोंने मना किया; फिर भी इन्होंने विचार नहीं छोड़ा। परन्तु अपने प्रिय शिष्य गोखलेके इस कथनपर हठसे बिछुड़ पड़े और जाना बन्द कर दिया—"डाक्टरोंकी सम्मति मानना आवश्यक है। बाकी जो काम हो उसे आप मुझे बता दीजिये। मैं उसे यथा-शक्ति, आपके विचारानुसार ठीक तरह, पूरा करनेकी कोशिश करूँगा।" अन्तमें जब गोखले और चन्दावरकरकी वक्तृताएँ इन्होंने समाचार-पत्रोंमें पढ़ीं, तब उन दोनोंको आपने लिखा—"मुझे यह जानकर बड़ा सन्तोष हुआ कि भविष्यमें भार उठानेके लिये तुम दोनों योग्य हो गये हो।"

बीमारीमें ये बहुत काम करते थे। दूसरोंको बेचैनी न हो; इसलिये जागते हुए और मर्मान्तक पीड़ा सहते हुए भी चुपचाप बिस्तरेपर पड़े रहते थे और प्रातःकाल अपने नित्य नियममें लग जाते थे। चिन्ता और निराशाका इनमें चिह्नतक नहीं मालूम होता था। समय मिलते ही बहुत मना करनेपर भी ये लिखने-पढ़नेमें लग जाते थे। कहते थे कि यही तो मनोरञ्जनकी वस्तु है, महादुःखकी दवा है। छोटा-मोटा दुःख तो इससे काफूर हो जाता है। फिर बिना काम किये निरर्थक जीनेसे क्या लाभ? निरर्थक जीनेका समय यदि आ ही जाय, तो उससे मृत्यु ही अच्छी है।

मृत्युसे ठीक एक दो दिन पहले, विशेष पीड़ा-ग्रस्त होनेपर भी ये रमाबाईसे एक भाटिया जातिकी विधवा कन्याके उद्धारके सम्बन्धमें अनेक प्रकारके शंका-समाधान करते रहे। उसी समय दुर्भिक्ष कमीशनके अधिष्ठाता जयपुरके दीवान कान्तिचन्द्रकी मृत्यु-समाचार सुनकर इन्होंने ये शब्द कहे थे—"काम करते हुए मरना भी कैसा आनन्ददायक है?" इसके बाद इन्होंने १८ पत्र भी लिखवाये और इतिहासकी एक पुस्तक भी सुनी। १५ जनवरीको वायु-सेवनसे वापस आनेके बाद इन्हें कुछ अच्छी नींद भी आ गयी; परन्तु यह मौतकी सूचना थी। थोड़ी देरमें दर्दसे निद्रा भंग हो गयी। ये उठ बैठे और कहने लगे कि "कलेजेमें बहुत दर्द है। इससे तो मर जाना ही अच्छा है।" तत्काल डाक्टर बुलाये गये; परन्तु अवस्था विशेष खराब हो चली। पातिव्रत्यकी मूर्ति रमाबाईके कन्धेपर अपना सिर रखकर रानाडेने कहा—"अब मेरा अन्त समय आ गया।" बस, रातके साढ़े दस बजे इनकी आत्मा नश्वर शरीरको छोड़ गयी।

३५ वर्ष तक जिस महापुरुषने अपनी विद्या और बुद्धिसे अपने देशका सिर ऊँचा करनेके लिये निरन्तर परिश्रम किया, वह आज इस तरह शान्तिको प्राप्त हुआ।

इनकी मृत्युपर कांग्रेसमें जो शोक-प्रस्ताव पास हुआ था, उसपर बोलते हुए स्वागत-कारिणीके सभापतिने इनके विषयमें ये शब्द कहे थे—

"रानाडे हमारे अंग नहीं थे; परन्तु वे हमारे साथ रहते थे, हमारी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक आवश्यकताओंको वे अच्छी तरह समझते थे।"

सभापति दीनशाह ऐदलजीने इनके गुणों और कामोंकी प्रशंसा करते हुए कहा था कि—"रानाडे भारतके सुकरात थे। नवीन शताब्दीके प्रारम्भमें ही ऐसे महापुरुषका विछोह देशके लिये असह्य है।" भारतके हृदय-सम्राट् लोकमान्य तिलकने कहा था कि—"उनकी मृत्युसे हिन्दू-जातिकी ऐसी हानि हुई है कि, जिसका अनुमान करना भी हमारी शक्तिसे बाहर है। देशने एक ऐसे व्यक्तिको खो दिया, जो दिव्य-द्रष्टा, जनताका सच्चा पथ-प्रदर्शक और मित्र था।"

इनके गुरु दादाभाई नौरोजीने कहा था कि—"उनका मन और उनकी आत्मा पूर्णरूपसे देशकी भलाईके साथ गुथी हुई थी। उनकी बुद्धि और सलाहपर आदमी भरोसा कर सकता था। उनके वियोगसे भारतवर्षकी बड़ी भारी क्षति हुई है।"

गोपालकृष्ण गोखले

श्रीयुत प० वागीश्वर झा

सन् १८६६ ई० में, महाराष्ट्र प्रदेशके कोलहापुर जिलेके कंगाल नामक गाँवमें, कोकणस्थ ब्राह्मण जातिके एक निर्धन परिवारमें, गोखलेका जन्म हुआ था। उस दिन किसीको क्या खबर थी कि यही बालक एक दिन अपनी अलौकिक प्रतिभाके बलसे महान् व्यक्ति होगा!

यद्यपि गोखलेके माता-पिता निर्धन थे; पर कुलीनता एवं सच्चरित्रतामें कोई उनकी ओर अँगुली नहीं उठा सकता था। विद्या-प्रेमी होनेके कारण उन्होंने बालक गोखलेकी शिक्षाकी ओर आवश्यकतासे अधिक ध्यान दिया। बचपनमें गोखलेजी गोपालरावके नामसे पुकारे जाते थे।

इनकी शिक्षाका श्रीगणेश अपने ही घरसे हुआ था। सात-आठ वर्षके बाद ये स्कूलमें पढ़ने-लिखने-को भेजे गये। ये बहुत ही सुशील, लज्जाशील और संकोची स्वभावके थे। झूठ बोलना इन्हें आता ही नहीं था। अपनी कुशाग्र बुद्धि और सुशीलताके कारण ये अपने अध्यापकोंके प्रियपात्र हो गये। जिस समय स्कूलमें ये पढ़ ही रहे थे, उसी समय इनके पिता स्वर्गवासी हो गये। इनके बड़े भाईने, जिनके निर्बल कंधेपर परिवारका बोझ पड़ गया था, इनके पढ़नेमें किसी तरहकी त्रुटि नहीं होने दी। सिर्फ १४ वर्षकी उम्रमें, बड़ी योग्यतापूर्वक, इन्होंने इंट्रेंसकी परीक्षामें सफलता प्राप्त की और

१६ वर्षकी उम्रमें, कोल्हापुरके राजाराम कालेजसे, एफ० ए० की परीक्षामें उत्तीर्ण हुए। इसके बाद ये बंबईके एलफिंसटन कालेज और कुछ दिनोंतक डकन कालेजमें शिक्षा प्राप्त कर १८ वर्षकी उम्रमें बी० ए० की परीक्षामें सर्वप्रथम हुए।

बी० ए० की उपाधि प्राप्त करनेके थोड़े ही दिनोंके बाद गोपालराव सिर्फ ४०) रु० मासिकपर अध्यापकका कार्य्य करने लगे। ये अँग्रेजीके अध्यापक थे। इनकी स्मरणशक्ति ऐसी अच्छी थी कि किसी बड़े-से-बड़े गद्य लेखको भी एक या दो बार देखकर उसे स्मरण कर लेते थे। शेक्सपियर, मिल्टन और बेकन आदिकी कविताएँ इनके कण्ठपर रहती थीं। इनका अध्ययन बड़ा ही विशाल था। यही कारण था कि थोड़े दिनोंके बाद अंग्रेजी साहित्यपर इनका पूर्ण अधिकार हो गया। लड़के इनकी पाठनशैलीपर बहुत ही मुग्ध रहते थे। "टाइम्स आफ इंडिया" जैसे कठिन पत्रोंके कठिन-से-कठिन लेखोंको भी ये सिर्फ दो-एक बार पढ़कर कण्ठ कर लेते थे। अपनी असाधारण विद्वत्ताके कारण ही गोखलेकी नियुक्ति फर्ग्युसन कालेजके अँग्रेजी–साहित्यके आचार्य्य पदपर हुई। वहाँ भी इन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभाका परिचय दिया। अँग्रेजी-साहित्य पढ़ानेके समय जिस बुद्धिमानीसे ये विद्वत्तापूर्ण टिप्पणी लिखाते थे, उस तरहकी टिप्पणी लिखानेवाले अध्यापक देखे ही नहीं जाते थे। अँग्रेजीके नित्य नये मुहाविरे इनके मुँहसे निकलते देख लोग दंग रह जाते थे। अँग्रेजी-साहित्यके अतिरिक्त गणित और इतिहासमें भी ये विलक्षण योग्यता रखते थे। इतिहासकी एम० ए० परीक्षाका ये परीक्षक हुआ करते थे। इतिहास और अर्थशास्त्रके अध्यापन-कार्य्यको भी इन्होंने बड़ी योग्यतासे निबाहा था।

विद्यार्थियोंके प्रति गोखलेका प्रशंसनीय व्यवहार था। जिस समय ये क्लासमें आते थे, लड़के बड़ी शान्ति-पूर्वक इनका व्याख्यान सुना करते थे। अँग्रेजी पढ़ाते समय ये इस बातका पूरा ध्यान रखते थे कि कोई अयोग्य बात मुँहसे न निकले, शृङ्गार-रसकी कविताएँ बड़ी सावधानीसे पढ़ाते थे, उस समय इनका मुहँ सुर्ख हो जाता था।

कालेजमें अध्यापनका कार्य करते हुए भी गोखले सार्वजनिक कार्यमें खूब भाग लिया करते थे। न्यायमूर्ति रानाडे इनकी विलक्षण प्रतिभा देखकर बहुत प्रसन्न रहते थे। उनके सत्संगसे इन्होंने बहुत लाभ उठाया। उन दिनों पूनाकी सार्वजनिक सभाका बड़ा नाम था। राजा-प्रजा दोनोंके लिये वह आदरकी वस्तु थी। उस सभासे एक त्रैमासिक पत्रिका निकलती थी। १८८७ ई० में, सिर्फ २१ वर्षकी अवस्थामें, गोखले उसके सम्पादक और सार्वजनिक सभाके मन्त्री हुए। इन दोनों कार्य्योंको इस खूबीसे इन्होंने सम्हाला कि लोगोंपर इनकी धाक जम गयी और सब इन्हें दक्षिणका प्रकाशमान रत्न समझने लगे।

सिर्फ बाईस वर्षकी अवस्थामें पहली बार ये बंबई की प्रान्तीय कान्फ्रेंसमें सम्मिलित हुए। वहाँ इनके भाषणको सुनकर लोगोंको विश्वास हो गया कि परमात्माने इस नररत्नको देशके उपकारके लिये ही भेजा है। तबसे ये कांग्रेसके कार्यमें दिलचस्पी लेने लगे और दक्षतासे उसे उन्नतावस्थाको पहुँचाया।

दादाभाई नौरोजीके प्रयत्नसे भारतके सरकारी खर्चकी जाँच करके उसमें उचित हेरफेर करनेके लिये विलायतमें वेलबी कमीशन, १८९७ ई० में, बैठा था। उस कमीशनके प्रधान लार्ड वेलबी थे,

इसीलिये उस कमीशनका नाम वेल्बी कमीशन पड़ा था। उस कमीशनमें भारतके मुख्य-मुख्य महापुरुष साक्षी देनेके लिये निमंत्रित हुए थे। बंबई प्रान्तसे गोखले उसके लिये चुने गये। उस समय उनकी उम्र सिर्फ ३१ वर्षकी थी। इस छोटीसी उम्रमें उन्होंने वहाँ जैसा साक्ष्य दिया कि देखने वाले गोखलेके विशाल अध्ययन और अपार राजनीतिक योग्यता देख कर दंग रह गये। वेल्बी जैसे कमीशनमें साक्ष्य देना कोई साधारण काम नहीं था। उनसे वहाँ कैसे-कैसे प्रश्न किये गये थे और किस खूबीसे उन्होंने उसका उत्तर दिया था, इसका अनुमान इसीसे लग सकता है कि वह छपा हुआ प्रश्नोत्तर ७० पृष्ठोंमें है। उससे उनकी विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता और अद्भुत प्रतिभा प्रकट होती है। उस-कमीशनमें उन्होंने भारतमें बढ़ते हुए सरकारी खर्चका बड़ी निर्भीकता-पूर्वक प्रमाण पेश किया था।

गोखले ३४ वर्षकी अवस्थामें बंबई प्रान्तीय काउंसिलके सभासद् चुने गये। वहाँ उन्होंने समय-समयपर बड़े सार-गर्भित विचार प्रकट किये। वहाँ वे सदा प्रजा-पक्ष लेकर बोलते थे। उनकी भाषण-शक्ति इतनी अच्छी थी कि लोग सुनते ही मुग्ध होकर उनका साथ देने लगते थे। १६०१ ई०में सर फिरोजशाह मेहताने "लैंड रेवन्यू कोड अमेंडमेंट" बिलको स्थगित करनेके लिये प्रस्ताव उपस्थित किया था। उस प्रस्तावके समर्थनमें गोखलेके तर्क और युक्तियोंको देखकर दोनों पक्षके सदस्योंने उनकी प्रशंसा की।

१६०२ ई० में गोखले बड़े लाटकी सभाके सदस्य चुने गये। काउंसिलमें पहुँच कर पहले पहल गोखलेने बजटपर जो विवेचनापूर्ण भाषण दिया, उसीसे लोगोंको उनकी असाधारण राजनीतिक विद्वत्ताका परिचय मिला। सरकारी सदस्योंने भी मुक्तकण्ठसे उनकी योग्यता और व्याख्यानकी प्रशंसा की। अर्थ सचिवने बचत बतायी थी; पर उन्होंने उसे मिथ्या प्रमाणित किया।

१६०३ ई० में "आफीसियल सीक्रेट-एक्ट" बनाया गया। गोखलेने इस एक्टका काउंसिलमें घोर विरोध किया और बड़ी निर्भीकतापूर्वक उसका खण्डन किया; यद्यपि लार्ड कर्जनने उस एक्टको पास कराकर ही छोड़ा; तथापि इनके तर्कपूर्ण विरोधके लिये वे इनके पाण्डित्यकी प्रशंसा करते थे। उसके थोड़े दिनोंके बाद ही इन्हें सरकारसे सी० आई० ई० की उपाधि मिली। स्वयं लार्ड कर्जनने उपाधि देते समय गोखलेको बधाई की चिट्ठी लिखी थी। लोगोंका अनुमान था कि "आफीसियल सीक्रेट एक्ट"के प्रतिवादवाले विद्वत्तापूर्ण भाषणपर मुग्ध होकर ही सरकारने इन्हें सी० आई० ई० की उपाधि प्रदान की थी।

समय-समयपर गोखलेने कौउंसिलमें प्रजा-पक्ष लेकर, अपने भाषणसे, भारतकी बड़ी भलाई की और अपनी अद्भुत योग्यताका परिचय देकर प्रजाके प्राण बन गये। वङ्गभङ्गके समयमें भी गोखलेने विलायत जाकर अपने प्रभावशाली व्याख्यानोंसे भारतके हितका कार्य किया था।

विलायतसे लौटनेपर १६०५ ई० में, काशीपुरी में होने वाली काँग्रेसके गोखले सभापति चुने गये। उस समय सभापतिके आसनसे उन्होंने जो भाषण दिया था, वह उन्हींके अनुकूल था। वह सारगर्भित भाषण बड़ी ओजस्विनी भाषामें था। सर्वसाधारणने भी उनके इस भाषणकी बड़ी प्रशंसा की थी। सभापति होनेके पहले गोखलेने भारत-सेवक-समितिकी स्थापना की थी। इस समितिके द्वारा समय-

समयपर देशका उपकार—कार्य होता रहा। समय-समयपर गोखलेने प्रयाग, आगरा, लाहोर, अमृतसर और जालन्धर आदि स्थानोंमें अनेक उपयोगी व्याख्यान दिये। इस तरह देश-कार्यमें अपने बहुमूल्य समयको व्ययकर उन्होंने देशका अपार उपकार किया।

१९०८ ई० में गोखले तीसरी बार विलायत गये। वहाँ पहुँचकर लार्ड मोर्लेसे भेट की और काउंसिल सुधारका प्रयत्न किया। १९१० ई० में काउंसिलका नया संगठन हुआ। यह इन्हींके उद्योगका फल था।

प्रवासी भारतीयोंकी कष्ट-कथा सुनकर गोखलेने १९१२ ई० में, उनकी अवस्था सुधारके विचारसे, दक्षिण अफ्रीकाकी यात्रा की। वहाँ पहुँचनेपर उनका खूब सत्कार हुआ। वहाँकी सरकारके वे अतिथि रहे। यद्यपि इस यात्रामें वे सफलमनोरथ नहीं हुए; तथापि उसके लिये वे सतत उद्योग करते ही रहे।

भारतवासियोंको सिविल सरविसमें सम्मिलित होनेका सुअवसर नहीं मिलता था; क्योंकि इसकी परीक्षा विलायतमें होती थी। भारतीयोंको बड़ी-बड़ी नौकरी मिलना दुर्लभ हो जाता था; इसलिये इसकी जाँचके लिये १९१२ ई० में पब्लिक सरविस कमीशन बैठा। उसके एक सदस्य गोखले भी चुने गये। सदस्य होनेपर यदि वे चाहते, तो १५०००) रुपये वार्षिक इस कमीशनसे ले सकते थे; किन्तु ऐसा करनेसे उन्हें काउंसिल छोड़ना पड़ता, जिससे प्रजाहितकी बड़ी हानि होती; इसलिये उन्होंने रुपयेकी कुछ परवाह नहीं की और काउंसिलका कार्य भी सम्हालते ही रहे। अस्वस्थ रहनेपर भी अत्यन्त परिश्रमपूर्वक उसका कार्य करते रहे। डाक्टरोंके मना करनेपर भी लोगोंकी भलाईके विचारसे वे कमीशनके कार्यमें जुटे रहे। इस कमीशनमें उन्हें दो बार विलायत जाना पड़ा। उनका स्वास्थ्य उत्तरोत्तर बिगड़ता गया; किन्तु उन्होंने उसकी कुछ परवाह नहीं की। कमीशनका कार्य पूरा भी नहीं हो पाया था कि वे अचानक बीमार हो गये। १९१५ ई० की १९ फरवरीकी रातको उन्होंने अपनी लौकलीला पूरी कर ली। उनकी मृत्यु-समाचारसे संपूर्ण ब्रिटिश साम्राज्यमें शोक छा गया। इस तरह अपने मूल्यवान् जीवनको परोपकार्यमें लगाते हुए महात्मा गोखले असमय ही दुनियासे उठ गये। उनकी मृत्युपर लार्ड हार्डिंजने बड़ी व्यवस्थापिका सभाका अधिवेशन बन्द कर दिया था। कलकत्तेमें गवर्नमेंट हाउसका झंडा शोकके कारण आधा गिरा दिया गया था। बड़े लाट महोदयने अपनी काउंसिल स्थगित करते समय कहा था, "माननीय मिस्टर गोखलेकी आकस्मिक मृत्युसे मुझे अत्यन्त दुख हुआ। उन्होंने अपनी योग्यता और असाधारण वक्तृत्व शक्तिसे हिन्दुस्तानियोंमें बहुत उच्च उत्थान प्राप्त कर लिया था। वे राजभक्त थे, परन्तु सरकारी कामोंकी निडर होकर आलोचना करते थे और उनके विरोधियोंका उनके सामने ठहरना कठिन हो जाता था। दक्षिण अफ्रीकाके जटिल प्रश्नोंकी मीमांसा उन्हींकी राजनीतिज्ञता और बुद्धिमत्तासे हुई थी। मैं उन्हें केवल काउंसिलका योग्य सदस्य ही नहीं समझता था; किन्तु अपना मित्र समझता था।"

वे राजा-प्रजा दोनोंके सम्मान-पात्र थे।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

साहित्याचार्य प्रो० रामदीन पाण्डेय एम० ए०, बी० एड०

विचित्र-कर्मा विधाताके ऐन्द्रजालिक विधानमें भारतभूमि रत्नोंकी खान है। इस चिरशोभामयी भारत जननीके सुकोमल अङ्कमें अनेक शिशुओंने जन्म लेकर क्रीड़ा की है। सकल संपत्तिके आधार इस भारतवर्ष-कल्पवृक्षके मूलके समीप खड़े होकर जिसने इससे जो माँगा, वही पाया है।



ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

ईश्वरचन्द्र मेदिनीपुर (बंगाल) जिलेके अन्तर्गत वीरसिंह नामक एक छोटेसे गाँवमें, सन् १८२० ई० में, पैदा हुए। यह अपने दरिद्र माता-पिताकी प्रथम संतान थे। इनके पिताका नाम ठाकुरदास बन्द्योपाध्याय तथा इनकी पूजनीया माताका नाम भगवती देवी था। ठाकुरदास कर्मनिष्ठ, सदाचारी तथा सुशिक्षित कुलीन ब्राह्मण थे। घरकी आर्थिक अवस्था अति शोचनीय थी। अतः १५ वर्षकी उम्रसे ही इन्हें कलकत्तेमें अर्थोपार्जनके लिये जाना पड़ा। पहले-पहल यह दो रुपये मासिकपर नियुक्त हुए। यह बड़े बुद्धिमान, दृढ़चित्त तथा कार्यकुशल थे। जिस समय ठाकुरदासके माता-पिताने सुना कि ठाकुरको दो रुपयेकी नौकरी मिली है, उनके हर्षका ठिकाना न रहा। घरमें आनन्दोत्सव मनाया गया। दो-तीन वर्षोंके पश्चात् इनकी श्रमशीलता तथा कार्यपटुतापर प्रसन्न होकर इनके स्वामीने इनका वेतन पाँच रुपया मासिक कर दिया।

विद्यासागर जब पाँच वर्षके हुए, तब उनके पिताने वीरसिंहकी एक पाठशालामें उनका नाम लिखा दिया। कालीकान्त चट्टोपाध्याय इस विद्यालयके अध्यापक थे। एक वर्ष तक ईश्वरचन्द्रने उस पाठशालामें पढ़ा। इसके पश्चात् वह रुग्ण हो गये और कुछ दिनों तक उन्हें पढ़ना छोड़ देना पड़ा। जब वे नीरोग हुए, पुनः कालीकान्तजीकी पाठशालामें अध्ययनके लिये गये। ८ वर्षकी उम्र तक उन्होंने विद्याभ्यास किया। उनकी मेधा-शक्ति, तीक्ष्ण-बुद्धि और श्रमपटुता देखकर गुरु महाशय आश्चर्यचकित हो गये। इसी समय ठाकुरदासजीके पिता रामजय तर्कभूषणका देहावसान हो गया। इनके श्राद्धके अवसरपर ठाकुरदास वीरसिंह आये थे। कालीकान्तजीने ठाकुरदाससे कहा—'बालक ईश्वरचन्द्र

तीक्ष्णबुद्धि है। यहाँका अध्ययन शेष हो गया। इसे कलकत्ते ले जाकर अँग्रेजी पढ़ावो। ठाकुरदासने पुत्रकी प्रशंसा एक आदर्श शिक्षकसे सुन कर पुत्रको कलकत्ते ले जानेका निश्चय कर लिया।

पितृश्राद्धसे निवृत्त हो ठाकुरदास ईश्वरचन्द्रको साथ लेकर कलकत्ते चले। वहाँ पहुँचकर इनका नाम एक पाठशालामें लिखवा दिया गया। स्वरूपचन्द्र दास इस पाठशालाके अध्यापक थे। तीन मासोंमें ही इन्होंने यहाँका अध्ययन समाप्त कर दिया। इसके पश्चात् इनके पिताने संस्कृत कालेजमें इनका प्रवेश कराया। दैवयोगसे इस कालेजमें इनके सम्बन्धी मधुसूदन वाचस्पति अध्यापक थे। इनसे ईश्वरचन्द्रको बहुत प्रोत्साहन मिला। संस्कृत कालेजमें व्याकरणकी पढ़ाई इन्होंने तीन वर्षोंमें समाप्त की। प्रत्येक कक्षाकी वार्षिक परीक्षामें इन्हें छात्रवृत्ति मिली। एकादश वर्षकी अवस्था प्राप्त करते ही इन्होने साहित्य-वर्गमें पदार्पण किया। साहित्यके अध्यापक उस समय जयगोपाल तर्कालंकार थे। उन्होंने ईश्वरचन्द्रकी अल्पावस्था देखकर साहित्य-श्रेणीमें इन्हें लेनेसे इनकार कर दिया। इसपर आत्माभिमानी ईश्वरचन्द्र बोल उठे—"साहित्य विषयमें मेरी परीक्षा ली जाय। यदि परीक्षामें मैं अनुपयुक्त समझा जाऊँ, तो इस कालेजका परित्याग कर मैं अन्यत्र चला जाऊँगा।"

बालककी सदर्प वार्ता सुनकर गुरु महोदयने कतिपय क्लिष्ट श्लोकोंका अर्थ बालक ईश्वरचन्द्रसे पूछा। इन्होंने अन्वयके साथ उन श्लोकोंका अर्थ, इस बारीकीसे, किया कि जयगोपाल महाशय चकित हो गये और विशेष प्रेमसे ईश्वरचन्द्रको पढ़ाने लगे। बालक ईश्वरचन्द्रने उसी वर्ष रघुवंश, कुमारसम्भव, राघव-पाण्डवीय प्रभृति साहित्यके ग्रन्थोंमें सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। इन्हें पुरस्कार भी मिला। दूसरे वर्ष माघ, भारवि, मेघदूत, शकुन्तला, उत्तररामचरित, विक्रमोर्वशी, मुद्राराक्षस, कादम्बरी प्रभृति काव्य-ग्रन्थ आद्योपान्त कण्ठस्थ-कर लिये। इस परीक्षामें इन्होंने सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। शिष्य और शिक्षक सभी इनका परीक्षाफल देखकर विस्मित हो गये। ईश्वरचन्द्रकी रचना शुद्ध तथा लिखना अति सुन्दर होता था। इनका अनुवाद मुहाविरेदार होता था। इनके लेखमें वर्णाशुद्धिकी कतई गुंजाइश नहीं रहती थी। संस्कृतमें यह धाराप्रवाह बातें कर सकते थे। इनकी असाधारण योग्यता देखकर पण्डितमण्डलीने कहा—"ईश्वर श्रुतिधर है। यह बालक दीर्घजीवी हुआ तो, अद्वितीय होगा।"

ईश्वरचन्द्रकी शिक्षाकी उन्नतिके साथ-साथ गृहकार्यका झंझट भी बढ़ता गया। इनके मध्यम भ्राता दीनबन्धु भी वीरसिंहसे पढ़नेके लिये कलकत्ते आये। यह भी व्याकरणकी द्वितीय श्रेणीमें दाखिल हुए। यह तीक्ष्णबुद्धि रहते हुए भी आलसी थे। ईश्वरचन्द्रको घरके सभी कार्योंको करना पड़ता था। ये अपने हाथोंसे चौका-बर्तन करते, बाजारसे खरीदकर खाद्य-सामग्री लाते और नित्य गङ्गास्नान करने दूर जाते। रसोईका कार्य भी इन्हें ही करना पड़ता था। इसके बाद सबको खिलाकर ये प्रत्येक दिन नियमित रूपसे पैदल संस्कृत कालेज जाते थे। कहा जाता है कि दरिद्र ईश्वरचन्द्रके पिता जिस घरमें, कलकत्तेमें, रहते थे, वह नरककुण्डकी भी नाक काटता था। पैखाना और नालीके समीप रहनेसे बेतरह दुर्गन्ध निकलती थी। अच्छे लोग नाक बन्दकर उस स्थानपर जाते थे। नालियोंसे पूंछवाली कृमियाँ निकलकर चौकेमें बहुधा चली आया करती थीं।

भोजनके समय ईश्वरचन्द्र घड़ेमें जल लेकर बैठा करते थे। कृमियोंको आते देख जल गिराकर उन्हें बहाते थे। इस प्रकारके अनेक कष्टोंको झेलते हुए भी ईश्वरचन्द्र वर्गकी परीक्षामें सदा प्रथम-स्थान प्राप्त करते थे।

जब ईश्वरचन्द्रने साहित्यका अध्ययन समाप्त किया, उस समय इनकी ख्याति मेदिनीपुर, वर्धमान तथा हुगली जिलोंके पण्डितोंके बीच फैल गयी। अनेक स्थलोंसे इनके विवाहका प्रस्ताव उपस्थित होने लगा। क्षीरपायी निवासी शत्रुघ्न भट्टाचार्यकी सर्वाङ्ग-सुन्दरी और रूपगुण-सम्पन्ना कन्या दीनमयीसे इनका विवाह निश्चित हो गया। ईश्वरचन्द्रको विवाह करनेकी इच्छा न थी। जावज्जीवन लिखना-पढ़ना, देशके गरीबोंका कल्याण करना, विपन्नोंका दुःख दूर करना और रोगियोंकी सेवा करना—ये ही इनके जीवनके ध्येय थे। पर पिताकी आज्ञा शिरोधार्यकर इन्होंने १४ वर्षकी अवस्थामें आठ वर्षकी उम्रवाली सौभाग्यवती दीनमयीका पाणिग्रहण कर लिया।

साहित्य-श्रेणीका अध्ययन समाप्त कर ईश्वरचन्द्रने पन्द्रहवें वर्षमें, अलङ्कार-वर्गमें प्रवेश किया। इन्होंने एक वर्षके भीतर ही साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, रसगङ्गाधर प्रभृति अलङ्कार ग्रन्थोंका अध्ययन कर वार्षिक परीक्षामें प्रथम स्थान प्राप्त किया। इस समय इन्हें घोर परिश्रम करना पड़ता था। साथ-साथ घरके समस्त कार्य भी ये ही करते थे। इससे इनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया। अतः इन्हें कलकत्ता छोड़कर वीरसिंह चला जाना पड़ा। यहाँ एक सुयोग्य कविराजकी कृपासे यह रोग-विमुक्त हुए। पुनः कलकत्ता आकर इन्होंने न्याय, वेदान्त तथा स्मृतिशास्त्रोंका अध्ययन किया।

जिस समय ये वेदान्त पढ़ते थे, उस समय अध्यापक शम्भुचन्द्रकी स्त्री मर गयी। उन्हें कोई सन्तान न थी। अतः लोग उन्हें पुनः शादी करनेके लिये बाध्य करने लगे। पण्डित महाशयकी उम्र ५६ वर्षकी थी। ईश्वरचन्द्रपर पण्डितजी विशेष स्नेह रखते थे। उन्होंने ईश्वरचन्द्रसे पूछा कि वे विवाह करें या नहीं। बालक ईश्वरचन्द्रने गुरु महाराजके चरणोंपर गिरकर प्रार्थना की कि वे विवाह न करें। पर अध्यापक महोदयने शादी कर ही ली। इसपर ईश्वरचन्द्र अति दुःखित हुए और गुरु महाराजके यहाँ आना-जाना छोड़ दिया। कुछ दिनोंके पश्चात् अध्यापक महोदय चल बसे और गुरु-पत्नीकी दयनीय अवस्थाने ईश्वरचन्द्रके कोमल हृदयपर इतना प्रभाव डाला कि इन्होंने अपने जीवनके अन्तिम भाग और अपनी सारी संपत्तिको विधवा-विवाह और सामाजिक प्रश्नोंके समाधानमें लगानेका संकल्प किया। इन्होंने ऐसा किया भी और कालान्तरमें इनके विधवा-विवाह-सम्बन्धी आन्दोलनने समग्र बङ्ग-समाजको प्रकम्पित कर दिया।

न्याय और दर्शन श्रेणीमें जिस समय ईश्वरचन्द्र पढ़ रहे थे, उस समय दो मासोंके लिये व्याकरणके द्वितीय वर्गमें एक अध्यापकका पद खाली हुआ। ईश्वरचन्द्रकी उपयुक्तता देखकर अध्यक्षने इन्हें दो मासके लिये नियुक्त कर लिया। चालीस रुपये मासिकके हिसाबसे इन्हें अस्सी रुपये मिले। इन्होंने रुपयेका पिताके हाथोंमें देकर कहा—"बाबा! इन रुपयोंको आप तीर्थाटनमें लगावें।"

ठाकुरदास जब तीर्थाटन कर कलकत्ते लौट आये, तब उन्होंने सुना कि ईश्वरचन्द्रको दर्शनशास्त्रकी परीक्षामें प्रथम स्थान प्राप्त करनेके कारण

१००), सर्वोत्कृष्ट कविता-रचनाके लिये १००), आईन परीक्षाके लिये २५) और उत्कृष्ट हस्ताक्षरके लिये ८) एवम् सब मिलाकर २३३) रुपये पुरस्कार स्वरूप मिले हैं। ईश्वरचन्द्रने इन रुपयोंको पिताके चरणोंपर रखकर कहा—"बाबा ! इन रुपयोंसे ऋण चुका दीजिये ।" १८३९ ई० में संस्कृत कालेजके समग्र विषयोंमें सर्वोच्च स्थान प्राप्त करनेके कारण पण्डित-मण्डलीने १९ वर्षके बालक ईश्वरचन्द्रको विद्या-सागरकी उपाधिसे विभूषित किया।

श्रीयुत रमेशचन्द्र दत्तने विद्यासागरके विषयमें जो लिखा है, उसे मैं यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ—

"ईश्वरचन्द्रके सदृश सबकी विद्या और बुद्धि नहीं हो सकती । उनके सदृश ओजस्विता, मानसिक बल, दृढ़ प्रतिज्ञा सबमें सम्भव नहीं। उनके सदृश सहृदयता, वदान्यता और उपचिकीर्षा सभीमें नहीं पायी जा सकती। पर उनके जीवन-चरित्रके स्मरणसे एक बात हम सीखते हैं कि उनके सदृश हम कर्त्तव्यके अनुष्ठानमें उद्यम कर सकते हैं।"

अध्ययन समाप्त करते ही ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ५०) मासिकपर कलकत्ता फोर्ट विलियम कालेजमें शिक्षक नियुक्त हुए । यहींपर आपने अँग्रेजी और हिन्दीमें दक्षता प्राप्त की। यहींपर राजकृष्ण नामक एक विद्यार्थीको संस्कृत पढ़ानेके उद्देश्यसे आपने एक संस्कृतका सरल-सुन्दर व्याकरण बनाया । यही व्याकरण इन दिनों उपक्रमणिकाके नामसे प्रख्यात है। विद्यासागरकी उद्भाविनी शक्तिका उपक्रमणिका प्रज्वलन्त उदाहरण है । इसी छोटीसी पुस्तिकाके सहारे संस्कृतका मार्ग कितना सरल और सुगम्य हुआ, इसे सभी संस्कृतके प्रेमी जानते हैं ।

फोर्ट विलियम कालेजके अध्यक्ष मार्सल साहबने जूनियर और सीनियर संस्कृत परीक्षाएँ स्थापित कीं। विद्यासागरने राजकृष्ण बाबूको सीनियर परीक्षाके लिये तैयार किया। थोड़े ही दिनोंमें उक्त बाबू साहब सीनियर परीक्षामें बड़ी प्रशंसाके साथ उत्तीर्ण हुए। एक वर्षमें संस्कृतकी उच्च परीक्षामें उत्तीर्ण होना साधारण बात नहीं है । विद्यासागरने राजकृष्ण बाबूको एक वर्षमें संस्कृतमें व्युत्पन्न कर दिया। यह खबर चारो ओर फैल गयी। विद्यासागरका घर छात्रोंका जमघट हो गया।

विद्यासागरने अनेक पदोंको सुशोभित किया। कुछ दिनोंतक संस्कृत कालेजके सहकारी सम्पादकके पदको भी आपने अलङ्कृत किया था। आपको वहाँ ५०) मासमें मिलते थे। उस समय संस्कृत कालेजकी अवस्था आजसी न थी। उस समय विद्यार्थी और शिक्षक नियमित रूपसे कालेज नहीं आते-जाते थे। पर विद्यासागरने कालेजकी दुर्व्यवस्थाको सुधारा। परीक्षाके विषयोंमें भी इन्होंने बहुत कुछ सुधार किया। जो कविताएँ अश्लील थीं, उन्हें पाठ्य-पुस्तकसे फरक कर दिया। व्याकरण पढ़ानेकी सुलभ रीति निकाली। साहित्य-श्रेणीमें अङ्क-शिक्षाकी व्यवस्था की। अभी तक विद्यासागरकी बनायी नियमावली और प्रतिष्ठित व्यवस्था हिन्दू-कालेजमें विद्यमान हैं, जो उनकी चिन्ताशीलता और प्रतिभाका परिचय देती हैं।

एक दिन विद्यासागर कार्यवश हिन्दूकालेजके अध्यक्ष कार साहबके पास मिलने गये। अध्यक्ष कार साहब टेबुलपर पाँव रखकर, कुर्सीपर बैठे-बैठे, विद्यासागरसे मिले और उन्हें आसनपर भी बैठनेके लिये न कहा। विद्या-सागरने अपना बड़ा अपमान समझा। कुछ दिनोंके बाद कार साहबको विद्यासागरसे काम था। अतः वे जब विद्यासागरसे मिलने आये, तब वे भी अपने आसनसे न उठे

और पाँव टेबुलपर रखे हुए कार साहबसे बातें कीं। इसपर साहब विद्यासागरसे अति अप्रसन्न हुए और उन्होंने शिक्षा-विभागके संचालक मयेट साहबसे कहा। अब विद्यासागरसे कैफियत माँगी गयी। विद्यासागरने लिखा—"मैं समझता था कि हम भारतीय असभ्य हैं और सुसभ्य अँग्रेजोंके आचरण का अनुसरण करना ही हमलोगोंका धर्म है। एक दिन कार साहबसे मैं मिलने गया। आप मुझसे ठीक इसी प्रकार मिले। मैंने समझा कि हमारे आदर्श-स्वरूप अँग्रेजोंके समाजमें मिलनेकी रीति यही है। इसी कारण मैंने टेबुलपर पाँव रखकर कार साहबसे बातें की और उन्हें आसनपर बैठनेके लिये न कहा।" विद्यासागरका आत्मसम्मान देखकर मयेट साहब बड़े प्रसन्न हुए।

कुछ दिनोंके बाद ईश्वरचन्द्र और प्रधान सम्पादक श्रीयुत रसमयदत्तमें मतभेद हो गया। स्वाधीनचेता ईश्वरचन्द्रने उस पदका त्याग कर दिया। मयेट साहब तथा अन्य लोगोंने विद्या-सागरको बहुत समझाया; पर इन्होंने उस पदको लात ही मार दी। नौकरी छोड़नेपर यद्यपि इन्हें कष्ट झेलने पड़ते थे; पर इनके चेहरेपर विषाद और चिन्ताको झलकतक न थी। मध्यम सहोदर दीनबन्धुको जो वेतन मिलता था, उससे तो ये डेरेका खर्च चलाते थे और प्रति मास पचास रुपये ऋण लेकर पिताके पास घर भेजते थे। इसी समय पुस्तक-प्रणयनकी ओर भी इनका ध्यान गया।

१८४६ ई० में कलकत्ता फोर्ट विलियम कालेज में ८०) मासिकका एक पद शून्य हुआ। मार्टोल साहबने विद्यासागरको इस पदपर नियुक्त कर लिया। एवम् क्रमसे उन्नति करते-करते १८५१ ई० के जनवरी मास विद्यासागर संस्कृत कालेजके प्रिंसिपल नियुक्त हुए।

इसके पश्चात् आपने संस्कृत शिक्षासे सभी जातियोंको लाभ उठानेके लिये प्रस्ताव उपस्थित किया। इससे पण्डितमण्डलीमें खलबली मच गयी। पण्डितोंसे कर जोड़कर विद्यासागरने कहा—"यदि आप शूद्रादि नीच जातियोंके छात्रोंको संस्कृत शिक्षासे वञ्चित करना चाहते हैं, तो किस धर्म-बुद्धिसे आप वेतन लेकर साहबोंको संस्कृत पढ़ाते हैं"। इस प्रकारकी प्रबल युक्तिसे विद्या-सागरने अन्य जातिके बालकोंके लिये भी संस्कृतशिक्षा सुलभ कर दी।

इसी समय विद्या-सागरको एक पुत्र हुआ, जिसका नाम आपने नारायणचन्द्र रखा। इन्हें कालक्रमसे चार कन्याएँ भी हुईं।

विद्यासागरके साहित्यिक जीवनने इसी समय उन्नतिकी पराकाष्ठा प्राप्त की। आपने संस्कृत-व्याकरणकी रचना कर संस्कृत-शिक्षामें युगान्तर उपस्थित कर दिया। आपने पञ्चतन्त्र, रामायण, हितोपदेश, महाभारत प्रभृतिसे थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर ऋजुपाठ नामकी तीन पुस्तकें लिखीं। १८५५ ई० में आपका मासिक वेतन ५००) रु० हो गया। आप नदिया, हुगली, वर्द्धमान तथा मेदिनीपुर जिलोंके विद्यालयोंको देखनेके लिये इन्सपेक्टर बहाल हुए। इन्सपेक्टर होते ही आपने कलकत्तेमें एक नार्मल स्कूल खोला।

बेथून कालेजके संस्थापक बेथून साहब विद्यासागरके परम मित्र थे। इन्हींकी कृपासे विद्यासागर हिन्दू-संस्कृत कालेजके अध्यक्ष नियुक्त हुए थे। बेथून साहब तथा शिक्षा-समाजके सम्पादक मयेट साहब विद्यासागरकी उन्नति हृदयसे चाहते थे। मयेट साहब कुछ दिनोंके लिये विलायत चले गये। इनके स्थानपर डब्ल्यू० गर्डन नामक एक

अँग्रेज नियुक्त हुए। ये विद्यासागरसे घृणा करते थे, क्योंकि विद्यासागरके विचार इनके विचारसे नहीं मिलते थे। अतः १८५८ ई० में विद्यासागरने अपने पदका त्याग कर दिया और जीवनके अवशिष्ट भागको साहित्यिक और सामाजिक कार्योंमें बिताया।

* * *

जातीय जीवनके दो प्रधान चिह्न हैं—धर्म और भाषा। जिस जातिमें धर्मान्दोलनकी तरङ्गसे समाजकी देहमें सजीवता व्यक्त नहीं होती, उस जातिको मृत समझना चाहिये। धर्मशून्य जातिके द्वारा जातीय जीवनका संघटन सम्भव नहीं।

मातृभाषाके प्रति अटूट प्रेम रखते हुए ईश्वरचन्द्रने अपने लहूसे मातृभाषाको सींचा। घोर चिन्ता और अति परिश्रमसे बँगला-भाषाका लालन-पालन किया। सर्वप्रथम इन्होंने वासुदेव-चरित नामका एक गद्यग्रन्थ लिखा। १८४१ ई० में फिर वैतालपञ्चविंशतिका अनुवाद, बँगलामें, प्रकाशित किया। १८५५ में कालिदास-प्रणीत अभिज्ञान-शाकुन्तलके उपन्यास-भागका अवलम्बन कर शकुन्तला नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तकके रचना-माधुर्य, पदलालित्य तथा शब्द-विन्यासने पाठकोंका मन मुग्ध कर लिया। इसी वर्ष आपने विधवा-विवाह-विषयक पुस्तककी रचना की। इसके पश्चात् वर्णपरिचय, कथामाला, और चरितावली नामकी तीन पुस्तकें लिखीं। १८६२ ई० में विद्यासागरका 'सीतावनवास' प्रकाशित हुआ। यह युगान्तर उपस्थित करनेवाली पुस्तक थी। इसके भाव, भाषा और शैली परवर्ती लेखकोंके लिये पथ-प्रदर्शकका काम करती हैं। इसके पश्चात् आपने आख्यान-मंजरी, मेघदूत, भ्रांति-विलास और शेक्सपियरके Comedy of errors का अनुवाद कर बंगला-साहित्यको समृद्ध किया।

विद्यासागरने ५२ ग्रन्थ बनाये हैं, उनमें १६ संस्कृतके ग्रन्थ हैं और शेष बँगलाके। विद्यासागरकी बंगला-पुस्तकोंके विषयमें रामगति न्यायरत्नका वक्तव्य है कि "विद्यासागरके पूर्व जो बँगला-भाषा थी, वह केवल अनुस्वार-विसर्गवर्जित संस्कृत थी; पर विद्यासागरकी भाषा चुस्त, दुरुस्त और मनोहर है। उनके पूर्व और पश्चात् कोई भी उनकी तरह भाषा नहीं लिख सका।" स्वयम् बंकिम बाबू कहा करते थे—"विद्यासागरकी रचित बँगला-भाषा हम लोगोंका मूल धन है।"

सच पूछिये तो विद्यासागर समस्त जीवन विद्यार्थी बने रहे। संस्कृत, अँग्रेजी, बँगला तथा हिन्दीके अति प्रेमी थे। इन्होंने इन भाषाओंकी चुनी हुई पुस्तकोंका एक छोटा पुस्तकालय भी संस्थापित कर रखा था।

विद्यासागर स्त्रीशिक्षाके कट्टर पक्षपाती थे। प्रत्येक प्रधान स्थलमें स्त्रीविद्यालय स्थापित करनेके लिये आप बड़े-बड़े लोगोंसे सदा सहायता लेते थे। समाज-संस्कार और सुधारकी ओर आपकी प्रबल प्रवृत्ति थी। आपने विधवा-विवाह चलानेके लिये अनेक प्रयत्न किये। विधवाओंकी दयनीय दशा देखकर आपने उनके कल्याणके लिये अपना जीवन समर्पित कर दिया। विधवा-विवाह शास्त्र-संगत बतानेके लिये आपने धर्मशास्त्रोंको मथ कर व्यवस्था ठीक की। ईश्वरचन्द्रने समाज-संस्कार और सुधारके लिये जो प्रयत्न किया, उसका बड़ा प्रभाव बंग-देशपर पड़ा है।

ये केवल विधवा-विवाहका प्रचार तथा बहुविवाहका ही निवारण नहीं करते थे, प्रत्युत सब प्रकारकी सामाजिक कुरीतियोंको दूरकर उन्नतिके लिये कटिबद्ध रहते थे। इस समाज-संस्कारमें इन्हें

महामहोपाध्याय पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नसे विशेष सहायता मिली थी।

विद्यासागर बड़े उदार पुरुष थे। आपने अनेक विद्यालय संस्थापित किये। दरिद्र बालकोंको समधिक साहाय्य किया। अपने ग्राममें आपने अपनी पूज्या माता भगवतीके नामसे भगवती-विद्यालय खोल रखा था। अभीतक वीरसिंह ग्राममें यह विद्यालय विद्यमान है। जहाँ बालक और बालिकाओंको निःशुल्क शिक्षा दी जाती है। वीरसिंह तथा इसके समीपवर्ती ग्रामोंमें डाक्टरोंका अभाव था; अतः आपने अपने पाकेटसे बालकोंको आर्थिक साहाय्य प्रदान कर डाक्टरी शिक्षामें निपुण कराया। १८५१ ई० में आपने संस्कृतयन्त्र नामका एक प्रेस खोला। आपके द्वारा रचित ग्रन्थ यहीं प्रकाशित होते थे। मेट्रोपोलिटन कालेजमें भी आपने कुछ दिनोंतक प्रिंसिपलका कार्य किया था।

विद्यासागरको स्वार्थने छुआतक नहीं था। एक बार Central Text book Committee (केन्द्रीय पुस्तकनिर्वाचिनी परिषद्) के सदस्यके पदको स्वीकृत करनेके लिये एटकिन्सन (Atkinson) साहबने आपसे अनुरोध किया, पर विद्यासागरने लिखा कि मैं स्वयं ग्रन्थकार हूँ; अतः मैं इस पदको स्वीकृत नहीं कर सकता।

* * *

माइकेल मधुसूदन दत्तको बहुत ऋण हो गया था। ऋण नहीं चुकानेके कारण वह जेल जानेवाले थे। इनके परिवार रोटीके एक टुकड़ेके मुँहताज हो रहे थे। उस समय वे फ्रांस देशमें थे। ऐसे भयंकर कालमें मधुसूदनने विद्यासागरके पास एक पत्र भेजा। जिस समय मधुसूदनका पत्र विद्यासागरको मिला, उस समय विद्यासागरके पास एक कौड़ी भी नहीं थी। वह स्वयं ऋणग्रस्त थे। पर १५००) रु० ऋण लेकर विद्यासागरने मधुसूदन दत्तके पास भेजे। रुपये पाकर उन्होंने भरसेलिज़ (Versailles) से विद्यासागरको लिखा—

"मेरे प्रिय मित्र,

गत मासके रविवारके प्रातःकालमें जब मैं अध्ययन-भवनमें बैठा था, उस समय मेरी गरीब गृहिणी आयी, जिसकी आँखोंसे अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। वह बोली—'बच्चे मेलेमें जाना चाहते हैं; पर मेरे पास केवल तीन फ्रैंक हैं।'

मैंने कहा—'आज भारतसे डाक अवश्य आवेगी। उस महानुभावका समाचार आज अवश्य प्राप्त होगा, जिसकी प्रतिभा और बुद्धि पुरातन ऋषियोंकीसी है, जिसकी कार्यक्षमता अंग्रेजोंकीसी है और जिसका हृदय बँगाली माताओंकासा है।' मैं अपने अनुमानमें ठीक था। एक घंटेके उपरान्त आपकी चिट्ठी और १५००) रुपये मिले। बँगाली-माताका हृदय आप रखते हैं—यह मेरा सोचना क्या सत्य नहीं है?"

ईश्वरचन्द्रके चरित्रके विषयमें अधिक न लिख कर केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वे एक देवतुल्य मनुष्य थे। वे प्रतिमा-पूजाके उतने पक्षपाती न थे; किन्तु आस्थावान् हिन्दू जिस प्रकार भक्तिसहित देवी-देवताओंकी पूजा करते हैं, उसी प्रकार वे अपने जनक-जननीकी पूजा करते थे।

इनकी मृत्युके ठीक एक ही वर्ष पूर्व इनकी प्रिय पत्नी दीनमयी देवी, रक्तातिसारसे पीड़ित होकर, चल बसी। इस दुर्घटनाके बाद आपका स्वास्थ्य खराब होता गया। आप बालीं जाकर रहने लगे। शरीर दुर्बल हो गया।" १८९० की पहली जनवरीने आपको C. I. E. की

उपाधिसे विभूषित किया; पर १८६१ ई०की जुलाईको यह अच्छा न मालूम हुआ। १८६१ की २१ वीं जुलाई भारत-जननीको शोक-समुद्रमें प्लावित करनेवाली प्रमाणित हुई। उसी दिन ईश्वरचन्द्र जराजीर्ण भारत-जननीकी गोद शून्य कर अमरधामको प्राप्त हुए। इस लोकमें विषादका बादल उमड़ आया। परलोकमें आनन्दकी सौदामिनी चमकने लगी।

महामहोपाध्याय पक्षधर मिश्र

श्रीयुत गंगापति सिंह बी० ए०

मिथिलाको एक दिन ऐसा भी सौभाग्य प्राप्त था कि भारतवर्ष भरके विद्वान् न्याय, वैशेषिक, मीमांसा प्रभृति दर्शनशास्त्रोंकी उच्चातिउच्च शिक्षा प्राप्त करनेके लिये वहाँ जाते थे।

मिथिलाके इतिहास-वेत्ताओंने इस बातका पूरा पता, विश्वस्त प्रमाणोंके आधारपर, लगाया है कि बङ्गालके प्रसिद्ध आदि दार्शनिक रघुनाथ चिन्तामणि, जिन्हें रघुनाथ शिरोमणि भी कहते हैं, महामहोपाध्याय पक्षधर मिश्रजीके प्रसिद्ध शिष्य थे। यह पक्षधर मिश्रजी बड़े ही दुर्द्धर्ष विद्वान् थे। इनका नाम कुछ और था; किन्तु यह शास्त्रार्थमें जिस पक्षका उपादान करते थे, उसीमें विजय प्राप्त करते थे। शास्त्रार्थमें पराजित होना तो इन्होंने सीखा ही नहीं था; इसीसे इनका नाम पक्षधर मिश्र पड़ा था। इस मतको पुष्ट करती हुई यह प्राचीन संस्कृत उक्ति भी मिथिलामें प्रसिद्ध है—"शङ्करवाचस्पत्योः शङ्करवाचस्पती सदृशौ। पक्षधर प्रतिपक्षी लक्ष्यीभूतो न भूतले क्वापि।" अर्थात् शङ्कर मिश्र और वाचस्पति मिश्र ये दोनों महादेव तथा बृहस्पतिके अवतार रूप हो गये हैं। पक्षधर मिश्रका प्रतिद्वन्द्वी या प्रतिस्पर्द्धी पृथ्वीतलपर नहीं दिखाई पड़ता है।

मिथिलामें ऐसी भी जनश्रुति प्रचलित है कि पक्षधर मिश्र मैथिल कविकोकिल विद्यापति ठाकुरके समकालीन थे। एक दिन पक्षधर मिश्र विद्यापति ठाकुरकी अतिथि-शालाके एक कोनेमें दिया जलाकर कुछ लिख-पढ़ रहे थे। विद्यापति ठाकुर जब अपनी अतिथि-शालाका निरीक्षण, प्रति दिनकी नाईं उस दिन भी, करने आये, तब वहाँ एक कृशकलेवर, किन्तु प्रतिभावान्‌को बैठा देखकर व्यङ्ग्य पूर्वक यह श्लोकार्द्ध पढ़ा—

"प्राघूणः घूर्णवत् कोणे सूक्ष्मत्वान्नैव लक्ष्यते।"

अर्थात् अतिथि कीड़ेकी तरह सूक्ष्म होनेके कारणसे नहीं देख पड़ते हैं। इसपर पक्षधर मिश्रने उत्तर दिया—

"न हि स्थूलधियां पुंसां सूक्ष्मा दृष्टिः प्रजायते।"

अर्थात् स्थूल बुद्धिवाले पुरुषोंको सूक्ष्म दृष्टि नहीं उत्पन्न होती है। इस उत्तरको सुनकर विद्यापति ठाकुर चकित हो गये। उन्होंने सोचा, पक्षधर मिश्रको छोड़कर दूसरा शास्त्रार्थ क्या वार्त्तालापमें भी मुझे चुप करनेवाला इस भूतलपर नहीं है; अतएव यह भाई पक्षधरको छोड़कर दूसरा कोई नहीं हो सकता। बादमें दोनोंको दोनोंका परिचय हुआ।

पक्षधर मिश्रके यहाँ जब उक्त रघुनाथ शिरोमणि, जिन्हें शिरोमणि भट्टाचार्य्य भी कहते हैं, पढ़नेके लिये आये, तब उनके पहले गुरुने, जो बङ्गालके थे और जिन्हें छोड़कर उक्त भट्टाचार्य्यजी मिथिलामें अध्ययनार्थ आये थे, निम्नलिखित श्लोक लिख भेजा—

"अपि दिवसमनैषीः पद्मनी सद्मनिस्थः,
रजनिषु निरतोभूः कैरविण्यां रमण्याम्।
कथय कथय भृङ्ग स्वच्छ भावेन तावत्
किमधिकसुखम (!) वाप्तीरत्र वा तत्र वेति ?"

अर्थात् हे भ्रमर, तुमने दिन तो कमलिनीके घरमें बिताया और रातमें सुन्दर रमणीक कैरविणीमें मग्न रहे। अतएव निश्छल और निष्कपट होकर यह तो बताओ कि यहाँपर अर्थात् पद्मिनीके सङ्गमें अधिक सुख मिला अथवा वहाँपर कैरविणीमें ? कहनेका भाव यह था कि मुझसे भी तुमने, इतने दिनोंतक विद्या पढ़ी और अब इन दिनों पक्षधरजीसे पढ़ रहे हो। इस हेतु ठीक ठीक बताओ कि, मुझसे तुम्हें अधिक सन्तोष मिला या अभी अपने नूतन गुरुदेवजीसे मिल रहा है।

इसपर रघुनाथजीने अपने प्राचीन गुरुदेवको यह लिखा—

"त्वं पीयूष दिवो विभूषणमसि द्राक्षे परीक्षेत कः।
माधुर्य्यं तव विश्वतोपि विदितं साध्वीक माध्वीकता।
किन्त्वेकन्त्वपरं त्वदन्यिदमपि ब्रूमो न चेत् कुप्यसे
यत्कान्ताधरपल्लवे मधुरिमा नालक्षि कुत्रापि सः॥"

अर्थात् हे अमृत, तुम तो स्वर्गके भूषण हो और तुम्हारी जितनी प्रशंसा की जाय सब थोड़ी है। द्राक्षामें जो माधुर्य्य है, वह भी अनुपम ही है, उसकी परीक्षा करनेकी क्या आवश्यकता ? अर्थात् यह स्वतः सिद्ध है। हे माध्वी (महुआ), तुम्हारी जो मधुरता है, वह संसारको विदित ही है; किन्तु इन सबके अतिरिक्त एक ऐसी भी चीज है, जो सबसे आला है। तुम यदि क्रुद्ध न हो, तो कहूँ, यानी कान्ताके अधर-पल्लवमें जो माधुर्य्य है, वह और कहीं भी नहीं दिखाई पड़ता। कहनेका तात्पर्य यह है कि हे प्राचीन गुरुदेव महाराज, आपकी ख्याति विश्वविदित हो है। इस बातको कोई भी इनकार नहीं कर सकता; किन्तु नवीन गुरु पक्षधर मिश्रजीसे पढ़नेमें जो अन्तःसन्तोष और आनन्द मिलता है, वह संसारमे दुर्लभ है।

राममोहन राय

पं० कुलमणि मिश्र

बँगालके हुगली जिलेमें कृष्णनगरके पास राधा नगर नामका एक गाँव है, जहाँ राममोहन रायने सन् १७७२ ई० में जन्म ग्रहण किया था। इनके पितामहका नाम ब्रजविनोद राय और पिताका नाम रमाकान्त राय था। रमाकान्त राय पक्के वैष्णव थे और इनकी स्त्री तारणी देवी शाक्त पण्डितकी कन्या थी। दोनों ही स्त्री-पुरुष धार्मिक विचारके थे।

राममोहन राय बचपनसे ही तीव्रबुद्धि और मेधावी थे। उन्होंने बचपनमें बँगला पढ़ना आरम्भ

किया; पर उस समय मुसलमानी राज्यकी प्रधानता थी, जिससे फारसी-भाषाका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था। उनके पिताने अरबी-फारसी पढ़नेके लिये उन्हें पटने भेजा। दो बरस फारसी पढ़नेके उपरान्त राममोहन राय, माताके आग्रहसे, संस्कृत पढ़नेके लिये काशी भेज दिये गये। वहाँ थोड़े ही दिनोंमें उन्होंने संस्कृत-भाषामें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। वह बड़े ही तत्त्वान्वेषी मनुष्य थे। उन्होंने सबसे प्रथम फारसीमें "तुहफतुलमुवाही दीन" नामक पुस्तक लिखकर उसमें यह दिखलाना चाहा कि सब धर्म एक ईश्वरको मानते हुए भी परस्पर झगड़ा करते हैं। एक अपने मतको उत्तम कहकर दूसरेके मतोंकी निन्दा करता है। यदि कोई बात असत्य हो और उसे हजारों मनुष्य मानते हों, तो उसे छोड़ सत्यको ही मानना श्रेष्ठ है। इसके बाद हिन्दूशास्त्रोंमें मूर्त्तिपूजाका विधान न देख, सोलह ही वर्षकी अवस्थामें उन्होंने 'मूर्त्तिपूजा"पर अपनी एक पुस्तक प्रकाशित करायी। इसमें उन्होंने यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की कि हिन्दूजातिमें जो मूर्त्तिपूजाकी चाल है, वह वेद-उपनिषद् आदि पवित्र ग्रन्थोंके विरुद्ध है। जब रमाकान्त रायको यह मालूम हुआ कि उनका प्यारा पुत्र हिन्दुओंके प्रचलित धर्मके विरुद्ध मत रखता है, तब क्रुद्ध होकर उन्होंने अपने पुत्रको घरसे निकल जानेपर बाध्य किया। घर छोड़नेपर अनेक स्थानोंमें घूमते-फिरते राममोहन तिब्बत पहुँचे। वहाँ उन्होंने बौद्धधर्मकी शिक्षा प्राप्त की। इस समय उन्होंने अनेक स्थानोंकी भाषाएँ भी सीखीं और भिन्न देशोंके मनुष्योंकी धार्मिक रीतियोंका ज्ञान प्राप्त किया। कुछ दिनोंके बाद वह पिताके बुलानेपर घर लौटे।

राममोहनका पहला विवाह छोटी उम्रमें हुआ था और वह स्त्री छोटी ही उम्रमें परलोक भी सिधार गयी। पिताने दूसरा विवाह कर दिया और कुलीन प्रथाके अनुसार दूसरीके रहते तीसरीसे भी विवाह कर डाला। राममोहन रायने बाईस वर्षकी अवस्थामें अँग्रेजी पढ़ना आरम्भ किया और छ ही वर्षमें अँग्रेजीका पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। १८०० ई० में राममोहन रायको रंगपुरमें सरकारी मुहर्रिरका काम मिला। अपनी बुद्धिकी तीक्ष्णताके कारण राममोहन राय धीरे-धीरे थोड़े ही दिनोंमें सिरिस्तेदार बन गये और साधारण प्रजाकी हित-रक्षा कर बहुत प्रशंसित हुए।

राममोहन रायने १८१३ ई० में अपने पदको त्याग दिया। आफिसके झंझटसे छुटकारा पाकर उन्होंने बड़े जोरसे प्रचलित धर्म-विश्वासपर आक्रमण करना आरम्भ किया। कभी छोटी-छोटी पुस्तक छपवा कर मुफ्त बाँटते और कभी कुछ वादविवाद भी करते। कुछ दिन बाद वह रघुनाथपुरमें एक मकान बनवाकर रहने लगे। फिर वे कलकत्ते चले आये। यहाँ आनेपर उन्होंने १८१५ ई० में व्यासकृत वेदान्तशास्त्रका बँगलामें अनुवाद किया। १८१६-१७ में उन्होंने उपनिषदोंका हिन्दी, बँगला तथा अँग्रेजीमें अनुवादित किया। वह मुख्य दस उपनिषदोंको बहुत पसन्द करते थे। उपनिषदोंके प्रकाशित होनेसे सनातनियोंका क्रोध उबल पड़ा। उन पुस्तकोंके उत्तरमें गालियोंसे भरी पुस्तक प्रकाशित होने लगीं, पर राममोहन रायने धैर्यसे काम लेकर उन गालियोंका सहन किया। उन्होंने बायबिल और कुरान पढ़कर उनका तत्त्व भी जाना था। १८२० ई० में उन्होंने अँग्रेजीमें संस्कृत और बँगला अनुवाद सहित एक पुस्तक प्रकाशित करायी, जिसका नाम "Precepts of jesus, the guide to

peace and happyness" था। इस पुस्तकमें उन्होंने यह दिखलाया कि, ईसा केवल धर्मोपदेशक थे। ईश्वरके पुत्र नहीं। इस पुस्तकको लिख कर क्रिस्तान धर्मपर आक्रमण करना या उन लोगोंसे विवाद करना उनका अभिप्राय नहीं था; पर अगत्या उन्हें भयानक वाद-विवादके समुद्रमें पड़ जाना ही पड़ा। ईसाका ईश्वरत्व अस्वीकार करनेके कारण श्रीरामपुरका क्रिश्चियन समाज उबल पड़ा। 'फ्रेंड आफ इंडिया'के सम्पादक डाक्टर मार्शमैनने 'प्रिसेप्टस"के खण्डनमें लेख लिखा। अपना पक्ष समर्थन करनेके लिये राममोहन रायने प्रथम पुनर्विचार प्रार्थना तथा द्वि० पु० वि० प्रा० नामक लेख प्रकाशित कराये; किन्तु जब उन्होंने अन्तिम प्रार्थना नामक लेख प्रकाशित करना चाहा, तब मिशन प्रेसने उसे छापनेसे इनकार कर दिया। इससे और भी उत्साहित होकर उन्होंने अपना प्रेस स्थापित किया और उसे प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने सिद्ध कर दिया कि "ईसा ईश्वरके पुत्र नहीं थे और क्रिस्तान लोग अपने धर्म-ग्रन्थ बायबिलके विरुद्ध चल रहे हैं।"

राममोहन रायकी अपील यूरोप तथा अमेरिकामें भी छापी गयी। इन पुस्तकोंके प्रकाशित होनेसे सर्व-साधारणका ध्यान राममोहन रायकी ओर आकृष्ट हो गया। इसके कुछ दिन बाद ही "ब्राह्मनिकल मैगजिन"। नामक एक सामयिक पत्र प्रकाशित करना उन्होंने आरम्भ किया। इसी वर्ष राममोहन रायने "संवाद-कौमुदी" नामक एक और पत्र निकाला। यही देशी पत्रोंके प्रचारका मुख्य कारण हुआ। १८२२ में "मिरातुल अख़बार" नामक पत्र निकाला। इसके बाद ही—एक कानून पास हुआ कि बिना सरकारी आज्ञाके कोई समाचार-पत्र प्रकाशित नहीं हो सकेगा। राममोहन रायने सरकारके पास दरख्वास्त भेजकर इसकी हानियाँ दिखलाते हुए कानून रद्द करनेकी प्रार्थना की; पर इस अपीलका कोई अच्छा फल नहीं हुआ।

पहले राममोहन राय और उनके साथी ईसाइयोंकी युनिटेरियन सभामें जाकर प्रार्थना-उपासना किया करते थे। १८२८ में उनके साथियोंने कहा "हम लोग विदेशीयोंके मन्दिरमें जाकर पूजा क्यों करें? उचित है कि अपने देशके नियमानुसार हमलोग अपना अलग मन्दिर बनावें।" राममोहन रायको यह सम्मति पसन्द आयी। सन् १८२८ में उन्होंने "ब्रह्म-सभा" नामकी एक सभा स्थापित की। इस सभाका कार्य वेद तथा वेदानुयायी मनुस्मृति आदि शास्त्रोंके आधारपर किया गया। इसके आरम्भमें गान होता था तब वेदकी ऋचाओंका भाषामें अर्थ किया जाता था। क्रिश्चियन लोग राममोहनके जरिये हिन्दुस्तानको ईसाई बनाना चाहते थे; पर इस रीतिसे ब्रह्म-सभाका कार्य्य होते देख सब-के-सब निराश हो गये। ईसाई लोग उनके मरते समयतक भ्रममें ही पड़े रह गये। सन् १८८० में उन्होंने एक मन्दिर और फंड स्थापित कर इसे चिरस्थायी बना दिया। उनका यह सिद्धान्त भी था कि हमलोगोंका आचार-व्यवहार वेदादि पवित्र ग्रन्थोंके अनुकूल ही हो।

१८२९ ई० में राममोहनका ध्यान सती-प्रथाकी ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने लार्डबेंटिकसे परामर्श कर एक कानून बनवाया जिससे सती होना बिलकुल ही रुक गया। उनहोंने स्त्रियोंके दायभागके लिये भी विवाद उठाया। उन्होंने हिन्दू-शास्त्रके आधारपर दिखलाया कि पुत्रके समान माता भी अपने पतिके मरनेपर सम्पत्तिका भाग पा सकती है। बहु-विवाहको भी शास्त्र-विरुद्ध

सिद्ध किया और विधवाओंके विवाहका समर्थन किया। स्त्रीशिक्षाके वे पूरे प्रेमी थे। इन सब कामोंके लिये उन्होंने "सम-बन्धु" नामक पत्र निकाला। इन सब कामोंसे हिन्दूसमाज इतना रंज हुआ कि राममोहन रायका प्राणतक लेनेपर तैयार हो गया।

दिल्लीके भूतपूर्व बादशाह इंगलैंडके राजेश्वरके पास अपना दुःख निवेदन करना चाहते थे। इस महान् कार्य्यके लिये उन्होंने "राजा"की पदवीसे सम्मानित कर राममोहन रायको नियुक्त किया। १८३० ई० के नवम्बर महीनेमें राजा राममहन रायने इंगलैंडकी यात्रा की। तत्कालीन ब्राह्मण-समाजके राममोहन सबसे प्रथम ब्राह्मण थे, जिन्होंने समुद्रयात्रा निषेधकी असारता सिद्ध करनेके लिये विदेश गमन किया। इंगलैंडमें जो सत्कार उनका हुआ, वह शायद ही किसी राजा-महराजाको हुआ हो। १८३१ ई० में वह फ्रांस गये और वहांके राजासे मुलाकात की। वहांके विद्वानोंने उन्हें "एशियाटिक सोसायटी"का सभासद् बनाया। १८३३ में वह फिर इंगलैंड वापिस आये।

सन् १८३३के सेप्टेंबर महीनेमें डाक्टर कार पेन्टरका निमन्त्रण पाकर राजा राममोहन राय ब्रिस्टल शहरके निकटस्थ "स्टेपलटनग्रेम' नामक स्थानमें रहने लगे। यहाँ रहते समय उन्हें ज्वर आया और स्थानीय योग्य डाक्टरोंकी सहायता पानेपर भी २७ सितम्बर १८३३को वे इस असार संसारको त्याग कर परलोकगामी हो गये। इस खबरको सुनकर सर्वत्र शोक मनाया गया। वह एक ऐसे योग्य पुरुष थे कि, जिन्हें पाकर, हर एक देश और हर एक समाजका मनुष्य अपनेको गौरवान्वित समझ सकता था।

विषादकी रेखा

[एकाङ्की नाटिका]

श्रीयुत अनूपलाल मण्डल, साहित्यरत्न

राणा प्रताप—मेवाड़ाधिपति
प्रभावती—महारानी
रेखा—राणाकी कन्या
भील—सेवक

(स्थान—अर्वली पहाड़की जनहीन तराई। निःशब्द वन-प्रान्त। सन्ध्या-जैसी उदास एक छोटी-सी झोपड़ी। समय—सायाह्न काल, सूर्य क्षितिजके पास पहुँच चुका-सा दीख पड़ना।

झोपड़ीके पास, आँगनमें दूबपर अकेली उदास प्रभावती बैठी है। उसकी दृष्टि अस्तंगत सूर्यकी ओर गड़ी है। चेहरा सूखा, आँखोंपर विषादकी रेखा, गम्भीर और चिन्ता-रत मुखमुद्रा। रेखा-एक टीलेसे उतरकर धीरे-धीरे माँके पास आ रही है।)

रेखा—माँ! माँ!!

(प्रभावतीकी दृष्टि सूर्यकी ओरसे हटकर रेखा-पर जा पड़ती है। प्रभावतीके उदास मुख-मण्डलपर सहसा प्रफुल्लताकी रेखा खिँच आती है।)

प्रभावती—आयी, आयी बिटिया! कहाँ गयी थी?

रेखा—कहीं तो नहीं माँ! टीलेपर गयी थी और देख रही थी, पिताजी तो नहीं आ रहे हैं?

(प्रभावतीकी गोदमें रेखा बैठ जाती है। प्रभावती उसे अपनी छातीसे चिपका उसके गालों-पर स्नेहकी मुहरें बैठा देती है।)

प्रभावती—(खिन्न होकर)—तो क्या देखा रानी बेटी! आ रहे हैं वे?

रेखा - नहीं तो...... नहीं तो अम्मा! कब वे जाते हैं और कब लौट आते हैं—मुझे इसका पता नहीं चलता। अम्मा! कहाँ जाते हैं वे? क्या तुम्हें कह कर नहीं जाते?

प्रभावती—उनके जाने-आनेकी क्या पूछती हो बेटी? कैसे कहूँ कि, वे इस समय कितने चंचल हो उठे हैं! .... कितनी चिन्ता, कितना मनस्ताप!! आनपर......क्षत्रिय जीवन कितना संकटापन्न, कितना कठोर, ... कितना भयङ्कर ... बेटी, तुम इसे नहीं समझ सकती!

(प्रभावतीकी आँखें, न जाने क्यों, छलछला आती हैं; पर वह, उन्हें रेखासे छिपानेके लिये डूबते हुए सूर्यकी ओर देखने लगती हैं।)

रेखा—नहीं समझ सकती! समझती हूँ, माँ! उस दिन जो तुमने कहा था! याद है न अम्मा! पिताजी एक जगहसे दूसरी जगह, एक वनसे दूसरे वनमें क्यों मारे-मारे फिर रहे हैं? ......कबतक इस तरह दिन कटेंगे! कब तक हमलोग राजधानी को वापिस जायँगे? .. उफ पिताजीको कितना कष्ट है? अच्छा माँ, मैं कब बड़ी होऊँगी? मैं भी पिताजीको लड़ाईमें साथ दूँगी और दिखा दूँगी उस दुश्मनको—देखो—मेरी तलवारकी धार कितनी तेज है! (झोपड़ीसे तलवार निकाल कर दिख-लाती है।)

प्रभावती—साबाश बेटी, आखिर, राजपूतनी ही तो ठहरी! बेटी, तुम बहुत जल्द बड़ी होओगी; ... पर यह तो कहो, तुम लड़ाईमें पिताजीका साथ दे सकोगी? भय तो न होगा? ... भाग खड़ी तो न होओगी?

(रेखा खिलखिलाकर हँस पड़ती है।)

रेखा—कैसी बातें कर रही हो, अम्मा ! भाग खड़ी होऊँगी ? और मैं ? हर्गिज नहीं—हर्गिज नहीं ! और भयकी बात कहती हो ?......जिसे भय ही होगा, वह जूझनेको रणमें जायगा ही क्यों ?

प्रभावतीके मुख-प्रदेशपर गर्वकी लालिमा भर जाती है, उसकी पलकोंपर नशा छा जाता है, वह खिल पड़ती है। पर, सहसा उसकी दृष्टि रेखाकी छिली हुई पिंडलियोंपर जा पड़ती है।



राणा प्रताप

वह चौंक उठती है। उसका चेहरा फीका पड़ जाता है और वह क्षत स्थानपर अपनी उँगलियाँ फेरने लगती है।

प्रभावती—यह क्या ? ..यह क्या ? कहाँ चोट लगी, बेटी ? कैसे .....चोट !

रेखा—मैं टीलेसे उतर रही थी, माँ, जोरसे दौड़ी, पैर टकरा गये एक चट्टानसे और मैं वहीं खाते खाते गिर पड़ गयी ! बड़े जोरकी चोट लगी थी, माँ ! देखो ना माँ, माँस कट गया है ! बहुत रक्त......... मैंने तुमसे नहीं कहा माँ !...... तुम तो देखते ही रो पड़ती !......तुम्हें तो रोना-ही-रोना आता है ? पर, तुमने देख लिया कैसे, अम्मा ?

प्रभावती—तुम अपने कष्टोंको छिपाती हो, रानी-बिटिया, और इसलिये कि मैं रो पड़ती हूँ ! कैसे कहूँ कि माताका हृदय कैसा होता है ! अवश्य मेरा भाग्य आज सो गया है ! मैं तुम्हारे कष्टोंको देखकर भी कोई उपचार नहीं कर सकती। उफ... विपत्ति..... दरिद्रता ..... !

(प्रभावती आँचल फाड़कर घावपर पट्टी बाँधने लगती है।)

रेखा—छोड़ दो—छोड़ दो, माँ ! घाव कुछ वसा नहीं . ..... क्या मैं इतना भी नहीं सह सकती ?

(प्रभावती उदास आँखोंसे उसकी ओर देखने लगती है। सूर्य अस्त हो जाता है। पक्षी अपने घोंसलेकी ओर जाते हुए दीख पड़ते हैं। सन्ध्या कृष्णवसना हो जाती है।)

रेखा—भूख···भूख, माँ ! कुछ रोटी-ओटी ··!

प्रभावती—भूख लगी है, बेटी ! अच्छा, ठहर ! मैं देखती हूँ।

(प्रभावती झोपड़ीमें आकर इधर-उधर रखी-रखाई रोटी खोजती है, एक-एक मिट्टीके बर्तन ढूढ़ लेती है ! पर व्यर्थ ! सभी रिक्त पड़े ढुलक रहे हैं। वह उदास हो जाती है और फिरसे रिक्त बर्तनोंमें हाथ डालती है—कहीं मिले तो ! वह कुछ दे। किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाती और कुछ निश्चय नहीं कर पाती है ! आखिर उदास होकर बाहर निकल आती है।)

प्रभावती—(दूब पर लेटी हुई रेखाको पुचकार कर)—अभी तो कुछ न मिला, बेटी ! जरा ठहर जा, मैं ताजी रोटी सेंक दूँगी !

रेखा—बड़ी भूख है, माँ !

प्रभावती—हाँ, भूख होगी ! अभी-अभी आ चला वह भील ! आँटा लायगा और मैं बेटीको रोटी सेंक दूँगी—खूब पतली-पतली !

(प्रभावती उसे थपकियाँ देती है। उसकी आँखें झिपने लगती हैं। उसे धीरे-धीरे नींद आ जाती है। प्रभा उसे सोई हुई जान उठ खड़ी होती है !)

\+ \+ \+

(प्रभावती—अकेली उदास होकर इधर-उधर घूम रही है। उफ, कितना मनस्ताप ! एक-मात्र भोली-सी दुधमुँही कन्या भूखसे दम तोड़ कर लेट रही ! जलपानतक मयस्सर न हुआ ! प्रभावती चञ्चल हो उठती है, उसकी चंचल आँखें किसीके आनेकी प्रतीक्षामें व्यस्त हो रही हैं ! पर, कोई तो आवे ! चाँद आकाशमें चमक रहा है; पर, उसका हृदय बैठा-सा जा रहा है ! वह कभी भीतर झोपड़ीमें जाती और रखे-रखाए बर्तनोंको टटोलती है ! एक दाना भी तो मिले ! आखिर, निराश हो बाहर आँगनमें आ इधर-उधर घूमने लगती है। सहसा एक भीलको आते हुए देखती है। उसकी उत्कंठा जग उठती है। वह पास आ जाता है और सिर झुकाकर एक छोटी-सी गठरी उसके सामने रख देता है।)

प्रभावती—आ गये—आ गये रामू ! क्या है ?

भील—माँ कुछ मिला नहीं ! थोड़ासा 'सामा' मिला, वही लाया हूँ !

प्रभावती—'सामा' ! (एक गहरी आह लेती है !)

भील—हाँ ! रानीजी !

प्रभावती—रानीजी कहना छोड़ दो—छोड़ दो रामू, रानीजी कहना !

(प्रभावतीकी आँखें डबडबा आती हैं ! वह दूसरी ओर मुंह फेर लेती है।

भील—रानीजी कहना कैसे छोड़ दूँ ! दुख... तकलीफ सभीको आती है !......तो रानी कहना छोड़ दूं ! मेरी मालकिन !

प्रभावती—(अपनेको सचेतकर) हमलोग कितने कृतज्ञ हैं तुम्हारे, रामू ! इस विपद्में यदि तुमने साथ न दिया होता ! यदि साथ न दिया होता तो, हमलोग रोटीके बिना मर जाते ! तिसपर रानी कहते हो ? किस तरह मैं तुम्हारे ऋणसे......

भील—दुखमें घबराना न चाहिये...... कृतज्ञकी बात न कहो, रानीजी ! तुम्हारे अन्नसे यह शरीर पला है ? आखिर, हमलोग हैं किस कामके ! तुम्हारा क्या भला कर सकते हैं !

प्रभावती—और इससे अधिक उपकार क्या हो सकता है ! अच्छा जाओ अपना काम देखो ! मैं भी अपना काम देखती हूँ ।

(भील सिर झुकाकर चल देता है। प्रभावती आँटा पत्तलमें डाल लेती है और मिट्टीके बर्तनमें जल लाकर उसे गूंधने लगती है। बड़ी मुश्किलसे उतने-से आँटे की छोटी-सी दो रोटियाँ बन पाती हैं। प्रभावती लकड़ियाँ सुलगाकर मिट्टीके तवेमें उन दोनों रोटियोंको सेंक अलग ढाँक कर रख छोड़ती है और रेखाके पास आकर उसके उठनेकी प्रतीक्षा करती है। इतनेमें उसे भी नींद आ जाती है। वह लेट जाती है। इसी बीचमें एक वनबिलाव आकर झोपड़ीमें खड़बड़ करता है। प्रभावतीकी नींद टूट जाती है और वह भीतरकी ओर जाती है, तबतक वनबिलाव दोनों रोटियोंको लेकर भाग जाता है। प्रभावती बर्तनको

खाली देख बनबिलावके पीछे दौड़ती है; पर व्यर्थ! वह आह मार कर रह जाती है।)

(बारहके करीब रातका समय। राणा प्रताप घोड़ेपर चढ़ा आता है। प्रभावती उठकर घोड़ेकी लगाम पकड़ती है। राणा उतर पड़ता है। प्रभावती घोड़ेको पासके वृक्षकी एक शाखासे बाँध देती है। प्रताप उतर कर आँगनकी सब्ज दूबपर बैठकर सुस्ताने लगता है। प्रभा मिट्टीके बर्तनमें जल लाकर उसके पाँव धोने लगती है।)

प्रभावती—कहो, क्या कर आये?

प्रताप—करूँगा क्या? अब आशा न रही! शत्रु पीछे पड़ा हुआ है। उसके गुप्तचर मेरी खोजमें व्यस्त हैं। आज तो मैं बाल-बाल बच निकला! उन लोगोंने मुझे पहचान तो लिया अवश्य और मेरे पीछे घोड़े भी छोड़े! पर, वाह रे मेरा घोड़ा! नदी-नाले और खंदकोंको लाँघते तीरकी तरह छूट पड़ा! बड़ी मुश्किलसे जान बची!

प्रभावती—पर, इस तरह कबतक जान बची रहेगी? कब तक इस तरह मारे-मारे फिरोगे? शक्ति नहीं, संबल नहीं और न कोई साथ देने वाला!… …आन पर……छोड़ दो…… आधिपत्य……।

प्रताप—आधिपत्य! प्रताप दूसरेका आधिपत्य स्वीकार नहीं कर सकता… …नहीं कर सकता! जबतक नसोंमें लहू है, लहूमें उबाल है…… आधिपत्य वह भी मुगलोंका…स्वीकार नहीं कर सकता! बलासे शक्ति नहीं, संबल नहीं, साथी नहीं…साहस तो है…देख लूँगा इसीसे! पर, आन……!

प्रभावती—जानती हूँ—जानती हूँ, जीवन-धन! साहससे अभीतक हमलोग जीते-जागते आ रहे हैं। पर, यह कबतक! अब कि दुश्मनोंसे पिण्ड छूटनेका नहीं। वह भी ऐसे-वैसे दुश्मन नहीं! उत्तर भारतका एक-एक कोना जिन्होंने अपने अधिकारमें कर लिया! मेवाड़की भूमि जिनसे सन्तप्त हो रही है!……आह! जननी जन्मभूमि!!

प्रताप—जननी जन्मभूमिका उद्धार करूँगा और मरतेदम उसके उद्धारमें अपना रक्त बहाऊँगा। …पर, प्रभा, रातको ही यहाँसे हम लोगोंको कहीं अन्यत्र चल देना चाहिये! पता नहीं, कब गुप्तचर यहाँ तक न धमक जायँ।

(प्रताप रेखाकी देह सहलाने लगता है।)

प्रताप—रेखा! रेखा!! कब सोयी है।

प्रभावती—संध्याको ही सो गयी है।

(प्रताप सोयेमें रेखाका चुम्बन करता है। रेखा जाग जाती है। चन्द्र-ज्योत्स्नामें वह अपने पिताको अपने पास बैठा देख कर बोल उठती है।)

रेखा—पिताजी, कब आये! मैं तुम्हारी राह देख रही थी! माँ, भूख!

प्रभावती मुँह फेर लेती है। वह उत्तर दे तो क्या दे? उसकी आँखोंसे आँसू झरने लगते हैं।

प्रताप—बच्चीने अभीतक खाया नहीं है क्या, प्रभा!

प्रभा……।

प्रताप—प्रभा!

प्रभा—क्या?

प्रताप—बच्ची बिना खाये-पिये सो रही थी?

प्रभा—हाँ!

प्रताप—क्यों?……अच्छा, दो इसे खानेको! और कुछ अधिक है? लाओ—मुझे भी भूख लगी है?… …आज दिन भर तो… …लाओ कुछ।

प्रभा………।

प्रताप—बोलती नहीं हो, प्रभा! क्या कुछ नहीं है?

······बनबिलाव आया! खड़खड़ाहट हुई! मैं जाग पड़ी। दौड़ी। इतनेमें वह भाग निकला। मैंने जाकर देखा—बर्त्तन खाली पड़ा हुआ था! मैं उसके पीछे दौड़ी; पर उसका पता न चला!

प्रताप—कुछ नहीं बची।

प्रभा—नहीं।

रेखा—भूख!

(रेखा प्रतापकी गोदमें पड़ जाती है। प्रताप विह्वल हो जाता है! आज एक मात्र राजकुमारीक आहार छिनकर बनबिलाव भाग निकला! भोजन-तक नसीब नहीं। प्रताप उठ खड़ा होता है, क्रोधसे उसकी भौं तन जाती है। दिमाग गर्म हो उठता है। वह इधर-उधर घूमने लगता है।)

प्रताप—बस! अब अन्त हो चुका! प्रभा, अन्त हो चुका! मेरी बची... . भूखी रहे! निष्ठुर विधाता! (आकाशकी ओर देखने लगता है) अब सहा नहीं जाता! भूखा प्यासा, दम तोड़ता हुआ मैं रह सकता हूँ, मगर बचीको... .....उफ़! आखिर, विपत्तिकी भी सीमा होती है और उसके सहनेकी भी! ....निष्ठुर......(दाँत पीसने लगता है।)

रेखा—(रोती हुई)—बड़े जोरकी भूख लगी है, पिताजी! मैंने अम्माको कई बार कहा, मगर वह देती नहीं है।.........पिताजी . ...भूख।

प्रताप—बेटी-बेटी मेरी! (गोदमें लेकर पुचकारकर) चुप रह बेटी!

(रेखा जोर-जोरसे रोती ही रहती है।)

प्रताप—(उसे गोदसे नीचे रखकर) प्रभा, मैं सभी कुछ सह सकता हूँ, पर बचीका बिलखना मैं सह नहीं सकता! ·······आन ······· ऐसी आनको रख कर क्या करूँगा जब कि म अपनी बचीको भूखके मारे रोती देख रहा हूँ! हाय रे निष्ठुर पिता! (प्रताप पागलसा हो उठता है।)

जाता हूँ—जाता हूँ, बचीके खानेका प्रबन्ध करने! आधिपत्य स्वीकार करूँगा—करूँगा—बची भूखके मारे दम तोड़ रही है मैं खुद अपनेको पकड़वा देता हूँ!··· क्या हुआ, लोग हँसेंगे!······ प्रभा, बचीको सम्हाले रखना! मैं बहुत जल्द आता हूँ! (रेखाको चूमकर) बेटी, आ रहा हूँ, जगी रहना! अभी-अभी खाना लेकर आया!

(प्रताप कपड़े पहनकर तैयार हो जाता है, घोड़ेको कसकर तैयार होता है। रेखा अबतक रोती ही रहती है। प्रभा किंकर्त्तव्यविमूढ़ दीख पड़ती है! उससे कुछ कहा ही नहीं जाता। प्रताप घोड़ेकी ओर बढ़ता है।)

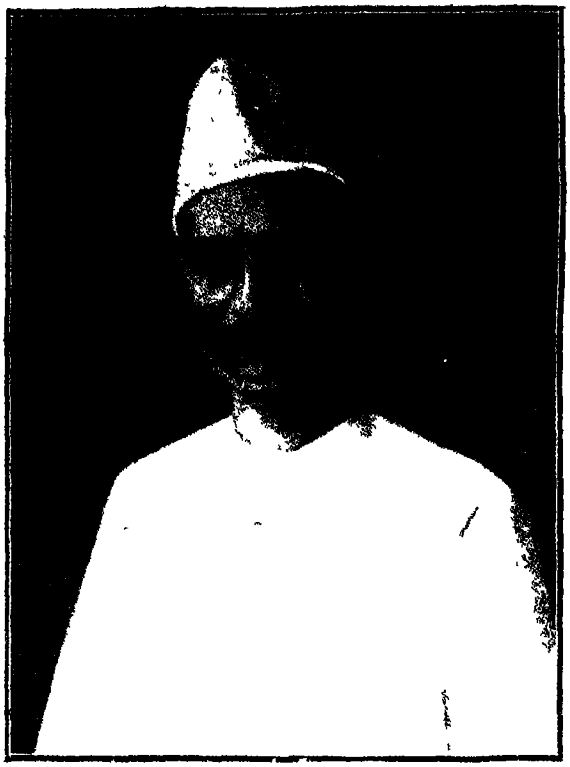
प्रभावती—(बढ़कर घोड़ेकी लगाम थाम लेती है) ठहरो-ठहरो, प्राण धन! ·· इतनी रात को ··· बच्चीको ·····बच्चीको मना लूँगी। ·· ···आन!

प्रताप—फिर ऐसी आनको? ठहरनेको कहती हो प्रभा? बुद्धि मारी तो नहीं गयी है? उफ़, पेटकी ज्वाला! मैं पाँच दिनतक निराहार रह सकता हूँ, पर, वह मासूम बच्ची। नहीं—नहीं ठहर सकता। (जरा चौंक कर) वह देखो—बच्चीको घिग्घी बँध गयी। एक मिनट ···और नहीं··· ! उफ़!!

(प्रताप घोड़ेकी लगाम प्रभाके हाथसे लेकर घोड़ेपर सवार हो ऐंड़ लगाता है। घोड़ा तीरकी तरह छूट पड़ता है। प्रभा एक दृष्टिसे उसकी ओर देखती ही रह जाती है। इतनेमें रेखा बोलती है—)

रेखा—दम घुँट रहा है, माँ,···· ··जरा पानी।

(प्रभावती झपट कर उसके पास आ घड़ेसे पानी उड़ेलनेका प्रयत्न करती है!)



राष्ट्रपति राजेन्द्रबाबू

श्रीयुत कपिलदेवनारायण सिंह "सुहृद्"

युगल पुण्य आलोक उतर
भारतमें केन्द्रीभूत हुआ ।
एक बना राजेन्द्र एकसे
गुरु गान्धी उद्भूत हुआ ॥

गौरवकी जग पड़ी किरण
जाग्रतिकी ज्योति जगी आयी ।
युगल सूर्य्य जब उगे तभी
घर-घरमें पुण्य विभा छायी ॥

चिर विस्मृत प्यारे बिहारके
वनमें विहँस पड़े ऋतुराज ।
एक पुत्रने सजा दिये
जननीके बिखरेसे सब साज !!

जब जगदीशपुरीसे सोई
रुकी कुँवर सिंहकी हुँकार ।
जिरादईमें हुई प्रतिध्वनि
सुनी देशने शान्त पुकार ॥

तू विहार नभका अगस्त्य उड़ु
भारतका जयहार हुआ ।
सारनका चमका सुहाग
तुझको पा धन्य विहार हुआ ॥

मौर्यों की महिमा विशाल
लिच्छवियोंकी गरिमा प्यारी ।
ले चाणक्य-नीति जगतीमें
आया तू बन अवतारी ॥

कलुषपूर्ण युगमें तूने,
तपकाननका श्रृङ्गार किया ।
कुत्सित भूतलपर स्वर्गिक,
शुभ-शान्ति सुमंत्र प्रचार हुआ ॥

जब विहार-व्रजपर सकोप
आया भूकम्प प्रलयकारी ।
सरल प्रजाके लिये बना तू
नटवर गोवर्धनधारी ॥

कीर्ति-केतु सतत नभपर
उड़ता है अहे वीर तेरा ।
और चरण चूमने ललकता है
यह भक्त हृदय मेरा ॥

त्यागी, तपी, संयमी है तू
माताका गलहार हुआ ।
तैंतीस कोटिका शीश-मुकुट
भारत-भूका श्रृंगार हुआ ॥

छिपनेको लाख छिपा; लेकिन
आखिर सुगन्ध-संचार हुआ ।
चारो दिशि पूजा सजी, बिहारी—
गान्धीका अवतार हुआ ॥

मेरे घरका उज्ज्वल प्रकाश तू
सेवाका व्रतधारी है ।
दीनों-दलितोंका परम बन्धु
माताका अटल पुजारी है ॥

ममताका बन्धन तोड़ चला
समताका बन अनुरागी है ।
चल पड़ा बाँध कफनी सिरसे
बनकर तू परम विरागी है ॥

तेरे तपकी ज्वाला करालमें
देव ! देशके दुःख जलें ।
तेरे आँसूसे सिक्त वृक्षमें
शीघ्र सुधा-फल मञ्जु फलें ॥

तू राष्ट्रपति ! हुँकार भरे
बलिदानोंकी लग जाय झड़ी ।
कट जाय कड़ी माताकी द्रुत
हँस पड़े क्षितिजपर मुक्ति-घड़ी ॥

जय-जय सारा देश जगे
माला जयकी पहनानेको ।
नभका हम इन्दु उतार सकें
तेरी आरती सजानेको ॥

छत्रपति शिवाजी

प० जगदीश झा "विमल"

"शिवाजी न होते तो सुन्नत होती सबकी।"

वीर-केसरी शिवाजीका अवतार हिन्दू-धर्मकी रक्षाके लिये ही हुआ था और है भी सत्य। जिस समय मुगल सम्राट् औरंगजेब, तलवारके बलसे, हिन्दुओंको मुसलमान बना रहा था, धर्मके नामपर हिन्दुओंसे टैक्स वसूलकर रहा था और हिन्दू-धर्मकी रक्षा असम्भवसी हो गयी थी, उस समय यदि इस पुरुष-केसरीने मुगलोंसे लोहा न लिया होता, तो हिन्दुओंके शिखा-सूत्रकी रक्षा न होती।

वैशाख-शुक्ला द्वितीया, विक्रम संवत् १६८४ (ई० १६२७), को 'शिवनेरी' दुर्गमें, शिवाजीने जन्म ग्रहण किया था। उस समय किसीको क्या मालूम था कि यही बालक महाराष्ट्र-केसरी, हिन्दूराज्य-संस्थापक और मुगल राज्यकी जड़ हिलानेवाला विजयी वीर होगा?

शिवाजीके पूज्य पिता 'शाहजी' मेवाड़के प्रसिद्ध सिसोदिया वंशके थे। कालक्रमसे इनके पूर्वज मेवाड़में आकर बस गये थे और भोंसला कहलाते थे।

शाहजी पहले बीजापुर-राज्यमें उच्च कर्मचारी थे। अहमद नगरके राजकुमारका पक्ष लेनेके कारण इन्हें मुगलोंसे शत्रुता हो गयी। बीजापुरसे हट जानेका भी इनका यही कारण हुआ। उस समय इनका किसी दुर्गपर स्थायी अधिकार नहीं रह सका; परन्तु बड़ी बहादुरीसे ये शत्रुओंसे लड़ते रहे। उसी समय शाहजीने अपनी गर्भवती स्त्री जीजाबाई या जीजीबाईको शिवनेरी दुर्गके अधिकारी (अपने मित्र)के आश्रयमें रख दिया था, जहाँ शिवाजीका जन्म हुआ। दुर्गकी अधिष्ठात्री देवी शिवाईके ही नामपर जीजाबाईने अपने पुत्रका नाम शिवाजी रखा था।

शिवाजीके जन्म होनेके बाद तीन वर्षोतक शाहजी मुगलोंसे लड़ते ही रहे। मुगल सम्राट् इसी चेष्टामें रहा कि यदि किसी तरह इसके स्त्री-पुत्र पकड़ लिये जाँय, तो विवश होकर शाहजी सन्धि कर लेगा; किन्तु शिवनेरी दुर्गमें अपने पुत्रकी रक्षा जिस बुद्धिमत्तासे जीजाबाई कर रही थी कि मुगल अपनी सारी शक्ति लगाकर भी उन्हें नहीं पा सके। विवश होकर मुगलोंने शाहजीसे सन्धि कर ली। फिर उन्हें बीजापुरका पूर्व स्थान मिल गया। जीजाबाई अपने पुत्रको लेकर पूना चली आयीं। वहीं शिवाजीकी शिक्षाका समुचित प्रबन्ध किया गया। * माता उन्हें रामायण और महाभारतकी वीर-गाथाओंको सुना-सुनाकर वीरताकी ओर आकृष्ट किया करती थी। वह चाहती थी कि मेरा सपूत युगप्रवर्तक, क्रान्तिकारी, विजयी और नर-केसरी हो। इसी विचारसे उन्हें वैसी शिक्षा दी जाने लगी। जीजाबाई राजनीति और

---

* उन दिनों मरहट्ठोंमें लिखने-पढ़नेका प्रचार नहीं था। वीरोचित कार्योंकी शिक्षा ही प्रशंसित समझी जाती थी। दादाजी नामक किसी ब्राह्मणके द्वारा शिवाजीने अश्वारोहण, असि-संचालन, धनुर्विद्या, मल्लयुद्ध और मृगया आदिकी शिक्षा पायी थी। किन्तु उनके हृदयमें धा क अनुराग भरनेका श्रेय उनकी माता जीजाबाईको ही है।—सम्पादक

धर्मनीतिकी उपदेश-पूर्ण शिक्षा ऐसे अच्छे ढंगसे शिवाजीको दिया करती थी कि फिर कभी वह उसे भूलते नहीं थे। अश्वसंचालन, निशाना लगाना, भाला-तलवार और बर्छा चलाना, कुश्ती लड़ाना आदि-आदि युद्धकी सब कलाओंमें शिवाजी पूर्ण निपुण कराये गये। राज्य-प्रबन्धके सब कार्योंमें भी उन्होंने थोड़े ही दिनोंमें पूर्ण दक्षता प्राप्त कर ली। जिस किसी विषयकी शिक्षा शिवाजी-को दी जाती थी। बड़ी सुगमतासे, अपनी प्रखर



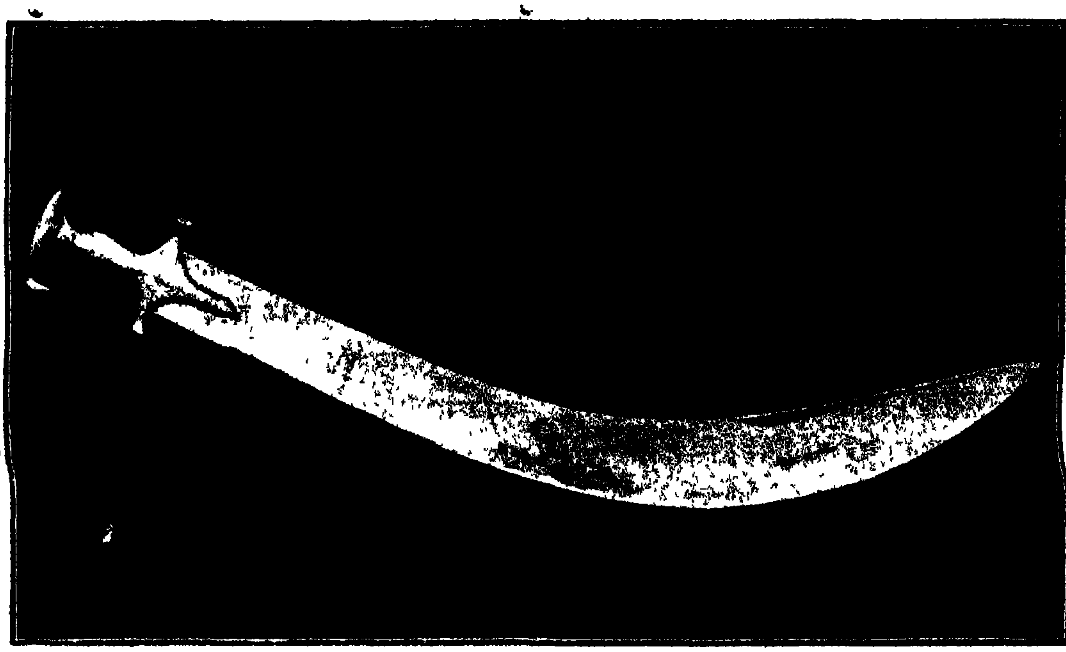
लेखक

प्रतिभाके कारण, वे शीघ्र उसे प्राप्त कर लेते थे। अपनी थोड़ी अवस्थामें ही वे अस्त्र, शास्त्र और राजनीतिमें प्रकाण्ड पण्डित हो गये। उनका गठीला शरीर और तेजःपूर्ण मुखमण्डल देखते ही प्रतीत होने लगता था कि यह बल-वीरताके अवतार हैं।

सिर्फ चौदह वर्षकी अवस्थाका वीर बालक शिवाजी जब बीजापुर पहुंचा, तभी इसकी प्रसिद्धि धीरे-धीरे फैलने लगी। बादशाह तककी इच्छा इस अलौकिक शक्ति-सम्पन्न बालकको देखनेकी हुई।

उस समय बीजापुर सुलतान आदिल शाहके अधिकारमें था। मुगल सम्राट्के अधीन सुल-तान नहीं था। शिवाजीके पिता शाहजी सुल-तानके जागीरदार थे। उनकी इच्छा थी कि शिवाजी मेरी ही भाँति सुलतानके अधीन रह कर सुख शान्तिसे जीवन-यापन करें; किन्तु शिवाजीके हृदयमें देश-प्रेमकी अगाध मन्दाकिनी लहरें मार रही थी। वह हिन्दू और हिन्दुस्तान-के लिये जीना-मरना चाहते थे। इसलिये साफ शब्दोंमें उन्होंने पितासे कह दिया—"मैं विधर्मियोंकी गुलामीसे जीवन-यापन नहीं करूँगा। मेरा जन्म गो-ब्राह्मण और देशकी सेवाके लिये हुआ है।" माता-पिताके बहुत आग्रह-अनुरोध करनेपर और सुलतानकी आज्ञासे शिवाजी दरबारमें उपस्थित तो हुए; किन्तु वहाँकी निर्द्धारित नीतिके अनु-सार उन्होंने सुलतानको सलाम नहीं किया। यद्यपि सुलतानको उनकी यह नीति अच्छी नहीं लगी; फिर भी किसी सामन्तके यह कहनेपर कि—"यह अभी बालक है, दरबारी तरीका नहीं जानता है।" शान्त हो गया। इस तरह कुछ दिनों-तक दरबारमें आने-जानेके बाद उन्होंने वहाँ जाना बन्द कर दिया। जिस राहसे शिवाजी दरबारमें जाते थे उसी मार्गमें बूचड़ोंकी दूकानें थी। वे बूचड़ खुली सड़कपर गोकुशी करते थे। शिवाजीसे यह देखा नहीं गया; इसीलिये उन्होंने दरबारमें आना छोड़ दिया। जब सुलतानको यह बात मालूम हुई, तब उसने बूचड़ोंको वहाँसे हटवा दिया और किसी खुली जगहमें गोहत्या नहीं करनेकी आज्ञा दे दी। शिवाजी पुनः दरबारमें आने-जाने लगे सुलतान शिवाजीको अपने दरबारमें ही रखना

चाहता था; किन्तु शिवाजीका जन्म तो केवल ऐशो-इशरतके लिये नहीं हुआ था। वे वहाँसे पूना चले गये। पूनामें रहकर वे मावले युवकोंको सैनिक शिक्षा देकर, सेना संघटित करने लगे। थोड़े ही दिनोंके परिश्रमसे मावले स्वयंसैनिकोंका एक सुसंघटित दल तैयार हो गया और उसके सहयोगसे शिवाजी वहाँके छोटे छोटे पहाड़ी दुर्गोंको अपने अधिकारमें करने लगे। शिवाजीका अमित साहस तथा शौर्य-वीर्य देखकर हिन्दू-युवकोंके हृदयमें साहसका संचार हुआ और वे सुसंघटित होकर उनके दलमें मिलने मुसलमानोंसे युद्ध छेड़ा। संवत् १७०३ विक्रमीयमें जब शिवाजी सिर्फ १६ वर्षके थे, बीजापुरके 'तोरण'-दुर्गपर चढ़ाई करके उसे अपने अधिकारमें कर लिया। तोरण-दुर्ग भग्नावस्थामें था। उसपर अधिकार होते ही, उसकी मरम्मत होने लगी। दुर्ग मरम्मत करते समय शिवाजीको वहाँ बहुत-सा गड़ा हुआ धन मिला। लोगोंने समझा कि कुलदेवी भवानीकी कृपासे उन्हें यह धन मिला। कहते हैं, प्रसन्न होकर भवानीने उन्हें एक विजयिनी तलवार भी दी थी। * वह दूने साहससे मैदानमें बढ़ते ही गये। क्रमशः कई मोर्चेपर शिवा-



भवानी तलवार

लगे। शिवाजीके अधिकारमें युवक सैनिकोंकी कमी नहीं रही। सबसे पहले उन्होंने बीजापुरके अधीनस्थ रोहिल दुर्गको अपने अधिकारमें करके जीकी जीत हुई, इससे उनकी सुकीर्ति उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। धीरे-धीरे सुलतानके कानोंतक उनकी वीर-गाथा पहुँची। उसकी आँखें खुलीं

* छत्रपति शिवाजीकी भवानी तलवार सातारामें वर्तमान है। वहाँ शिवाजीके राजसिंहासनके दोनों ओर दो तलवारें रखी हैं, जिनमें एक भवानी तलवार है। इसकी म्यानमें ११७ नीलम, १० हीरे और दो लाल जड़े हुए हैं। इस तलवारको भाँजनेकी हिम्मत इन दिनों एकाध वीरताभिमानीको ही होगी। —सम्पादक

और वह इन्हें दबानेकी युक्ति सोचने लगा। शाहजी सुलतानके जागीरदार थे, इसलिये उन्हें भय हो रहा था। वे शान्ति चाहते थे; किन्तु शिवाजी तो चुप बैठना जानते ही नहीं थे। संवत् १७०५ विक्रमीयमें उन्होंने सुप्रसिद्ध "पुरन्दर"-दुर्गपर भी अपना अधिकार जमा लिया। इस तरह आठ-नौ दुर्गोंपर शिवाजीने अधिकार कर लिया। उनकी इस विजयसे आदिल शाहकी आँखें खुलीं। उसने शिवाजीको दबानेकी दूसरी युक्ति काममें न लाकर उनके पिता शाहजीको बन्दी कर लिया और कारागारके द्वारपर ईंटकी दीवार खड़ी करवा दी। सुलतान समझ रहा था कि इस समाचारसे घबराकर शिवाजी सन्धि कर लेंगे। शिवाजी घबराये तो अवश्य, किन्तु सन्धिकी चर्चा न की। किसी दूसरी युक्तिसे कार्य निकाला। उनकी धर्मपत्नीने मुगल सम्राट्को दक्षिणकी चढ़ाईमें सहायता पहुँचानेकी बात लिख कर शाहजीको मुक्त करा लिया। पिताके मुक्त हो जानेपर शिवाजी पुनः बड़ी सतर्कता और नीतिमत्ताके साथ आगे बढ़ने लगे। उनकी विजय-गाथा शत्रुओंके हृदयमें आतङ्क उत्पन्न कराती गयी। सिर्फ नौ वर्षों-के कठिन परिश्रमसे ही शिवाजीने महाराष्ट्रके प्रायः सभी पहाड़ी किलोंपर अपना विजय-केतु फहरा दिया। इस तरह शिवाजीकी वीरता देखकर शत्रुओंकी शक्तिका ह्रास होने लगा। शिवाजी अब देवताके समान सम्मान प्राप्त करने लगे। प्रान्तको उनका गौरव हुआ। वह महाराष्ट्रपर और महाराष्ट्र उनपर गौरव करने लगा।

शिवाजीका अधिकार उत्तरोत्तर बढ़ते देख कर सुलतान आदिल शाहने अफजल खाँको उन्हें दबाने के लिये भेजा। अफजल बड़ा ही खूँखार शख्स था। वह बहुत बड़ी सेनाका अधिकारी होकर शिवाजीको दबानेके लये अग्रसर हुआ। हिन्दू-मन्दिरों और मूर्तियोंको तोड़ता हुआ वह आगे बढ़ने लगा। महाराष्ट्र-केसरी उसके इन कार्योंसे क्रुद्ध हो रहे थे। वे भी अपनी सेना संघटित कर उसका सामना करनेके लिये तैयार थे। प्रतापगढ़, जहाँ शिवाजी ससैन्य तैयार थे, पहुँचकर अफजल खाँ-ने अपनी सेनाका पड़ाव डाला और दूसरी युक्तिसे शिवाजीका निधन करना चाहा। उसने एक सभाका आयोजन किया और उसमें सम्मि-लित होनेके लिये शिवाजीको निमंत्रित किया।

अफजल खाँकी दगाबाजी उस महाराष्ट्र-रत्नसे छिपी नहीं रही। वे मुसलमानोंपर विश्वास ही नहीं करते थे। इसलिये वे कपड़ोंके नीचे बख्तर, अंगुलियोंमें व्याघ्रनखी और बिछुआ तथा सिर-पर शिरस्त्राण लगा कर एवम् उसपर कपड़ा पहनकर उससे मिलने गये। अफजल खाँसे शिवा-जीने अन्तमें मिलना स्थिर किया। मिलनेपर अफ-जल उनसे दगा करनेके लिये तैयार हुआ। किन्तु वह अपने प्रयासमें सफल नहीं हुआ। शिवाजीने 'बघनखा' और बिछुआकी सहायतासे उसे घायल किया। पीछे उसका सिर काटकर माताके पास पहुँचाया। अफजलकी हत्याके बाद मुस-लमानी सेनाका पाँव उखड़ गया। महाराष्ट्र-सेनाने उसका पीछा करके मार भगाया। इस तरह अनेक बार मुसलमानोंको हरा कर शिवाजीने अपनी विजय-दुन्दुभि उद्घोषित की। दुर्गद्वारपर विजयकी सूचनाके लिये तोपें गरजने लगीं। आदिल शाह इस पराजयसे बहुत घबराया। वह फिर सेना-संग्रह कर चढ़ आया; पर हर बार उसकी हार ही हुई। शिवाजीने अपना हिन्दू-राज्य स्थापित कर लिया, स्थल, सेनाएँ बढ़ायीं, जल-सेनाको भी सुसंघटित किया, सैकड़ों जंगी जहाज बनवाये,

अनेक समुद्री टापुओंपर अपना आधिपत्य जमाया और पोर्तुगीजोंको भी हरा कर चौथ लिया।

इतना होते हुए भी वे गो-ब्राह्मणोंकी पूजा सच्चे हृदयसे करते थे। ऐश्वर्यकी आँधीमें बह कर मनुष्योचित कर्तव्य भूल नहीं बैठे थे। देशकी रक्षाके लिये शाही खजानेको लूटना अपना कर्तव्य समझते हुए भी वे कभी भूल कर भी दूसरोंकी बहू-बेटियोंपर बुरी नजर नहीं डालते थे। शत्रुओं-की स्त्रीको भी अपनी माताके समान पूजनीया समझते थे।

कल्याण-दुर्गकी विजयके बाद जब शिवाजीके सेना-नायकने दुर्गके अधिकारी मौलना अहमदकी पुत्र-बधूको, जो अत्यन्त सुन्दरी थी, पकड़ कर अपने स्वामीके सामने इस विचारसे पहुँचाया कि इसके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर शिवाजी इसे अपनी सेवामें रख लेंगे। जब वह अनिन्द्य सुन्दरी उनके सामने खड़ी की गयी, तब शिवाजीने उसे माता कह कर सम्बोधित किया और बहुमूल्य वस्त्रा-लङ्कार दे उसे अपने पतिके पास पहुँचवा दिया।

आदिल शाह अपनी सारी शक्ति लगाकर भी जब शिवाजीको जीत नहीं सका। तब उसने सन्धि कर ली, अन्य जागीरदारोंकी तरह कुछ कर भी देना उसने स्वीकार कर लिया। अब बीजा-पुरको छोड़ मुगलोंकी ओर शिवाजीने आँखे उठायीं।

गद्दीपर बैठते ही औरङ्गजेब हिन्दुओंपर अत्याचार करने लग गया था। जो हिन्दू इस्लाम धर्म स्वीकार नहीं करते थे, उनपर वह जजिया टैक्स बैठा देता था। शिवाजीसे यह कब देखा जाता। इस तरह एकको दूसरेसे चिढ़ होना स्वाभाविक है। मुगलसम्राट्को दक्षिणके सूबेदार शाइस्ता खाँको शिवाजीको दबानेकी आज्ञा दी। औरङ्गजे-बकी इस नीतिसे शिवाजी क्रुद्ध केसरीकी भाँति मुगलोंपर टूट पड़े, शिवाजीने मुगलोंका 'प्रबल-गढ़' दुर्ग लेकर उसपर अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा दी। इस हारसे क्रुद्ध होकर मुगल सम्रा-ट्ने पुनः एक लाखसे अधिक सेना भेजी। दक्षिणमें घोर लड़ाई छिड़ गयी। खूनकी नदियाँ बह निकलीं। तोपोंके गर्जन और शस्त्रोंकी झन-झनाहटसे दिशाएँ प्रकम्पित होने लगीं। परन्तु मुगलोंकी जीत नहीं हुई। इस लड़ाईके बारेमें कवि भूषणने लिखा है।

"दच्छिणको दाबि करि बैठो है सइस्ता खान,
पूना माहि दूना करि जोर कार-बारको,
हिन्दुस्तान खम्भ गढ़पति-दल थम्भ-भाजि,
"भूषन" भरैया कियो सुयश अपार को॥
मनसबदार चौकीदारन गंजाय,
महलन मचाय महाभारतके भारको।
तोसो को शिवाजी जेहि दो सौ आदमी सों—
जीत्यो जंग सरदार सौ हजारको॥"

इस हारसे औरङ्गजेब बहुत बिगड़ा। उसने शाहजादा मुअज्जमको नायक बनाकर दक्षिण विजयकी तैयारी की। मुगलोंकी लगातार लड़ा-ईसे शिवाजी न घबराये ही और न उन्हें खजाना खाली हो जानेकी ही चिन्ता हुई। उन्होंने तत्-काल सूरतपर चढ़ाई करके विदेशी व्यपरियोंके ८,६ करोड़ रुपये लूट लिये और सेनाके उपयुक्त युद्ध-सामग्री जुटा ली। जंगी बेड़ा तैयार किया और औरङ्गजेबको पत्र लिखा—"मैंने तुम्हारे सूरतकी सूरत बिगाड़ दी। सेना-नायकको मार भगाया; यदि अपनी रक्षा चाहते हो, हिन्दुओंका हिन्दुस्तान छोड़ भागो।"

इस पत्रसे औरङ्गजेब आगबबूला हो गया। वह शिवाजीपर विजय पानेके लिये बड़ी भारी

तैयारी करने लगा। जयपुर-नरेश जयसिंह, जो मुगलोंके पक्षमें थे, बड़ी भारी सेनाके साथ, शिवाजीसे युद्ध करनेके लिये भेजे गये। जयसिंहके साथ दिल्लीपतिने अपने बड़े-बड़े शूर-वीरोंको भी साथ कर दिया था। जयसिंहने पुरन्दर और सिंहगढ़के बीचमें डेरा जमाया। महाराष्ट्र-केसरी शिवाजीके द्वारा राज्यच्युत किये कुछ मरहट्टे सरदार भी मुगलोंसे जा मिले। दोनों ओरकी क्रुद्ध सेनाओंमें घोर युद्ध हुआ। वीर मरहट्टोंने हजारों पठानोंको बात-की-बातमें काट गिराया। हजारों पठान घायल होकर धराशायी हो गये। जयसिंहको अपनी सेनाकी अधोगति देखकर बड़ा क्रोध हुआ। मुगलोंकी ओर भी अधिक हिन्दू मिले हुए थे। शत्रुओंकी ओर भी हिन्दुओंका संहार होते देख शिवाजीको घोर दुःख हुआ। इसलिये उन्होंने जयसिंहसे सन्धि कर लेना चाहा। जयसिंह भी युद्धसे घबरा गये थे। वीरकेसरी शिवाजी पर विजय प्राप्त करना उनके लिये भी असम्भव था; इसलिये उन्होंने सन्धि-प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इस सन्धिके अनुसार वे दोनों एक दूसरेके मित्र हो गये। जयसिंहने शिवाजीका खूब सम्मान किया। दिलेर खाँने शिवाजीको दो सुन्दर घोड़े, एक तलवार, एक बढ़िया कटार और दो थान सुनहले वस्त्र दिये। राजा जयसिंहने उन्हें एक हाथी एक घोड़ा और पगड़ीमें बाँधनेके लिये एक हीरा दिया।

इस सन्धिके बाद शिवाजीने जयसिंहको बीजापुरकी लड़ाईमें साथ दिया। इस युद्धमें उनका अद्भुत रण-कौशल देख कर जयसिंह घबराये। जयसिंहने सोचा कि ऐसे विजयी वीरको मित्र बनाकर रखनेमें ही मुगल-सम्राट्का कल्याण है।

गोलकुण्डा और बीजापुर दोनों साथ मिलकर मुगलोंसे युद्ध कर रहे थे। इसलिये भी शिवाजीको मिलाकर रखना ही उचित समझा गया। जयसिंहने मुगल सम्राट् औरङ्गजेबको ये सब बातें लिख दीं। बादशाहने भी उन्हें मंजूर कर लिया। अब शिवाजीको विश्वास दिला दिया गया कि दक्षिण भारतके वे सूबेदार बना दिये जायेंगे। गोलकुण्डा और बीजापुरसे भी उन्हें चौथ वसूल करनेका अधिकार प्राप्त हो जायगा, लेकिन यह सब होगा तभी, जब एक बार वे दिल्लीश्वरसे मिलेंगे। बादशाह उनसे मिलनेकी इच्छा प्रकट कर रहे हैं। वीरकेसरी शिवाजी भी अपने गुरुदेव, माता और मंत्रीकी सम्मतिसे बादशाहसे मिलनेके लिये दिल्ली जानेकी तैयारी करने लगे; किन्तु वे थे बड़े ही दूरदर्शी। अपने राज्यकी उत्तम व्यवस्था करके वह इस विचारसे कि यदि दिल्लीश्वर मुझसे किसी तरहका दगा भी करे, तो राज्य बिगड़ने न पावे, दिल्ली जानेको तैयार हुए। संवत् १७२३ विक्रमीयकी वसन्त ऋतुमें अपने जेष्ठ पुत्र संभाजी, कई सामन्तों और एक हजार पैदल तथा तीन हजार घुड़सवारोंको अपने साथ लेकर शिवाजीने दिल्लीकी यात्रा की। मार्गमें दर्शकोंकी अपार भीड़ उस विजयी वीरके दर्शनके लिये इकट्ठी हो जाती थी। राह खर्चके लिये बादशाहने उन्हें एक लाख रुपया दिया था।

दिल्लीश्वर स्वयं उस रण-केसरीको देखनेके लिये उत्सुक हो रहे थे; किन्तु वहाँ पहुँचनेपर बादशाहने शिवाजीका वैसा सम्मान नहीं किया, जैसा एक स्वतन्त्र राजाका होना चाहिये था। बादशाहकी यह चाल उन्हें अच्छी नहीं लगी। दरबारमें ही शिवाजीने बादशाहका अपमान किया। जिसके फल-स्वरूप वे कैद कर लिये गये। फिर कुछ दिनोंके बाद वे वहाँसे, बड़ी बुद्धिमानीसे मुक्त हुए। संन्यासीके रूपमें पैदल चल कर वे अपने दुर्गमें पहुँचे।

हिन्दू-कुल-कलंक जयसिंहने एक बार सेना संग्रह करके शिवाजीको पकड़नेकी तैयारी की। लेकिन शिवाजीके आगे उनकी एक नहीं चली। औरङ्गजेबने जयसिंहको दक्षिणसे हटाकर शाहजादा मुअज्ज़मको वहाँका सूबेदार बना दिया। उसने शिवाजीसे सन्धि कर ली। इस तरह मुगलोंकी ओरसे मुड़कर शिवाजीने बीजापुर और गोल-कुण्डापर चढ़ाई करके उन्हें पराजित किया। एक वर्ष तक मुगलोंसे कोई लड़ाई नहीं हुई। औरङ्गजेब हिन्दूधर्मको समूल नष्ट करनेवाला था; अतः उससे शिवाजीकी स्थायी सन्धि हो ही नहीं सकती थी। एक वर्षके बाद दोनोंमें फिर घोर लड़ाई हुई और स्थान-स्थानपर वर्षोंतक युद्ध होता ही रहा। प्रायः प्रत्येक बार मुगलोंकी हार होती गयी। 'चाकण' और 'सिलेर' दुर्गपर धावा करनेके समय महावत खाँ और दिलेर खाँने भी शाही सेनाकी ओरसे बहुतेरे दाव-पच लगाये; किन्तु मरहट्ठोंके आगे उनकी एक नहीं चली।

मुगलोंकी कैदसे छुटकारा पानेके बाद शिवाजीने अपने राज्यका खूब विस्तार किया। लगभग तीन सौ किलोंपर उनका विजयी झण्डा फहराने लगा। एक करोड़से भी अधिक चौथके कर आने लगे। गोलकुण्डा और बीजापुरसे भी दस लाखके लगभग वार्षिक कर मिलने लगा। जल-सेना काफी था। ६३० जंगी जहाज थे। जलयुद्धमें भी उन्होंने विदेशियोंको कई बार हराया था। इस तरह एक विस्तृत सुसंघटित हिन्दू-राज्यकी स्थापना करके शिवाजीने राज्याभिषेककी तैयारी की।

इतनी उम्र होनेपर भी शिवाजीका यज्ञोपवीत नहीं हुआ था; इसलिये राज्याभिषेकके पहले ही यज्ञोपवीत संस्कार करनेका विचार हुआ। संवत् १७३१ में उनका राज्याभिषेक और उसके पहले ही यज्ञोपवीत हुआ। इस पुण्य कार्यके समय एक लाख ब्राह्मणोंको विधिवत् भोजन और दक्षिणा दी गयी।

इस तरह एक हिन्दूराज्यकी स्थापना करके छत्रपति-शिवाजीने विजय यात्राकी तैयारी की। अनेक राजाओंपर चढ़ाई करके उनसे चौथ वसूल किया। कर्णाटक और हैदराबादकी यात्रामें सफल हुए। कर्णाटक विजय कर मद्रासकी ओर बढ़े। अँगरेज और पोर्तुगीजोंसे लड़े। इस तरह अपनी विजय-यात्रा पूरी कर लेनेके बाद संवत् १७३७ विक्रमीय चैत्रशुक्ला नवमीको अचानक छातीमें दर्द हो जानेसे शिवाजीकी मृत्यु हो गयी। मृत्युके कुछ देर पहले ही उन्होंने अपने सरदारोंको बुलाकर राज्य-संचालनकी नीति बतला दी थी।

शिवाजी धार्मिकता और आस्तिकताके प्रत्यक्ष प्रतिमा थे। साधु-ब्राह्मणोंके अनन्य भक्त थे। उनके हृदयमें हिन्दुओंके प्रति दया और दर्द था। उनकी सैन्य-संचालन-नीति और राज्य शासन पद्धति अनुपम थी। वे हिन्दीके प्रेमी थे। महाकवि 'भूषण' उनके दरबारी कवि थे। समय-समयपर उन्होंने कविता लिखकर शिवाजीको खूब उत्साहित किया था। शिवाजी सच्चे सुधारक और देश-हितैषी महापुरुष थे।

गुरु गोविन्दसिंह

श्रीयुत अयोध्यानाथ सान्याल, शास्त्री

गुरु गोविन्दसिंहके पिता गुरु तेगबहादुरसिंह संवत् १७२१ में गद्दीके उत्तराधिकारी हुए। गद्दीके लिये और भी लोग उम्मीदवार थे; किन्तु किसीको भी गद्दी नहीं मिली। इसीलिये सब गुरुजीसे द्वेष करने लगे। गुरु तेगबहादुर पहले बकालेमें रहते थे; परन्तु इस द्वेषके कारण वे आनन्दपुर नामक एक नया गाँव बसा कर वहीं रहने लगे। फिर भी द्वेषका अवसान नहीं हुआ; अतः गुरु तेगबहादुरने शान्ति-स्थापित करनेके लिये, अपनी शिष्यमण्डली और कुटुम्बके साथ, तीर्थाटनके लिये यात्रा कर दी। जब वे गयाजी आये, तब जयपुर-नरेश जयसिंहसे उनकी भेंट हुई। औरङ्गजेबकी आज्ञासे जयसिंह आसामपर चढ़ाई करनेके लिये जा रहे थे।

गुरु तेगबहादुरने अपनी गर्भवती स्त्री गूजरी देवीको पटनेमें, एक शिष्यके घरमें, रख कर जयसिंहके साथ आसामके लिये प्रस्थान कर दिया। संवत् १७२३की ज्येष्ठशुक्ला सप्तमीको हमारे चरितनायक गुरु गोविन्दसिंहका जन्म, पटनेमें, हुआ। आसामसे लौटकर गुरु तेगबहादुर अपने परिवारको आनन्दपुर ले गये। गुरु गोविन्दसिंहने थोड़े ही दिनोंमें संस्कृत, फारसी, गुरुमुखी और हिन्दी आदि भाषाओंका ज्ञान तथा तलवार, भाला, बन्दूक और धनुष् आदि शस्त्रोंको चलानेमें प्रवीणता प्राप्त कर ली।

संवत् १७३० के ज्येष्ठ महीनेमें गुरु गोविन्दसिंहका विवाह हरियशजीकी जीतो नामकी कन्यासे हुआ।

× × ×

उन्हीं दिनों दिल्लीपति औरङ्गजेब हिन्दुओंको खूब सता रहा था। उसके अमानुषिक अत्याचारसे हिन्दू कराह रहे थे। हिन्दुओंकी ऐसी दशा देख गुरु तेगबहादुरका दिल पिघल गया। उन्होंने हिन्दुओंको कहा कि "तुम बादशाहको कहो कि अगर गुरु तेगबहादुर मुसलमान हो जाय, तो हम लोग भी इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेंगे।"

बादशाहने गुरु तेगबहादुरको बुलाया। वे दिल्ली गये। वहाँ वे धर्मपर, देशपर, क्षत्रियोंकी शानपर और अपनी कुल-मर्यादापर बलिदान हुए। यह खबर देशके कोने-कोनेमें बिजलीकी तरह फैल गयी। गुरु गोविन्दसिंहके हाथमें जब पिताका सिर प्राप्त हुआ, तब अनायास ही उनके मुँहसे यह कविता निकल पड़ी—

"साधुन हेत अति जिन करी,
शीश दिया पर सी न उचरी॥
धर्महेत शाका जिन किया,
शीश दियापर शिरह न दिया॥"

(साधुओंके लिये जिन्होंने बहुत किया—सिर दे दिया, पर दर्दसे "सी" तक नहीं की। जिन्होंने धर्मके लिये "शाका" यानी ऐसा युद्ध किया, जिसमें रक्तकी नदी बह गयी। जिन्होंने सिर तो दिया, पर इज्जत नहीं दी।)

पिताके इस बलिदानसे गुरु गोविन्दसिंहकी नस-नसमें बिजली कौंध गयी। उन्होंने अपने देश-देशान्तरके शिष्योंको अस्त्र-शस्त्र और घोड़े आदि युद्धोपयोगी वस्तुओंके साथ आनेके लिये

कहला भेजा। थोड़े ही दिनोंमें गुरु गोविन्दसिंहके पास, काफी तादादमें, युद्धोपयोगी सामग्री और सैनिक जुट गये। सैनिकोंको गुरु गोविन्द सिंह स्वयं युद्ध-शिक्षा देने लगे। और धर्मोपदेश देकर उन्हें देश और धर्मके नामपर मर मिटनेके लिये तैयार करने लगे।

आसामके राजा रत्नसिंहका जन्म गुरु तेग-बहादुरके अशीर्वादसे ही हुआ था। वह भी इस शुभ अवसरमें एक दर्शनीय हाथी, पञ्चफलक अस्त्र और विविध भाँतिके अस्त्र-शस्त्र तथा हाथी-घोड़े



गुरु गोविन्दसिंह

एवम् नकद रुपये लेकर आया। इस उपहारसे गुरु गोविन्दसिंहका उत्साह और बढ़ गया।

गुरु गोविन्दसिंह केवल युद्ध-प्रेमी ही नहीं थे, बल्कि वे विद्या-प्रेमी भी थे। अपने शिष्योंको वे स्वयं संस्कृत पढ़नेके लिये बाध्य किया करते थे। अपने पाँच शिष्योंको गुरुजीने, ब्रह्मचारीके वेशमें, विद्याध्ययनके लिये काशी भेज दिया था, जो आगे चलकर निर्मल साधुके नामसे प्रसिद्ध हुए। इन्हींके नामपर एक निर्मल सम्प्रदाय भी पीछे कायम हुआ।

गुरुजी विद्यारसिक थे और स्वयं भी एक अच्छे कवि थे। इनकी कवितामें वीर रसकी प्रधानता थी। इनकी बनायी एक पुस्तक भी है, जो कवितामें है। यह दशम गुरु ग्रन्थके नामसे प्रसिद्ध है। सिक्ख-सम्प्रदायमें इस पुस्तकका काफी प्रसार है। गुरुजी एक सुधारक थे। ये भक्तिको वीर-ताकी चाशनीमें डुबोकर मीठा करते थे।

× × ×

गुरु गोविन्दसिंहजी माताके आदेशानुसार संवत् १७४३ के जेष्ठ मासमें आनन्दपुर चले आये और शिष्योंको एकत्र करने लगे। इन्होंने लोहगढ़, आनन्दगढ़, फतेहगढ़ आदि कितने गढ़ भी बनवाये। थोड़े ही दिनोंमें इनका खजाना बादशाहकी तरह भर गया और समूचे पंजाबपर रौब भी छा गया।

उन्हीं दिनों गुरुजीको एक पुत्र हुआ, जिसका नाम अजितसिंह रखा गया। कालक्रमसे गुरुजी-को और तीन पुत्र हुए। जिनके नाम हैं जुझार सिंह, जोरावरसिंह और फतेहसिंह।

पंजाबमें विद्रोह फैला हुआ था ही, मरहट्ठोंने भी विद्रोहका झण्डा खड़ा कर दिया। पहाड़ी राजा भी अपनेको स्वतन्त्र समझने लगे। औरङ्गजेबने तब उस विद्रोहको मिटानेके लिये अपने तीन सेनापतियोंको भेजा। पहाड़ी राजा बुरी तरह कुचले जाने लगे। पहाड़ी राजाओंने दस हजार रुपये भेंट देकर गुरु गोविन्द सिंहसे सहायताकी प्रार्थना की। पाँच सौ घुड़सवारोंको भेजकर गुरु-जीने बादशाही फौजको दबा दिया।

दूसरी बार बादशाही सेना फिर चढ़ आयी। इस बार पहाड़ी राजाओंका अगुआ राजा दयालु-

चन्द्र स्वयं गुरुजीको लेकर लड़ने आया। गुरुजीके बल-विक्रम तथा साहस-शौर्यको देखकर शत्रुसेना दंग रह गयी। गुरुजी विजयी हुए।

संवत् १७४५ में फिर दिलावर खाँ नामक एक सूबेदारने बादशाहकी आज्ञासे, पहाड़ी राजाओंपर चढ़ाई की और अपने पुत्रको गुरु गोविन्द सिंहपर हमला करनेके लिये भेजा। खूब जमकर युद्ध हुआ। अनेक वीर सद्गतिको प्राप्त हुए। रात्रिमें दोनों ओरके वीरोंने विश्राम किया। युद्धस्थानके बीच एक पहाड़ी नदी बहती थी। गुरुजीकी सेनाने नदीके ऊपरी हिस्सेमें डेरा डाला था और बादशाही फौजने निचले हिस्सेमें। अचानक नदी बढ़ आयी। निचले हिस्सेमें डेरा डालकर खुशीकी नींद सोनेवाले सब सैनिक बह गये। उनके सब सामान भी नष्ट हो गये। प्रातःकालमें गुरुजीके सैनिकोंने जब यह तमाशा देखा, तब वे खुशीसे नाचने लगे और इसे गुरुजीकी ही करामात समझा। गुरुजीने अपने घुड़सवार भेजकर पहाड़ी राजाको भी मदद पहुँचायी और उन्हें विजयी बनाया।

जब बादशाह औरङ्गजेबको पंजाबसे इस तरहकी खबर आयी, तब वह क्रोधसे आगबबूला हो गया। उसने शाहजादा मुअज्जमको शान्ति स्थापित करनेके लिये तथा विद्रोहियोंका दमन करनेके लिये, एक बड़ी सेनाके साथ, भेजा। शाहजादा मुअज्जमने सेनाकी एक टुकड़ीको पहाड़ी राजाओंकी तरफ भेजा तथा दूसरी टुकड़ीको गुरुजीकी तरफ। शाहजादेके सैनिकोंने आनन्दपुरको खूब लूटा। उस समय गुरुजीके पास अधिक सैनिक नहीं थे; इसलिये वे चुप्पी साध गये; किन्तु रात होते ही वे उन लुटेरोंपर टूट पड़े और उनकी खूब मरम्मत की। लूटका सब माल-मता भी गुरुजीको प्राप्त हो गया। इस हारसे मुअज्जमको फिर चढ़ाई करनेका साहस नहीं हुआ।

* * * *

पण्डितोंके कहनेसे गुरु गोविन्द सिंहने चालीस दिनोंतक देवीका अनुष्ठान किया। जब देवी प्रकट नहीं हुईं, तब उन्होंने तलवारके उद्देशसे कहा कि देवी प्रकट हो गयीं। वे धर्म और देशके नामपर पाँच मनुष्योंका बलिदान चाहती हैं। मेरे शिष्योंमें कौन ऐसा है, जो इस धर्मवेदीपर अपनेको बलिदान दे?

सभामें सन्नाटा छा गया। सबका मुँह सूखने लगा। किसीके मुँहसे चूँ तक नहीं निकली; लेकिन उसी दम लाहोरका दयासिंह नामका एक क्षत्रिय उठकर आगे बढ़ा। गुरुजीने उसे खीमेमें चुपचाप बैठा दिया और एक बकरेका सिर काटकर लहूलहान तलवार लिये निकले और बोले—अब उस वेदीपर बलिदान होनेको कौन दूसरा तैयार होता है? इस बार धर्मसिंह नामका एक दूसरा जाट उठा। इसी प्रकार हिम्मत सिंह कहार, मोहकमसिंह धोबी और साहबसिंह हजाम बारी-बारीसे उठा। गुरुजीने अपने शिष्योंको परीक्षामें उत्तीर्ण देखकर बहुत हर्ष प्रकट किया।

दूसरे दिन केशवगढ़के किलेमें गुरुजीने एक दरबार लगाया और शतद्रु नदीसे लोहेके पात्रमें जल मँगाकर उसमें बताशा घोले। गुरुओंकी वाणीसे उस जलको अभिमन्त्रित कर प्रथम दयासिंहको पिलाया और शिष्यमण्डलीमें बाँटा। गुरुजीने उपदेश दिया कि इस शर्बतको अमृत समझो इसे पीनेसे बलकी वृद्धि होती है। यह प्रथा अभी भी सिक्खोंमें वर्तमान है। गुरुजीने पाँच ककार (केश, कंघा, कृपाण, कच्छा और कड़ा) धारण करनेका भी उपदेश दिया।

* * *

गुरुजीकी इस समृद्धिको देख कर अब पहाड़ी राजा इन्हींसे जलने लगे। सबने मिल कर गुरुजी पर चढ़ाई की; लेकिन किसीकी भी कुछ नहीं चली। गुरु गोविन्दसिंहने सबको परास्त कर दिया। इस आपसके फूटसे औरंगजेबकी बन आयी। उसने सूबा सरहिन्दके नामसे गुरु गोविन्दसिंहको गिरफ्तार करनेके लिये शाही फरमान निकाल दिया। अमीर खाँ आदि तीन सरदारोंके साथ कुछ फौज लेकर राजा अजमेरचन्द गुरुजीको गिरफ्तार करने चले। संवत् १७५६के फाल्गुन महीनेमें गुरुजीके साथ उनका बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ। अन्तमें गुरुजीकी ही विजय हुई। जब यह समाचार औरंगजेबको मिला, तब वह बड़ा दुःखी हुआ। उसने एक बड़ीसी फौजको आनन्दपुरके लिये रवाना किया। बादशाही फौजने आनन्दपुरके किलेको घेर कर डेरा डाल दिया। गुरु गोविन्दसिंहने भी इतने ही दिनोंमें दस हजार सिपाहियोंको इकट्ठा कर लिया था और अपने पुत्र अजितसिंहको दो हजार सिक्ख-सैनिकोंके साथ केशवगढ़में भेज दिया था। इस बार सिक्ख-सेना किलेसे ही लड़ती थी। तीन दिनोंतक खूब घमासान युद्ध हुआ। खुले मैदानमें रहनेके कारण बादशाही सेनाका बड़ा नुकसान हुआ। तीसरे दिन जब थक कर बादशाही सेना रातमें सो रही थी कि अजितसिंहने केशवगढ़के सुरक्षित सैनिकोंको लेकर धावा बोल दिया। बादशाही सेनाके पैर उखड़ गये—बड़ा कुहराम मचा। सिक्ख-सेना विजयी होकर आनन्दपुर किलेमें आ गयी।

बादशाही सेनाने जब विजयकी कोई आशा नहीं देखी, तब वह आनन्दपुरके किलेको घेर कर बैठ गयी। बाहरसे अब रसद पानेकी कोई गुंजाइश गुरुजीको नहीं रही। एक दिन रातमें चढ़ाई करके सिक्खोंने कुछ सामान मुसलमानोंसे छीन लिया; पर इससे कितने दिनोंतक काम चलता!

औरंगजेबने पँजाबके सभी सूबों और हाकिमोंको लिख भेजा था कि, सब मिलकर आनन्दपुरको बरबाद कर डाल। इस हुक्मको सुनते ही सब आनन्दपुरपर चढ़ आये और किलेको घेर कर बैठ गये। जब गुरुजीकी सेना भूखसे मरने लगी, तब दुश्मनोंकी ओरसे उन्हें एक पत्र मिला—"बादशाहका हुक्म है कि तुमलोग आनन्दपुरके किलेको बरबाद कर डालो, नहीं तो दण्ड पाओगे। अगर आप किलेको छोड़ दें, तो हम लोग आपको कुछ भी नहीं कहेंगे और न आपके जायदादको लूटेंगे ही।"

गुरुजीने पहले अपने कुटुम्बोंको बाहर किया; पीछे स्वयं भी कुछ सिपाहियोंके साथ निकल पड़े। कुछ दूर निकल जानेपर बादशाही फौजने सिक्खोंपर हमला किया। इस हमलेसे सिक्खोंकी बड़ी हानि हुई।

माता गुजरीदेवी अपने दो पौत्रोंके साथ दूसरे रास्तेसे निकलीं। उनका सहायक केवल एक ब्राह्मण रसोइया था। वह उन्हें अपने घर ले गया और छल करके उनका मालमता ले लिया एवम् उन्हें मुसलमानोंके हाथ सौंप भी दिया। माता गुजरीदेवी अपने पौत्रोंके साथ किलेके एक बुर्जपर कैद कर ली गयीं।

सूबा सरहिन्दने गुरु गोविन्दसिंहके दोनों पौत्रोंको पहले इस्लाम धर्म स्वीकार कराना चाहा; पर गुरुजीके पुत्रोंने टकासा जवाब दे दिया। वे वीर पीताके पुत्र थे। मृत्युके साथ खेलनेमें ही उन्हें आनन्द आता था। सूबा सरहिन्दने बहुत कोशिश की; पर गुरुवंशके रत्न जोरावरसिंह और फतेहसिंह टस-से-मस तक नहीं हुए। अन्तमें उनके ऊपर अमानुषिक अत्याचार

हुआ—वे आठ और छ वर्षके बालक जीते जी दीवारोंमें चुनवा दिये गये ! माता गुजरीदेवीने भी बुर्जपरसे कूदकर प्राण गँवाये ।

इधर गुरु गोविन्दसिंहजी बादशाही फौजके आक्रमणोंसे बचते हुए चमकौर शहरमें पहुँचे। वहाँ फिरसे युद्ध प्रारम्भ हुआ । इसी युद्धमें गुरुजीके अजितसिंह तथा जुझारसिंह नामक दोनों पुत्र, बड़ी वीरताके साथ संग्राम करते हुए, वीर गतिको प्राप्त हुए । गुरुजीको इससे तनिक भी दुःख नहीं हुआ । शाम हुई युद्ध बन्द हुआ । उपायान्तर न देखकर गुरुजी मालवाकी ओर चल पड़े । वहाँ उन्होंने फिर युद्धकी सामग्री जुटा ली ।

सूवा सरहिन्द वहाँ भी गुरुजीपर चढ़ आया; पर विजयी न हो सका; क्योंकि तालाबपर गुरुजीका ही कब्जा था । प्याससे परेशान होकर मुसलमानी सेना भाग निकली और मुसलमानोंका सब सामान गुरुजीको ही प्राप्त हो गया । इस युद्धसे गुरुजी पूर्ण विजयी हुए ।

भ्रमण करते हुए गुरुजी उदयपुर आये । यहाँ उनका खूब सम्मान हुआ । इसी बीच औरङ्गजेब मर गया । तख्तके लिये शाहजादोंमें झगड़ा होने लगा । बहादुरशाहने गुरुजीसे सहायता माँगी । शरणागतोंकी रक्षा करना धर्म समझ कर गुरुजी उसकी मदद करने दिल्ली चले गये और बहादुर शाहके गलेमें जयमाला डाली ।

गुरुजी गोदावरीके तटपर स्थान बनाकर रहने लगे । यहीं उन्होंने माधवदास नामक एक वैरागीको शिष्य बनाया, जो बन्दाके नामसे प्रसिद्ध हुआ ।

गुरुजी मनुष्यमात्रसे प्रेम करते थे, दुश्मनी केवल अन्यायसे थी । उन्होंने अपनी फौजमें मुसलमानोंको भी भर्ती किया था । एक दिन धर्मान्ध मुसलमानोंके बहकानेसे उन्हींके एक सैनिक गुलाल खाँने, सोतेमें, गुरुजीके पेटमें कटारकी चोट की । हाथ काँप जानेसे घाव गहरा नहीं हो सका । गुरुजीने उसे उसी दम अपनी तलवारके घाट उतार दिया । बाकी मुसलमान भी सिक्खोंके क्रोधाग्निमें जल मरे ।

जर्राहोंने घावको सी दिया । घाव भरने लगा । इसी बीच बादशाहकी तरफसे अनेक प्रकारके सामान गुरुजीके पास, उपहारके रूपमें, आये । उन सामानोंमें दो बड़े-बड़े धनुष् भी थे । उन धनुषोंको देखकर लोग कहने लगे कि इस जमाने इन्हें चढ़ानेवाले कोई भी नहीं है । गुरुजीने एक धनुष्को उसी वक्त उठाया और खींच कर चढ़ा दिया । धनुष् चढ़ तो गया, पर गुरुजीका वह घाव भी फट गया । बहुतसा खून निकल पड़ा । जर्राहोंने फिर प्रयत्न किया; पर सब निष्फल !

संवत् १७६५ की कार्तिकशुक्ला पञ्चमीको गुरुजी प्रातःकालमें ही अपने यशःशरीरको इस लोकमें छोड़ कर सदाके लिये बिदा हो गये । हिन्दुओंके भाग्याकाशमें शोकके काले बादल छा गये । भारत माताके नयनोंसे अश्रुधारा झर-झर बहने लगी ।

महर्षि दयानन्द

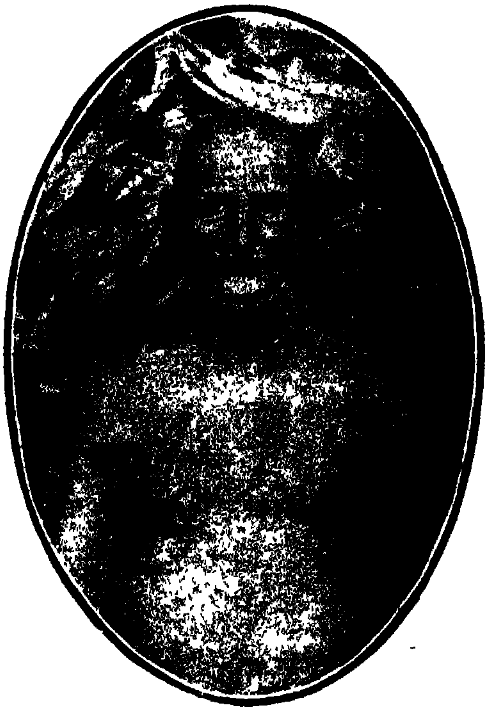
पं० विश्वनाथ शास्त्री, व्याकरणतीर्थ

सन् १८२४ ई० में स्वामी दयानन्दका जन्म, काठियावाड़के मौर्वी नगरमें, हुआ था। पहले इनका नाम मूलशङ्कर था। ये जन्मसे ही आग्नेय प्रकृतिके थे।

उनके बचपनकी बात है। वर्षमें एक बार नियमित रूपसे आनेवाली शिवरात्रि सदाकी भाँति आयी। मूलशङ्कर अपने भक्त पिताके साथ शिवालयमें गये। रातमें उन्होंने देखा कि चूहे शिवजीके सिरपर चढ़कर अक्षत और केले खा रहे हैं। शिवजीकी असमर्थता देख मूलशङ्कर संशयापन्न हो गये। लाख समझानेपर भी वे घरसे निकल भागे। विविध यन्त्रणाओंको झेलकर और अनेकानेक पण्डितोंके चरणरजको मस्तकपर रखकर वे मथुरा पहुँचे। वहाँ प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द सरस्वतीसे उन्होंने विद्याध्ययन कर अपनी जिज्ञासुताकी प्यास बुझायी और शुद्ध वैदिक धर्मकी ध्वजा फहरायी।

स्वामी दयानन्दने सर्वप्रथम बंबईमें आर्यसमाजकी स्थापना की। इनके बनाये आर्यसमाजके दस नियम बड़े उच्च, आकर्षक, सार और गम्भीर हैं। आर्यसमाजको स्वामीजीने सत्य-प्रतिष्ठार्थ स्थापित किया था। इनकी दृष्टिमें केवल वैदिक सनातन धर्म ही धर्म है, बाकी सब धर्म रूढ़िभावापन्न सम्प्रदायवालोंके हैं। स्वामीजीका अभिप्राय था कि लोग सब रूढ़ियों और आडम्बरोंको त्याग दें। जब सत्य-पथपर सब आवेंगे, तब ही विवाद मिटेगा, शान्ति स्थापित होगी और सत्यार्थका प्रकाश होगा। इसीलिये लाहोरमें, एक मुसलमानके घर आर्यसमाजकी नींव डाली गयी और दानापुरमें, एक इसाईके घर यजमानी की गयी। बँगालके ब्रह्मसमाजी भी स्वामीजीके सहायक तथा संरक्षक बने।

स्वामीजी समाजके गलित अङ्गोंपर निर्दयतापूर्ण कुठाराघात करनेमें भी नहीं हिचकते थे। अपने वेदानुमोदित विचारोंको उन्होंने 'सत्यार्थ-



स्वामी दयानन्द

प्रकाश' नामक पुस्तकमें लिखा है। बुद्धिसे सम्बन्ध रखनेवाला कौन-सा मनुष्य आज उस पुस्तकका कायल नहीं है? स्वामीजी राष्ट्रियताके भी परम उपासक थे। अपनी भाषा गुजरातीके रहते हुए भी उन्होंने हिन्दीकी सेवा की।

स्वामीजीने बहुत खोज-ढूंढ कर आर्यसमाजमें एक नयी शिक्षा-प्रणाली चलायी है। स्वामीजीकी इस शिक्षाप्रणालीमें एक जान है। इसका लोहा संसारके सभी शिक्षा-विशारदोंने माना है। उनके निर्द्धारित ग्रन्थ मनुष्योंको वास्तविक मनुष्य बनानेवाले हैं। अष्टाध्यायीके बाद महाभाष्यका अध्ययन उनकी अपनी परिपाटी हैं और सराहनीय है।

स्वामीजी मूर्तिपूजाके इसलिये विरोधी हैं कि गुंडा से-गुंडा शख्स भी अपनी मस्जिद, गिर्जा, मन्दिर या अपने इष्टदेवकी प्रतिमाके सम्मुख पापाचरण करनेमें भय खाता है। ठीक उसी तरह यदि उसे यह ज्ञात हो जाय कि इष्टदेव सदा हमारे सामने ही वर्तमान रहता है, दुनियाके जर्रे-जर्रेमें मौजूद है, तो वह कभी भी पापकी तरफ कदम नहीं उठावे।

× × ×

स्वामीजी ब्राह्मण-कुलोत्पन्न होकर भी ब्राह्मणोंके निन्दक थे; इसलिये कि वे ब्राह्मणोंके कुटेवोंको सुधारना चाहते थे, उन्हें सत्य, सुन्दर सनातन मार्गकी ओर अग्रसर करना चाहते थे। स्वामीजी व्यर्थके आडम्बरोंको हटा कर प्राचीनताके गम्भीर दुर्गमें एक नवीन युगकी संस्थापना करना चाहते थे। उनके सभी विचार शास्त्रसिद्ध, प्रमाणबद्ध और परिष्कृत थे; परन्तु उद्देश मौलिक न था हाँ, भविष्य उज्ज्वल अवश्य था।

स्वामीजीने अपना नाम नहीं चाहा बौद्ध, ईसाई, नानकपन्थी, कबीरपन्थी, दादूपन्थी आदिकी तरह उन्होंने दयानन्दी (!) शब्दको न चलाकर "आर्य" शब्दको ही पसन्द किया। वेदके ऊपर उनकी अगाध श्रद्धा थी। आज वेदाध्ययनकी तरफ जो लोगोंकी रुचि बढ़ रही है, वह स्वामीजीके व्यक्तित्वका सुपरिणाम है। यदि स्वामीजी न होते, तो सुखकी नींद सोनेवाले सनातन धर्मको करवट बदलेनकी भी फुर्सत नहीं मिलती। आज जो हिन्दुओंमें जाग्रति दीख रही है, खण्डन-मण्डनका बाजार गर्म हो रहा है, धूलमें समाधि लेनेवाली पुस्तकें झाड़ी जा रही है, वह स्वामीजीके ही अङ्कुशकी करतूत है।

महर्षिने सुधारके पीछे अपने प्राणतक दे दिये। अजमेरमें एक राजाको वेश्याके चंगुलसे छुड़ानेमें महर्षिने अपनी जान गँवायी। विश्वासपात्र रसोइयेने ही उन्हें विष दे दिया, वह कलुषित दिवस संवत् १८८४ की दीपावली था। स्वामीजीने असार संसारको छोड़ दिया; पर उनका प्रभाव और उनकी सेवा आज भी वर्तमान है।

श्रीरामचन्द्र

वेदाचार्य, दर्शनालङ्कार श्रीयुत प्रो० रुद्रदेव शास्त्री

"...मो राजमणिः सदा विजयते"

...शी राजा दशरथ अयोध्यामें राज्य करते थे। दशरथकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। इनका यश सर्वत्र फैला हुआ था। वह बड़े विद्वान् और राजनीतिज्ञ थे। इन्हें कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा नामकी तीन रानियाँ थीं। राजा दशरथको देवराज इन्द्र भी बड़े स्नेहसे देखते थे। परन्तु ये निःसन्तान थे। पुत्रेष्टि यज्ञ करनेके बाद इन्हें तीनों रानियोंसे चार पुत्र उत्पन्न हुए। राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न।

जब श्रीरामचन्द्रजीका जन्म हुआ, तब भूगोल और खगोल दोनों ही बड़े शान्त थे । ग्रहोंकी स्थितिका वर्णन करते हुए भोजराजने लिखा है—

"अब्दस्थे ग्रहपञ्चके सुरगुरौ सेन्दौ नवम्यां तिथौ ।
लग्ने कर्कटके पुनर्वसुयुते मेषं गते पूषणि ॥
निर्दग्धुं सकलाः पलाशसमिधो मेध्यादयोध्यारणे ।
आविर्भूतमभूतपूर्वमपि तत् सत् किञ्चिदेकं महः ॥"

रामचन्द्रजीका विस्तृत वर्णन वाल्मीकि रामायणमें किया गया है । इस ग्रन्थके प्रत्येक श्लोकके साथ रामचन्द्रजीका कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है । इस महान् ग्रन्थके बालकाण्ड नामक प्रथम काण्ड



लेखक

के प्रथम सर्गके श्लोकों (८-१६) में रामचन्द्रजीके व्यक्तित्वका परिचय दिया गया है। उक्त स्थलके श्लोक अति सरल हैं।

इन श्लोकोंसे प्रकट होता है; रामचन्द्रजी बुद्धिमान्, नीतिमान्, वाग्मी श्रीमान् एवम् धर्मात्मा थे। सारांश यह है कि रामचन्द्रजी सर्वगुणोपेत थे। रामचन्द्रजी आदर्श पुत्र थे । आदर्शपति थे। आदर्श नागरिक थे । आदर्श शिष्य थे। आदर्श भाई थे। आदर्श मित्र थे। आदर्श त्यागी थे। इन सबके साथ ही वे आदर्श राजा भी थे ।

रामचन्द्र जब छोटे ही थे, तभी ऋषि विश्वामित्र दशरथके पास आये और अपने यज्ञोंमें होने वाले विघ्नोंकी चर्चा करके बोले— राजन् आप हमें केवल दस दिनोंके लिये रामचन्द्रको दे दें।' दशरथने विश्वामित्रकी अपनी विनयके द्वारा इस बातपर राजी करना चाहा कि वे दस सहस्र अथवा इससे भी अधिक सैन्य लेना स्वीकार कर लें और बालक रामचन्द्रको छोड़ दें। रामचन्द्रजीके बालभावका पुनः पुनः स्मरण दिलाकर दशरथने विश्वामित्रको सैन्यकी सहायतापर सन्तुष्ट हो जानेके लिये उद्युक्त करना चाहा; पर विश्वामित्र दशरथकी बातपर राजी न हुए। दशरथको उत्तर देते हुए विश्वामित्रने जो कुछ कहा, उसे कवि मुरारिने अनर्घराघव नाटकमें इन शब्दोंमें लिखा है—

"दिवस्पृथिव्योस्तिमिरतिरस्करिणीं तरणिरणुतरोऽपि तेजसा तिरस्करोति ।"

अर्थात्:—द्युलोक और पृथिवी लोकमें फैले हुए अन्धकारको (सामान्य रूपसे) देखनेमें छोटा प्रतीत होने वाला भी सूर्य दूर कर देता है। इस पर दशरथने रामको विश्वामित्रके साथ कर दिया। साथमें लक्ष्मण भी गये। राम विश्वामित्रके साथ उनके आश्रमके लिये चल पड़े। मार्गमें विश्वामित्रने रामको बला और अतिबला नामकी दो विद्याएँ सिखलायीं। इन विद्याओंके प्रभावसे रामकी शक्ति बहुत बढ़ गयी। वे आश्रममें पहुँच गये ।

विश्वामित्रकी आज्ञासे अपने पिताके वाक्योंका स्मरण करके रामने 'ताड़का' राक्षसीका वध किया । राम इस समय बालक थे और विश्वामित्रके शिष्य थे । पिताका भी आदेश यही था, विश्वामित्रकी आज्ञा मानना । अतः 'स्त्रीवध'से

उनके आदर्श चरित्रपर किसी प्रकारके मालिन्यकी सम्भावना नहीं देख पड़ती । रामने विश्वामित्रके सिद्धाश्रममें रहकर विश्वामित्रसे अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी रहस्यमयी बातें सीखीं । यहाँपर



चोलकालीन श्रीरामचन्द्र की एक सुन्दर मूर्ति

यज्ञमें विघ्न करनेवाले 'मारीच' को मानवास्त्रसे मोहित कर दूर फेंक दिया और महापराक्रमी 'सुबाहु' को दल बलके सहित मार डाला । रामके साथ ही साथ छोटे भाई लक्ष्मण भी यहाँ आये ही थे । दोनों आनन्दसे विश्वामित्रके आश्रममें रहते थे। कुछ दिनोंमें जनककी राजधानी मिथिलासे जनकके पुरोहित शतानन्दके द्वारा भेजे हुए आदमी विश्वामित्रके पास आये। इनसे मुनिको सीताके विवाहका वृत्त मालूम हुआ। सीता महाराज जनककी 'अयोनिजा' पुत्री थीं । महादेवके पिनाकका आरोपण इनके पाणि-ग्रहणका शुल्क था। विश्वामित्रके साथ राम जनकपुरके लिये चल दिये। लक्ष्मण तो साथमें थे ही । मार्गमें एक पत्थरकी स्त्री-मूर्त्ति पड़ी थी । यह गौतम मुनिकी शाप-ग्रस्त पत्नी अहल्या थीं। अहल्या और इन्द्रका जार-कर्म बहुत प्रसिद्ध है । रामके चरणाघातसे यह प्रस्तर मूर्ति सत्य-मानव-रूपमें जीवित हो उठी ? मार्गके मनोहर दृश्योंको देखते हुए राम जनकपुर पहुँच गये ।

शिवजीके धनुष्को रामने उठा लिया और लीलासे ही तोड़ दिया । रामने वीर्य-शुल्का सीताके साथ दशरथ इत्यादिके आ जानेपर विवाह कर लिया । सीता रामकी नारी बन गयीं । उर्मिलाके साथ लक्ष्मणका विवाह हुआ । जनकके भाई कुशध्वजके भी दो कन्याएँ थीं। इनके भी विवाह भरत और शत्रुघ्नसे हो गया । श्रुतकीर्त्ति शत्रुघ्नकी और माण्डवी भरतकी सहधर्मिणी हुईं ।

मार्गमें परशुराम मिल गये । राम और परशुराममें वाद होने लगा। यह वाद बढ़ गया। पर रामके पराक्रमके सम्मुख इक्कीस बार मेदनीको निःक्षत्रिया कर देनेवाले 'परशुराम' को भी अपने क्रोधके संवरणके लिये विवश होना आवश्यक हो गया। जामदग्न्य (परशुराम,ने रामके प्रभावको जाना और क्षमा माँगकर विदा हुए ।

राम अयोध्या आ गये। दशरथ बूढ़े हो गये थे। उन्होंने रामको राज्याधिकार देनेका विचार किया। सभा हुई। सबने रामके राज्याभिषेकका समर्थन किया। राज्याधिरोहणकी विधिके लिये सामग्री जुटायी गयी। रामको इसकी सूचना दी गयी। कौशल्या और सीताको यह बात मालूम हुई।

एक ओर यह हो रहा था और दूसरी ओर रङ्गमें भङ्गका उपक्रम भी होने लगा।

कैकेयको 'मन्थरा' नामकी एक दासी थी। यह शरीरसे तो कुब्जा थी ही; इसका मन भी बड़ा कुटिल था। इसने कैकेयीको रामके राज्यमें होनेवाली, अपनी और कैकेयी तथा भरतकी दुर्दशाका काल्पनिक चित्र दिखलाया। कैकेयी भी चक्करमें पड़ गयी। कैकेयीने मन्थरासे, इस आपत्तिसे बचनेका, उपाय पूछा। मन्थराने कहा—"तुम कोप-भवनमें चली जाओ। खाना-पीना छोड़ दो। रोना-धोना शुरू कर दो। म्लान और दीन वेषभूषासे भूमिपर लोटो-पोटो। राजाको जब यह हाल मालूम होगा, तब वे तुम्हें देखने आवेंगे। तुम उनसे कहना कि असुरोंके साथ होनेवाले युद्धमें तुमने मुझे दो वर देनेको कहा था। यदि तुम सत्यतापूर्वक उन्हें देनेकी प्रतिज्ञा करो, तो मैं माँग लूँ। यदि तुम मुझे दोनों वर नहीं दोगे, तो मैं मर जाऊँगी। वृद्ध राजा तुम्हारे प्रेममें विह्वल होकर तुमको वर देनेकी प्रतिज्ञा करेगा। तब तुम रामके लिये चौदह वर्षोंका वनवास और भरतके लिये राज्य माँग लेना।" मन्थराकी कही हुई सब बातें ही हुईं। कैकेयीने दशरथसे छल करके दोनों वर माँग लिये।

राम और सीता अभिषेकार्थ उपवास कर रहे थे। एक दूतने आकर रामसे कहा; कि महाराज दशरथने आपको स्मरण किया है। रामके वस्त्र उपवासके समयके ही थे। राम क्षौम-वस्त्राच्छन्न एक सुन्दर रथपर बैठकर दशरथके पास चल पड़े। चलते समय सीतासे उन्होंने कहा कि अभिषेककी कोई विशेष बात बतलानी होगी? रामका रथ कैकेयीके महलके सामने जाकर खड़ा हो गया। राम कैकेयीके पास गये देखते हैं कैकेयी कोपभवनमें बैठी है और दशरथ निसंज्ञावस्थामें भूमिपर पड़े हैं। रामने कैकेयीको प्रणाम किया और बोले; 'मातः यह क्या?'

कैकेयीने सब हाल कहा और रामसे पूछा—यदि वह पिताकी बात माननेको तैयार हों, तो वह सब बता सकती है।

रामने मुस्कराकर कहा—'बताओ मा; क्या बात है। पिताकी आज्ञासे मैं आगमें भी कूद सकता हूँ। विष भी खा सकता हूँ। समुद्रमें भी डूब सकता हूँ।"

कैकेयीने वरका हाल कहा। रामको इस वरकी बात सुनकर लेशमात्र भी दुःख नहीं हुआ।

रामने सब बातें सीतासे कहीं। कैकेयीके वचन—'त्वया वने तु वस्तव्यं कैकेयी भरतो नृपः' सुनकर सीताको आश्चर्य हुआ। लक्ष्मण तो बहुत ही क्रुद्ध हुए। कौशल्याने रोदन किया। लक्ष्मणने क्रोधमें आकर पिताको भी अज्ञ और विषयासक्त कहा। पर रामने धैर्यसे काम लिया। सबको समझाया और शान्त किया। पुनः राम सीता और लक्ष्मणके साथ वन चलनेके लिये सन्नद्ध हो गये। दोनोंको दान देकर विप्रोंका सत्कार करके दशरथ और कैकेयीको प्रणाम करके, कौशल्याकी प्रदक्षिणा और प्रणाम करके, सुमित्रा आदि अन्य मातृ-तुल्य देवियों और मन्त्रियोंका अभिवादन करके शोकार्त्त पुरवासियोंकी इच्छाके विरुद्ध राम जङ्गलके लिये निकल

पड़े। सुमन्त्रने राम, लक्ष्मण और सीताको रथपर बैठाकर तमसा नदीके किनारे तक पहुँचा दिया। यहाँसे पुरवासी लोगोंको सुमन्त्रने श्रीरामके कहनेसे बड़ी-कठिनतासे, लौटा पाया। पुरवासी जब लौट गये, तब रामको लेकर सुमन्त्र "शृङ्गवेरपुर" गये।



शृंगवेरपुर

वहाँ एक इङ्गुदी-वृक्षकी छायामें बैठकर विश्राम किया। 'शृङ्गवेर'-पुराधीश्वर "गुह" निषादको रामका हाल मालूम हुआ। गुहने रामकी पूजा की। भोजनकी विविध-वस्तुएँ प्रदान कीं। रामने इसको दान-द्रव्य समझा। और क्षत्रियोचित-धर्मके विपरीत प्रतिग्रहको समझ कर दान-द्रव्य नहीं लिया। रात्रिमें सब वृक्ष-मूलमें पर्णोंकी शय्यापर सोये। प्रातः काल गुहके द्वारा नावकी व्यवस्था की गयी। नावके द्वारा राम, लक्ष्मण और सीताने मुनिवेषमें गङ्गाको पार किया। गङ्गाका पार करके तीनों प्रयागमें मुनि भरद्वाजके आश्रमपर पहुँचे। भरद्वाजको प्रणाम किया। मुनिजनोचित वार्त्तालाप हुआ।

तीनों चित्रकूट पहुँचे। वहाँ मन्दाकिनी नदीके तट पर 'वास्तुपूजा' की। पुनः रामने सीताको चित्रकूटकी सैर करायी। यहाँ पर ऐषीकालसे एक कौएकी आँखका वेधन किया। यह कौआ देवी सीतापर प्रहार करनेमें प्रवृत्त हो रहा था।

इधर पुत्रशोकार्त्त दशरथ स्वर्ग सिधारे। अयोध्यामें शोक छा गया। इस समय भरत और शत्रुघ्न राजगृहमें थे। वसिष्ठ आदिने भरतको राजगृहसे बुलवाया। भरत आये। सब हाल जाना। कैकेयीकी बुद्धिकी निन्दा की। मन्थराको पिटवाया कौशल्याकी प्रशंसा और विनय-प्रार्थना की।

इस समय तक दशरथका शव तैल-भाण्डमें सुरक्षित रखा हुआ था। सरयू नदीके तटपर पिताके शवका दाह संस्कार कर भरतने रामको अयोध्या लौटा लानेका विचार किया। भरतका सैन्य चित्रकूटके समीप पहुँच गया। वहाँ राम, सीता तथा लक्ष्मण शाल, तमाल आदि वृक्षोंकी शाला बना कर रहते थे। लक्ष्मणने भरतके 'कोविदार' ध्वजवाले रथको पहचाना। लक्ष्मणको कुछ शङ्का हुई। शङ्कित हृदयसे उन्होंने भरतको देखा। वे बड़े क्रुद्ध हुए। भरतको मारनेकी कल्पना करने लगे। रामने लक्ष्मणको समझा दिया और शान्त रहनेके लिये बाध्य किया।

भरत चित्रकूटमें पहुँच गये। अयोध्याका सब हाल कहा और बोले—

"हे राम, पिता स्वर्ग चले गये। अब आप अयोध्याके राजा बनें। आपकी आज्ञाका पालन कर मैं ही वन जाऊँगा।" अग्निपुराण

इसपर रामने बड़े धैर्यसे कहा—"मैं सत्यव्रती और जटाधारी हूँ। मैं क्योंकर अयोध्या लौटूँ।"

—अग्निपुराण

यह है रामके लोकोत्तर चरितका 'सर्वस्व'! राज्यके लिये संसारमें किस देशके किस राजाने कौनसा घृणित कर्म नहीं किया।



श्रीरामचन्द्र

किन्तु रामका चरित्र तो लोकोत्तर है। भरत भी आदर्श भाई थे। वे भाईकी पादुका लेकर लौटे और नन्दिग्राममें जटा-चीर धारण कर रहने लगे। राम-पादुकाओंका पूजन हुआ और वे ही शासनका सूत्रधार होकर रहीं।

रामने चित्रकूटको अयोध्याके समीप समझ कर दण्डकारण्यकी ओर प्रस्थान कर दिया। मार्गमें शरभङ्ग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि अनेक मुनियोंके दर्शन और पूजन करते हुए राम दण्डकारण्यकी ओर चलते गये। अगस्त्यने रामको दिव्य धनुष् और दिव्य तूणीर भी अर्पित किये। रामचन्द्र गोदावरी नदीके किनारे जनस्थानमें पहुँच गये। वहाँ पञ्चवटीमें वास किया।

जनस्थानमें रहनेवाली भयङ्करी शूर्पणखा एक दिन पञ्चवटीमें आयी। वह रावणकी बहिन थी। उसने रामको देखा और मोहित हो गयी। उस कामिनीने रामसे विवाहकी प्रार्थना की और बोली—"आप कौन हैं, कहाँसे आये हैं? आप मेरे पति बनें।" रामने उसे समझाया, सान्त्वना दी, क्रोध प्रदर्शित किया; पर उस कामिनीको कुछ न भाया। वह सीता और लक्ष्मणको खानेके लिये दौड़ पड़ी। तब रामके कहनेसे लक्ष्मणने उस शूर्पणखाके कान और नाक काट लिये।

वह रोती-पीटती और लहूसे लथपथ होकर जनस्थानवासी अपने भाई खरके पास गयी। उसे राम, सीता और लक्ष्मणका हाल सुनाया और बोली—'इनके कवोष्ण रुधिरको यदि तुम मुझे पिलाओगे, तभी मैं जीवित रहूँगी!' खरने कहा—"अच्छा।" दूषण और त्रिशिराके साथ चौदह सहस्र राक्षसोंको लेकर खर रामको मारनेके लिये पहुँचा। रामके साथ राक्षसोंका घोर युद्ध हुआ। रामने खर, दूषण, त्रिशिरा और चौदह सहस्र राक्षस-योद्धाओंको यम-लोक पहुँचा दिया।

शूर्पणखा रोती-पीटती लङ्का गयी। उसने सब हाल रावणसे कहा। रावणने रामकी पत्नी सीताके हरणका सङ्कल्प किया। इसी प्रसङ्गमें उसने "मारीच"-से कहा कि तुम 'सुवर्ण-मृग' बन कर रामको दूर हरण कर ले जाना। मैं अकेलेमें सीताको उड़ा लाऊँगा। मारीचने रावणको बहुत समझाया। राम साक्षात् 'यम' हैं, यह कह कर भय भी दिखाया; पर रावणने एक न मानी। तब मारीचने विचारा यदि मैं रावणका कहा नहीं मानूँगा, तो रावण मुझे मार डालेगा। इस लिये—

'रावणादपि मर्त्तव्यं मर्त्तव्यं राघवादपि।
अवश्यं यदि मर्त्तव्यं वरं रामो न रावणः॥
इति मत्वा मृगो भूत्वा सीताग्रे [illegible]।"

मारीचने सोचा रावणके हाथसे मरनेकी अपेक्षा रामके हाथसे मरना अच्छा है। मारीचने रावणका कहा किया। वह माया-मृग बन कर सीताके सम्मुख गया। सीताने उस विचित्र मृगको देख कर उसे पकड़नेके लिये रामसे कहा। सीता और लक्ष्मणको कुटीमें छोड़कर राम आखेटार्थ चल दिये। कपटी मृगको रामने मार डाला। मरते समय मारीचने 'हा सीते'! 'हा लक्ष्मण'! कहा, सीताने लक्ष्मणको हुक्म दिया, तुम जाओ, देखो क्या बात है? लक्ष्मण द्विविधामें पड़ गये। पर सीताकी क्रोधाग्निके सम्मुख लक्ष्मण धैर्यसे विचलित हो गये। कुटीमें अकेले सीता रह गयीं। इसी अवसर भिक्षु-वेषधारी रावण आया। द्वारपर आकर रावणने भिक्षा माँगी। भिक्षा-दानके समय ही सीताको रावणने पकड़ लिया और लङ्काके* लिये चल पड़ा।

* यह लङ्का जनस्थानसे अधिक दूर नहीं होनी चाहिये, सम्भव है उस समय कोई दूसरी भी "लङ्का" नामकी छावनी रावणकी हो।—लेखक

रास्तेमें जटायुने सीताके हरणको देखा। जटायुने रावणसे सीताको छुड़ाना चाहा। रावण और जटायुका युद्ध हुआ। रावणने जटायुके पङ्ख, अपनी तलवारसे, काट दिये। छिन्न-पक्षति जटायुको भूमिपर सिसकता हुआ छोड़ कर रावण चला गया। रावण अपने मनोरथमें सफल हुआ और मारीच मारा गया।

मारीचको मार कर जब राम लौट रहे थे, तब उन्हें मार्गमें लक्ष्मण मिले। रामको यहीं अनर्थकी शङ्का हो गयी!

कुटी पर आये। देखा कुटी शून्य है। सीताका कुछ पता नहीं। इधर-उधर देख कर विह्वल होने लगे। कभी कुछ सोचते हैं और कभी कुछ। कभी सोचते हैं, शायद कमलके फूलोंका चयन करने गयी हो। फिर सोचते हैं, एसा तो सम्भव नहीं! वह मेरे बिना कमल-पुष्पावचायके लिये कभी नहीं जाती।

राम और लक्ष्मण सीताका अनुसन्धान करते हुए इधर-उधर दौड़ने लगे। एक दिशामें जटायु दृष्टिगोचर हुआ। उसने सीता-हरणकी सब कथा सुनायी। रामने जटायुको स्वर्गति दी और कहा—

"हे तात! सीता हरणकी बात स्वर्गमें पितासे न कहना, यदि मैं राम हूं, तो अपने कुलके साथ रावण ही इस बातको सुनानेके लिये वहाँ जायगा।"

राम आगे बढ़े। मार्गमें कवन्ध दानव मिला। कवन्धका भी रामने वध किया और उसे भूमिमें गाड़ दिया। कवन्धको भी सद्गति मिल गयी। कवन्धने शापमुक्त होते समय रामसे सुग्रीवका हाल कहा।

राम किष्किन्धाकी ओर चल पड़े। वहाँ पम्पासरको देखकर राम विह्वल हो उठे। भोजराजका कहना है—

"सतां सतां बुद्धिमिव प्रसन्नां
पम्पां वियोगज्वर-जातकम्पः।
विलोकयन् लोकनिविष्टकीर्ति—
राशिं रघुणां प्रवरः प्रपेदे॥"

—रामायण-चम्पू (सुन्दरकाण्ड)

वहाँपर हनुमान् मिल गये। हनुमान् रामको सुग्रीवके पास ले गये। सुग्रीवके दुःखको रामने सुना और उसे हटानेकी प्रतिज्ञा की। रामकी प्रतिज्ञाको सुनकर सुग्रीवको आश्चर्य हुआ। उसने बालिके बलकी प्रशंसा करते हुए 'सप्त—ताल—भेदन'की बात कही। रामने एक शरसे ही सात तालोंको भेद दिया। पादाङ्गुष्ठके आघातसे ही दुन्दुभिके शरीरको दश योजन फेंक दिया। रामकी शक्तिपर विश्वास कर सुग्रीव बालिसे मल्ल-युद्ध करनेके लिये तैयार हुआ। बालिने अनुजकी पत्नीके साथ बलात् अवैध कर्म किया था। "रामने बालिको एक शरके ही प्रहारसे मार डाला और शर फिर रामके तूणीरमें आ गया।"

—रामायण-चम्पू

बालि-वधके बाद बालि-पत्नी ताराने रामके सम्मुख विलाप किया और कहा हे राम मुझको भी मार डालो—

"नाहं सुकेतुतनया न च सप्ततालो
बाली न च त्रिभुवनप्रथितप्रभावः।
तारास्मि वज्रहृदया विशिखैरभेद्या,
धन्वी कथं भवसि राघव! मामभिस्वा॥"

—रामायणचम्पू

रामने ताराको सान्त्वना दी। ताराने 'अङ्गद' नामक अपने पुत्रको राम-चरणसेवक होनेका उपदेश दिया। अङ्गद रामका अनुरक्त दास बन गया।

इस समय वर्षा-ऋतु आ गयी थी। वर्षा-कालमें इधर-उधर सीतान्वेषणार्थ जानेमें नदी-नद आदिकी रुकावटें थीं। अतः वर्षाके उपरान्त शरद्-ऋतुके प्रारम्भमें सीतान्वेषणकी प्रतिज्ञा करके सुग्रीवने वर्षा-काल भोगविलासमें बिताया। इस समय राम भी अति विह्वल रहे। वर्षा-कालके बाद जब क्रौञ्च पक्षी आकाशमें उड़ते हुए देख पड़ने लगे तब रामकी उत्कण्ठा बढ़ने लगी।

इस समयतक सुग्रीव भोग-विलासमें ही व्यस्त था। रामने लक्ष्मणको सुग्रीवके पास भेजा। लक्ष्मण सुग्रीवके पास गये और बोले—'तुम अब तक भोग-विलासमें पड़े हो। प्रमाद कर रहे हो। शीघ्रता करो। सीताका पता लगाओ नहीं तो तुम्हारे लिये भी वही रास्ता खोल दिया जायगा जिससे बालि गया है।'

सुग्रीव चारो दिशाओंमें वानरोंको अनुसन्धानार्थ भेजना प्रारम्भ कर दिया। दक्षिण दिशाकी ओर ढूँढ़नेके लिये हनुमान् चले। उन्हें पर्वतकी अधित्यकापर नूपुर और केयूर आभूषण मिले। आभूषणोंमेंसे नूपुरोंको लक्ष्मणने पहचान लिया। बस, सीताहरणकी दिशाका निश्चय हो गया। इसी समय 'सम्पाति' नामक गृद्ध्र आया। वह जटायुका भाई था। उसने कहा "मैंने सूर्यतक उड़ते-उड़ते सीताको लङ्कामें अशोक-वटिकामें देखा है। मध्यमें उदधि है। पर्वत-श्रेणियोंको भी पार करना है। रामसे जाकर तुम-लोग यह बातें कह दो।"

सम्पातिके वचनको सुनकर हनुमान्, अङ्गद इत्यादि समुद्रके पास पहुँच गये और कपियोंकी जीवन-रक्षाके निमित्त तथा रामकार्यकी सिद्धिके लिये हनुमान्ने शतयोजन विस्तीर्ण समुद्रको पार करनेका उद्योग किया। इसमें हनुमान् सफल भी हुए।

लङ्कापुरीमें अशोक-वनिकामें हनुमान्ने सीताको देखा और आश्वासन दिया। इसके उपरान्त हनुमान्ने लङ्कामें बहुत उत्पात मचाया, बहुतसे राक्षसोंको मार डाला। 'अक्षकुमार'को मार डाला। रावणने हनुमान्से पूछा—'तुम कौन हो?' उन्होंने कहा—"मैं रामदूत हूँ। सीताको दे दो। नहीं तो मार डाले जाओगे?" रावणने उनकी पूँछमें आग लगवा दी। दीप्त-पुच्छ होकर हनुमान्ने लङ्काको जला दिया, सोनेकी लङ्का पिघलने लगी।

लङ्काको जलाकर और सीताको प्रणाम कर हनुमान् लौट आये। 'मधुवन'में अङ्गद आदिसे मिले। वहीं 'मधुपान' किया और पुनः रामके पास जाकर सब हाल सुनाया। अभिज्ञानार्थ सीताके द्वारा दी हुई 'मणि' दिखलाई। लङ्कापर चढ़ाईकी भेरी बजा दी गयी। देखते-देखते सैन्यने मार्ग तै कर लिया।

रामके साथ सुग्रीव अपने दल-बलके साथ समुद्र तटपर पहुँच गये। तरु और शैल आदिके द्वारा नल नामक वानरने समुद्रपर सेतु बनाया। सेतुके द्वारा समुद्रको पार कर सब सैन्य 'सुवेल' पर्वतपर पहुँच गया।

रामने रावणके पास अङ्गदको भेजा। अङ्गदने रावणसे जाकर कहा, 'सीता दे दो; अन्यथा तुम मार डाले जाओगे?' रावणने अङ्गदकी बातको बड़ी अवहेलनासे सुना। क्रोधमें आकर रावणने कहा 'मैं तो अकेले युद्धको ही उचित उपाय समझता हूँ।'

रामका रावणके साथ महा भयानक युद्ध हुआ।

"गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।
राम-रावणयोर्युद्धं राम-रावणयोरिव ॥"

—वाल्मीकाचार्य

युद्धमें रावण मारा गया। रामकी विजय हुई। हर्षनाद होने लगे। प्रसन्न वानर केलि करने लगे।

इन्द्रने 'अमृत'की वृष्टि करके मृत वानरोंको जीवित कर दिया। सीता रामको मिल गयी। सीताकी 'अग्नि-परीक्षा' हुई। सीताको 'अग्नि'ने विशुद्ध प्रमाणित किया। मातलि इन्द्रका रथ लेकर रामको ले चलनेके लिये आये।

रामने सब वानरोंका उचित आप्यायन किया। रामचन्द्र पुष्पक विमानपर बैठकर सीता और लक्ष्मणके साथ अयोध्या चले। इस समय चौदह वर्ष भी पूर्ण हो गये थे। मार्गके विविध दृश्यों—नदी, नद, पर्वत आदि—को सीताको दिखलाते हुए राम अयोध्याकी ओर चले और वानर-सैन्य भी यथास्थानके लिये प्रस्थित हुआ।

रामने प्रयाग पहुँचकर भागारथीका अभिवादन किया और पुनः भरद्वाज मुनिको प्रणाम कर नन्दिग्राममें आये। भरतने पुलकित होकर ससहाय रामका स्वागत किया। राम अयोध्या आये। पुरवासियोंने प्रसन्नता प्रकट की। दीपमालिका प्रज्वलित हुई। रामका शुभ मुहूर्त्तमें अभिषेक हुआ और रामने न्यायपूर्वक प्रजाओंकी रक्षा की। राम 'नृप' और 'राजा' हुए। रामका राज्यशासन आदर्श रहा।

इसके उपरान्त रामके उत्तरचरितमें सीताके निर्वासनकी भी एक घटना कही जाती है। सीता-निर्वासनका मूल भी प्रजा-रञ्जन ही है। उत्तर-रामचरितमें भवभूतिने इस आशयको बड़े ही सुन्दर ढङ्गसे, रामके मुखसे ही, कहवाया है। राम कहते हैं—

"स्नेहं दयाञ्च सौख्यञ्च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥"

निर्वासितावस्थामें सीताको वाल्मीकि आश्रममें कुश और लव नामके दो पुत्र भी उत्पन्न हुए। सीता और रामका पुनः मिलन भी हो गया। सीताके अभावमें भी रामने सीताकी सुवर्ण-प्रतिमाको ही सहधर्मिणी रखा था। वृद्धावस्थामें रामने आरण्यक-व्रतको स्वीकार किया। पुत्रोंको राज्यासनपर अभिषिक्त कर राम तपस्या करने लगे।

रामका जीवन लोकोत्तर है। इसलिये राम 'मर्यादापुरुषोत्तम' कहे जाते हैं। उनके जीवनकी घटनाओंका हम आलोचन नहीं कर सकते। भवभूति कविने ठीक ही कहा है—

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति॥"

जगदीशचन्द्र बोस

श्रीयुत पीताम्बर झा

सर जगदीशचन्द्र वैज्ञानिक संसारके जगमगाते हुए रत्न हैं। इनके आविष्कारोंसे भारतका मस्तक ऊँचा हुआ है। सर जगदीशचन्द्र बोसका जन्म बँगाल प्रान्तके ढाका जिलान्तर्गत विक्रमपुर गाँवके सम्माननीय कायस्थ परिवारमें हुआ है। इनके पूज्य पिता भगवान्‌चन्द्र बोस फरीदपुरमें सब डिविजनल आफिसर थे। बालक जगदीशचन्द्र बचपनसे ही नयी चीजोंकी खोजमें लगे रहते थे। दुनियाकी चीजोंको वे खोजपूर्ण दृष्टिसे देखा करते थे। इनके पिताजी भी वैज्ञानिक शिक्षाके

प्रेमी थे। उन्होंने शिल्प-शिक्षाके लिये कई स्कूल भी खोल रखे थे। योग्य पिताकी देखरेखमें रहनेके कारण इन्होंने विज्ञानकी ओर ध्यान देकर विशेष लाभ उठाया।

उस समय भारतमें वैज्ञानिक शिक्षाका आरम्भिक युग था। ग्रामीण पाठशालाकी शिक्षा पूर्ण होनेके बाद आचार्य बोस अँग्रेजी स्कूलमें दाखिल हुए। बहुत दिनों तक गरीब विद्यार्थियोंके साथ हिलमिलकर पढ़ते रहनेके कारण आपको अपने धन और एस० डी० ओ० पिताके पदका तनिक भी अभिमान नहीं हुआ। आपने अपनेको उन गरीब सहपाठियोंसे तनिक भी बड़ा या धनी नहीं समझा

आपका बचपन एक डाकूकी गोदमें व्यतीत हुआ; फिर भी उसके क्रूर स्वभावका आपके जीवनपर कोई फल नहीं पड़ा। आपके पिताने एक डाकूको लम्बी अवधिके लिये जेल भेजा था। वही डाकू जेलसे मुक्त होकर आपके पिताके पास जाकर पश्चाताप करता हुआ गिड़गिड़ाकर नौकरीके लिये बोला। बाबू भगवान्चन्द्रने उसके पिछले कार्यकी ओर ध्यान न देकर उसे अपने ही यहाँ नौकर रख लिया और उसीके हाथमें बालक जगदीशचन्द्रकी सेवाका भार सौंपा। उस डाकूका चरित्र भी सुधर गया।

स्कूली शिक्षा समाप्त कर जदीशचन्द्र उच्च शिक्षा प्राप्त करनेके लिये सेंट जेवियर्स कालेजमें पढ़ने लगे। क्रमशः प्रत्येक श्रेणीमें सफलता प्राप्त करते हुए ये बी० ए० की परीक्षामें उत्तीर्ण हुए। विलायत जाकर सिविल सर्विसकी परीक्षा पास कर लेनेका विचार होनेपर भी इनके पिताकी इच्छा नहीं हुई कि यह न्यायाधीश होकर अपनी वैज्ञानिक प्रतिभाको कुण्ठित कर दें; इसलिये उन्होंने इन्हें डाक्टरी या विज्ञान पढ़नेके लिये विलायत भेज दिया। सन् १८८४ ई०में इन्होंने क्राइस्ट कालेजसे बी० ए० की परीक्षामें सफलता पायी। इसके दूसरे वर्ष इन्होंने लण्डन विश्व-विद्यालयसे बी० एस-सी० की डिग्री प्राप्त की। अपने विद्यार्थि-जीवनमें भी जगदीशचन्द्रको वहाँके प्रकाण्ड वैज्ञानिकोंके सामने अपनी



जगदीशचन्द्र बोस

प्रतिभाका परिचय देनेका अवसर मिला था। वैज्ञानिक-अनुसन्धानमें काफी सफलता प्राप्त करनेके कारण उन लोगोंने इन्हें प्रोत्साहित किया था।

भारत लौटनेपर जगदीशचन्द्र बोस कलकत्तेके प्रेसिडेन्सी कालेजमें विज्ञानके प्रोफेसर नियुक्त हुए। उस समय वहाँ विज्ञानकी कोई सुन्दर प्रयोगशाला नहीं थी इसलिये विवश होकर इन्हें एक दूसरी प्रयोग-शाला बनवानी पड़ी।

सन् १८९५ ई०से आचार्य बोस खोज-पूर्ण वैज्ञानिक लेख लिखने लगे और वे सुन्दर लेख सामयिक पत्रोंमें छपने लगे। सन् १८९६ ई०में इन्होंने एक विद्वत्तापूर्ण लेख रायल सोसायटीमें लिखकर भेजा। इनका लेख सोसायटीकी पत्रिकामें प्रकाशित हुआ। इनको अपना वैज्ञानिक अनुसन्धान आगे बढ़ानेके लिये सोसायटीने इन्हें आर्थिक सहायता भी दी। सोसायटीकी पत्रिकाके लेखकोंका उस समय खूब सम्मान था। साधारण श्रेणीके लेखकोंका लेख उसमें स्थान नहीं पाता था। धीरे-धीरे इनकी वैज्ञानिकताकी धाक विदेशी वैज्ञानिकोंपर भी जमने लगी। बंगाल गवर्नमेंटने भी इन्हें अनेक तरहकी सुविधाएँ दीं, जिनसे अपने अनुसन्धानमें इन्हें सफलताका अवसर मिला। लंडन विश्व-विद्यालयसे आचार्य बोसको डी० एस-सी०की सम्मानपूर्ण उपाधि प्राप्त हुई। इनके पहले यह सम्मानपूर्ण उपाधि किसी भारतीयको प्राप्त नहीं हुई थी। बिना तारको सहायताके खबरें भेजी और मँगायी जा सकती हैं कि नहीं, इसीके अनुसंधानमें डा० बोस लगे हुए थे। उस समय इनके अतिरिक्त संसारके और दो वैज्ञानिक भी इस अनुसन्धानमें लगे हुए थे। इन तीनोंमें जगदीशचन्द्र बोसको ही इसमें पहले सफलता मिली और यही इसके आविष्कारक समझे गये (!)। अपने प्रयोगके द्वारा इन्होंने प्रमाणित कर दिया कि बिना तारके भी दूर-दूर तक खबरें भेजी जा सकती है।

इस अद्भुत आविष्कारसे आपकी गणना संसारके प्रसिद्ध वैज्ञानिकोंमें होने लगी। भारतको आपका गर्व है।

विशेष प्रसिद्धि हो जानेपर रायल इन्स्टिट्यूशनने डाक्टर बोसको अनुसन्धानके सम्बन्धमें भाषण देनेके लिये निमन्त्रित किया। इस इन्स्टिट्यूशन द्वारा व्याख्यान देनेके लिये निमन्त्रित होना बड़े सम्मानकी बात समझी जाती है। आचार्य बोस इस सभामें व्याख्यान देनेके लिये तीन बार गये। पहला व्याख्यान १८९७ ई० में, दूसरा १९०१ ई० में और तीसरा १९१५ ई० में हुआ था।

सन १९०० ई० में फ्रांसकी राजधानी पेरिसमें दुनिया भरके वैज्ञानिकोंकी एक महती सभा हुई थी। भारतकी ओरसे आचार्य बोस प्रतिनिधि होकर उस सभामे सम्मिलित हुए थे। वहाँ जाकर आपने अपनी असीम दक्षता और विशाल अध्ययनसे विशेष सम्मान प्राप्त किया। वहाँके उपस्थित विद्वानोंने मुक्तकण्ठसे आपकी प्रशंसाकी। पेरिसकी और भी कई सभाओंमे विद्वानोंने आपको निमंत्रित करके आपसे व्याख्यान दिलवाया। फ्रांसकी पदार्थ-विज्ञान-परिषद्के आप सभापति बनाये गये। पीछे अक्सफोर्ड और केम्ब्रिज विश्व-विद्यालयने आपको निमंत्रित किया। डाक्टर बोसने अपने नूतन आविष्कारोंके सम्बन्धमे, यन्त्र द्वारा, वहाँ भाषण देकर वहाँ वालोंको मुग्ध कर दिया। इनके प्रयोगोंको देख कर वहाँके वैज्ञानिकोंने मुक्तकण्ठसे इनकी प्रशंसा करते हुए कहा—"डाक्टर जगदीशचन्द्रके आविष्कारोंसे हमलोगोंको जो सम्पत्ति मिली है, उसके लिये सम्पूर्ण यूरोप भारतका ऋणी रहेगा"।

वहाँसे लौटनेके बाद डाक्टर बोस अमेरिका भ्रमण करने गये और वहाँके प्रसिद्ध नगरोंमें अपने आविष्कारोंके प्रयोगों और व्याख्यानोंसे अपनी अनुपम दक्षताका परिचय दिया। इस तरह पृथ्वीकी परिक्रमा करके वे स्वदेश लौट आये।

१९१३ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालयने इन्हें डाक्टर आफ साइन्सकी उपाधि देकर सम्मानित

किया। पंजाब-विश्वविद्यालयने डाक्टर बोसको अपने यहाँ निमन्त्रित कर अपने आविष्कारोंपर इनसे व्याख्यान दिलाकर बारह सौ रुपयेका पुरस्कार दिया। यह पुरस्कार इन्होंने नहीं लेकर विश्वविद्यालयको लौटा कर कहा—"किसी योग्य विद्यार्थीको वैज्ञानिक अनुसन्धानके लिये इन रुपयोंसे सौ रुपया मासिक छात्रवृत्ति दी जाय।"

आचार्य जगदीशचन्द्र बोसने अपने नवीन आविष्कार द्वारा प्रमाणित कर दिया कि मनुष्य अथवा अन्य जीवोंकी तरह पौधोंका भी जीवन-क्रम है वे भी सुख-दुःखका अनुभव करते हैं और सोते जागते हैं। उनके इस कथनका वैज्ञानिकोंने खण्डन किया और उनका उपहास किया; किन्तु डाक्टर बोसने अपने अनवरत परिश्रम द्वारा अपने कथनकी सत्यता, प्रयोग द्वारा, प्रमाणित करके वैज्ञानिकोंके भ्रमको दूर कर दिया। तभीसे संसारके श्रेष्ठ वैज्ञानिकोंमें आपकी गणना होने लगी।

आपने अपने आविष्कृत विषयोंपर "उद्भिका-कम्पन" नामक एक सुन्दर पुस्तक लिखी है फिर "एलेक्ट्रो फिजियोलाजी" नामक दूसरी पुस्तक भी लिखी। वैज्ञानिकोंने इन दोनो पुस्तकोंसे विशेष लाभ उठाया। इस तरह आपने दुनियाका अशेष उपकार करके भारतका मुख उज्ज्वल किया।

पचपन वर्षकी अवस्था हो जानेपर १९१३ई० में ये पेन्शनके अधिकारी हो गये थे; किन्तु इनकी अद्भुत योग्यताके कारण ही सरकारने इन्हें दो वर्षोंके लिये और भी अपने कार्यपर रहनेका अवसर दिया; क्योंकि इनसे कालेजकी जो प्रतिष्ठा थी, वह किसी दूसरे प्रोफेसरसे प्राप्त नहीं हो सकती थी। पेन्शन देते समय बंगाल सरकारने इनकी अनुपम योग्यतापर मुग्ध होकर ही इन्हें पूरा वेतन पेन्शनके रूपमें देना स्वीकार कर इन्हें सम्मानित किया। सन १९०३ ई० में सरकारने डाक्टर बोसको सी० एस० आई०की उपाधिसे विभूषित किया। अमेरिकासे लौटनेपर 'नायट' की पदवी प्राप्त हुई थी। सम्राट् पंचम जार्जके राज्याभिषेकके समय सन् १९११ ई० में इन्हें सी० एस० आई० की उपाधि प्राप्त हुई। इस तरह इनकी योग्यतापर मुग्ध होकर सरकारने समय-समयपर इनका उचित सम्मान कर अपनी गुणग्राहकताका परिचय दिया।

डाक्टर बोसने अपने प्रयोगोंके लिये कलकत्तेमें "बोस विज्ञान मन्दिर"की स्थापना की है। यदि आचार्य बोस चाहते, तो अपने आविष्कृत प्रयोगों द्वारा करोड़ों रुपया अर्जन कर सकते थे; किन्तु इन्होंने उस ओर ध्यान नहीं दिया। उससे देशका उपकार हुआ, लोगोंने लाभ उठाया, इसीको वे अपना लाभ समझते थे।

इनके आविष्कारोंकी अभी समाप्ति नहीं हो चुकी है। अनुसन्धान हो ही रहा है। नित्य नयी बातें मालूम होती हैं। ईश्वर इन्हें लोमश-मार्कण्डेयकी आयु देकर संसारका इनसे अशेष उपकार करावें।

स्व० महामहोपाध्याय प० रामावतार शर्मा एम० ए०

प० भोलानाथ मिश्र बी० ए०

"भारतस्य न भा भाति, विहारो हार्दवर्जितः ।
रामावतारे स्वर्याते मूर्च्छितेव सरस्वती ॥"

शर्माजीका जन्म छपरे (विहार) में सरयूपारीण-कुलके एक गरीब घरानेमें ६ मार्च १८७७ को हुआ था। आपके पूज्य पिताजीका नाम पण्डित देवनारायण पाण्डेय था। आप संस्कृतके अच्छे विद्वान्



प० रामावतार शर्मा एम० ए०

थे। आप बड़े सदाचारशील व्यक्ति थे। शर्माजीकी माताका नाम श्रीमती गोविन्द देवी था। आप भी तदनुरूप ही साध्वी तथा सरल प्रकृति थीं शिक्षिता थीं, विद्यानुरागिणी थीं और बालिका-शिक्षाकी पक्षपातिनी थीं। प० देवनारायण पाण्डेय-जीकी सन्तानोंमें ६ पुत्र तथा १ पुत्री हुईं, जिनमें छः सन्तानोंका बाल्य कालमें ही स्वर्ग-वास हो गया। जीवित चार पुत्रोंमें प० रामावतार शर्माजी ही ज्येष्ठ थे।

१८८५ ई० में, जब आप ८-९ वर्षके थे आपका विवाह छपरा-निवासी प० मिट्ठू पाठकजीकी कन्यासे हुआ। इसके चार वर्षके बाद १८८९ ई० में, १२ सालकी आयुमें, आपने बाँकीपुर केन्द्रमें व्याकरण साहित्यकी प्रथमा परीक्षा दी तथा प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए। तत्पश्चात् १८९० में, १३ वर्षकी अवस्थामें, आप काशीके "कीन्स कालेज" में नाम लिखवाकर महामहोपाध्याय प० गङ्गाधर शास्त्री, सी० आई० ई०, से पढ़ने लगे। इसी वर्ष आपने काशीके कीन्स कालेजसे व्याकरण साहित्यकी मध्यमा परीक्षा दी और अगले साल अर्थात् १८९१ में बाँकीपुरसे काव्य-मध्यमा परीक्षा दी। इन दोनों परीक्षाओंमें आप प्रथम श्रेणीमें रहे। इसके अनन्तर १८९३ में, १६ वर्षकी उम्रमें, आपने कलकत्तेमें काव्यतीर्थकी परीक्षा और बनारसमें व्याकरणाचार्यकी पूर्वार्द्ध परीक्षा दी। दोनों परीक्षाओंमें आप प्रथम श्रेणीमें रहे।

आप केवल संस्कृत ही पर संतोष नहीं कर बैठे। आपने १८९५ में कलकत्ता और इलाहाबाद, दोनों यूनिवर्सिटियोंमें इंट्रेन्सकी परीक्षा दी। आप इलाहाबाद यूनिवर्सिटीसे प्रथम श्रेणी तथा कलकत्ता यूनिवर्सिटीसे द्वितीय श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए। इसी अध्ययन-कालमें आपने संस्कृत-संसारके लिये एक अभूतपूर्व 'परमार्थ-दर्शन' नामके ग्रन्थका प्रणयन किया। अध्ययन-कालमें ही काशी-पण्डित

समाजमें आप बड़ी ख्याति पा चुके थे। इसी साल अभाग्यवश आपके पिताजीका स्वर्गवास हो गया।

इस समय आपकी आर्थिक स्थिति बड़ी शोचनीय थी। घरमें आपपर अपना, तीन अनुजोंका, विधवा माताका, अपनी एक पत्नीका तथा एक अनुजकी पत्नीका भार था। आखिर आपको छपरेके एक स्कूलमें २५) मासिक वेतनपर अध्यापकी करनी पड़ी।

सन् १८६७ में आपने काशीके क्वीन्स कालेजसे साहित्याचार्यकी परीक्षा दी, जिसमें आप प्रथम श्रेणीमें सर्वप्रथम रहे। उस समय आचार्य बनना कोई साधारण बात नहीं थी। इस आचार्य-पदवीपर पण्डितोंका एकछत्र साम्राज्य था, वे किसीको सहजमें आचार्य नहीं बनने देते थे। परन्तु शर्माजी उस वर्ष 'साहित्याचार्य' में सर्वोच्च रहे। उसी वर्ष पंजाब यूनिवर्सिटीसे एफ० ए० परीक्षामें आप सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए। १८६६ में कलकत्ता विश्वविद्यालयसे संस्कृतमें आनर्स लेकर बी० ए० परीक्षा में आप प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए और स्वर्ण-पदक भी प्राप्त किया। सन् १६०१ में आपने कलकत्ता-यूनिवर्सिटीमें संस्कृत लेकर एम० ए० की परीक्षा दी—उसमें भी आप प्रथम श्रेणीमें सर्वप्रथम रहे। स्वर्ण-पदक भी प्राप्त किया।

इसी साल आपने अपना द्वितीय विवाह काशी के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय की कनिष्ठा कन्या श्रीमती श्यामा देवीसे किया; किन्तु वे कठिन रोगसे आक्रान्त थीं; इस लिये आपने अपना तीसरा विवाह, उनके जीवनकालमें ही, छपरा-जिला-निवासी पण्डित महावीरप्रसाद उपाध्यायकी पुत्री श्रीमती रत्नावती देवीसे किया। इसके बाद दूसरी पत्नी एक वर्षके अनन्तर स्वर्गवासिनी हो गयीं और पहली ११ वर्षके अनन्तर तीसरी पत्नी श्रीमती रत्नावती देवी अभीतक वर्त्तमान हैं।

सन् १६०१ में एम० ए० पास कर चुकनेपर आप १००) मासिक वेतन पर काशीके सेंट्रल हिन्दू कालेजमें संस्कृत-विभागके प्रधानाध्यापक नियत हुए। वहाँसे प्रकाशित होनेवाली 'मित्रगोष्ठी' नामकी उन्नत संस्कृत-पत्रिकाका भी आपने सम्पादन किया।

काशीके सेंट्रल कालेजमें चार वर्ष काम करनेके बाद आप पटना कालेजमें संस्कृत-विभागके प्रधान अध्यापक नियुक्त हुए। वहाँ आपका वेतन बढ़ते-बढ़ते अन्तको १००) मासिक तक पहुँचा था। बीचमें दो वर्षके लिये आप कलकत्ता-विश्वविद्यालय में "वसु-मल्लिक-व्याख्याता" के पदपर चले गये थे; किन्तु फिर आप किसी कारणसे अपने ही स्थानपर लौट आये। १६०६-७ में आफिसरोंके साथ कुछ झंझट हो जानेके कारण स्वतन्त्रताप्रेमी पण्डित जी नौकरी छोड़कर घर ही पर रहने लगे और पिताजीके समान कथा बाँचना शुरू किया। बिहार सरकारने यू० पी० आदि प्रान्तोंमें आपके समान विद्वान्‌की खोज की। सरकार साहित्याचार्य और फर्स्ट क्लास एम० ए० खोजती थी; पर कहीं भी ऐसे व्यक्ति नहीं मिले; क्योंकि उस समय केवल आप ही ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने ये दोनों पदवियाँ पायी थीं। अन्तमें विवश होकर बिहार गवर्नमेण्टने आपको ही, प्रार्थना करके, बुलाया। १६१६ से १६२२ तक आपने महामना प० मदनमोहन मालवीयजीके अत्यन्त आग्रहसे बिहार गवर्नमेण्टसे अनुमति लेकर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके ओरियण्टल कालेजके प्रिन्सिपलके पदको अलंकृत किया था। अन्तको बिहार सरकारने आपसे लौट आनेकी प्रार्थना की, जिसे

आपने स्वीकृत किया। अन्त समयतक आप यहीं (पटना कालेजमें ही) काम करते रहे। आप कई बार कलकत्ता यूनिवर्सिटीमें पी-एच० डी० परीक्षाके परीक्षक भी हुए थे। भारतमें कदाचित् ही कोई ऐसा विश्वविद्यालय होगा, जिसके आप परीक्षक न रहे हों। इधर एक कोष लिखनेमें व्यस्त रहनेके कारण आप केवल एम० ए० परीक्षाके ही परीक्षक होते थे।

छात्रावस्थामें ही आपका लिखा 'मारुतिशतक' काव्य आपकी महाकवित्वशक्तिको सूचित करने लगा था। प्राच्यदर्शनके प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी पाश्चात्य दर्शनमें आपका तत्त्वज्ञान विशद था। आपका ज्ञान केवल व्याकरण-साहित्य दर्शनादि परिमिति शास्त्रोंमें ही नहीं था; ज्योतिष्-आयुर्वेदादि शास्त्रोंमें तथा भूगोलशास्त्र, खगोलशास्त्र, भूगर्भविद्या और गणित-विज्ञानादिकोंमें भी आपकी विद्वत्ता विचित्र थी।

आपने हिन्दीकी कई उत्तमोत्तम पुस्तकें लिखकर हिन्दी साहित्यकी भी प्रशंसनीय सेवा की थी। आपने एक पद्यमय नया महाभारत भी लिखा था, जिसमें महाभारतके समयके बादसे अँगरेज-जर्मन-युद्धके समयतकके समस्त संसारके पूरे इतिहासका संग्रह है। आपका लिखा 'यूरोपीय दर्शन' काशी नागरी-प्रचारिणी सभासे प्रकाशित हुआ, जो अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलनकी परीक्षामें गत कई वर्षों तक नियत पाठ्यरूपसे पढ़ाया जाता था। आप जब्बलपुरमें अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलनके सभापति बनाये गये थे। आपकी लिखी मुद्गरानन्द-चरितावली' भी नागरी-प्रचारणी-पत्रिकामें प्रकाशित हो चुकी है। १९१२ में आपने संस्कृतमें "भारतीय-मितिवृतम्" और "परमार्थदर्शनम्" स्वयं छपवाकर प्रकाशित किये। "सदुक्ति-कर्णामृत" शायद एशियाटिक सोसाइटी और गायकवाड़ संस्कृत सीरीज (बड़ोदा) से प्रकाशित हुआ है। आपका "मुद्गरानन्ददूत" काव्य 'शारदा' नामकी संस्कृत-मासिक-पत्रिकामें प्रकाशित हुआ था। "ब्रह्मसूत्र शङ्करभाष्य"का सार भी आपने लिखा था; पर वह आपके एक शिष्यकी असावधानीसे विनष्ट हो गया। आपने अशोकके शिलालेखोंका भी पाली-भाषासे संस्कृत-भाषामें अनुवाद किया था और वह कदाचित् पुस्तकाकारमें छप भी चुका है। 'प्रियदर्शिप्रशस्ति' भी आप ही की लिखी हुई है।

इधर आप संस्कृतका एक बृहत् कोष तैयार कर रहे थे। आपका विचार था कि, उसमें कोई भी संस्कृत शब्द छूटने न पावे; बल्कि आप हजारों नवीन शब्दोंकी रचना भी कर रहे थे। यह अकारादि वर्ण—क्रमसे पद्यबद्ध लिखा जा रहा था। "अ" से लेकर कदाचित् 'म" तक आप पहुँच भी चुके थे। परन्तु आपकी निधनताने भारतको यह सौभाग्य देखने नहीं दिया।

गत १९२९ में, दिसम्बरके पहले ही सप्ताहमें, शर्माजीको अचानक शूल हुआ; किन्तु आपने किसीसे इसकी चर्चा नहीं की। बड़े दिनकी छुट्टीमें आप परिवारके साथ 'पुरी' गये। वहाँसे लौटनेपर आपको नित्य ज्वर आने लगा। आप हरिद्वार चले गये। फिर काशी आये। यहीं तीसरी अप्रेल १९२९ बुधवारके तीन बजे दिनमें वह प्राच्य साहित्यका प्रचण्ड सूर्य असमयमें ही अस्त हो गया—संस्कृत संसारमें साहित्य-सरोवरके सलिल-शाली सरोजके समस्त सुमन संकुचित हो गये।

* × *

आप साहित्यमें पण्डितराज जगन्नाथके

समान, व्याकरणमें बालशास्त्रीके समान, न्यायमें गदाधरके समान, वेदान्तमें शंकरके समान, ज्योतिषमें भृगु मुनिके समान, धर्मशास्त्रमें हारीतके समान, पुरातत्त्वान्वेषणमें डाक्टर भाण्डारकरके समान, वाद-विवादकी तस्वोक्तियोंमें डा० जानसनके समान, मनस्वितामें शिवाजीके समान शिक्षा-शिक्षणमें शुकदेवके समान, स्मरणशक्तिकी प्रबलतामें मेकालेके समान, गद्य-लेखन-शैलीमें बाणभट्टके सामान, सामाजिक क्रान्तिमें लूथरके समान, धार्मिक परिवर्तनमें गुरु नानकके समान विज्ञान-महत्ता-प्रतिपादनमें बेकनके समान, वेदार्थमें यास्क और सायणाचार्यके समान, जात्यभिमानमें स्वर्गीय तिलकके समान, विधवा विवाहसमर्थनमें ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा महात्मा गांधीके समान, पुनर्जन्म-खण्डनमें चार्वाकके समान, कविता करनेमें दुःखभञ्जन कविके समान और दयालुतामें गोखलेके समान थे।+

दो बौद्धाचार्य

त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन

१—आचार्य शान्तरक्षित

मगध देशकी पूर्व सीमाका प्रदेश (मुंगेर, भागलपुरके जिले) पाली और संस्कृतग्रन्थोंमें अङ्गके नामसे प्रसिद्ध था। इसी प्रदेशका पूर्वी भाग मध्य कालमें सहोरके नामसे प्रसिद्ध था। भोटिया लोग सहोरको जहोर लिखते और बोलते हैं। सहोरका दूसरा नाम भोटिया-ग्रन्थोंमें भंगल या भगल भी मिलता है। इस भगल नामकी छाया आज भी इस प्रदेशके प्रधान नगर भागलपुरमें पायी जाती है। इसी प्रदेशमें गङ्गातटकी एक छोटी पहाड़ीके पास पालवंशीय राजा (देवपाल ८००—८३७ ई०) ने एक विहार बनवाया, जो पासकी नगरी विक्रमपुरीके कारण विक्रमशिला× के नामसे प्रसिद्ध हुआ। यह विहार विक्रमपुरीके समीप उत्तर तरफ़ था। विक्रमपुरीके दूसरे नाम भागलपुर तथा विक्रमपुर भी भोटिया ग्रन्थोंमें मिलते हैं। विक्रमपुरी एक माण्डलिक राजवंशकी राजधानी थी, जिसे भोटिया-ग्रन्थकार लाखों घरोंकी बस्ती बतलाते हैं। अस्तु इसी राजवंशमें, जिसने भोटके दूसरे महान् धर्म-प्रचारक दीपंकर श्रीज्ञान या अतिशा (जन्म ९८२, मृत्यु १०५४ ई०) को जन्म दिया, सातवीं शताब्दीके मध्यमें (अन्त सन् ७४७ ई०) आचार्य शान्तरक्षितका जन्म हुआ था।

+ प० सत्यानन्द पाठक और बाबू रासबिहारीराय शर्माके लेखोंसे सङ्कलित।—लेखक

× भागलपुर जिलेका सुलतानगंज ही विक्रमशिला प्रतीत होता है।—लेखक

उस समय नालंदामें वज्रयान या तन्त्रयानका अच्छा प्रचार था। शान्तरक्षितने घर छोड़ वहीं आचार्य ज्ञानगर्भके पास (अन्दाजन ७७२ ई० में) मूलसर्वास्तिवाद-विनयके अनुसार प्रव्रज्या और उपसंपदा ग्रहण की। इसी समय इनका नाम शान्तरक्षित पड़ा। नालन्दामें अपने गुरुके पास ही शान्तरक्षितने साङ्गोपाङ्ग त्रिपिटकका अध्ययन किया। त्रिपिटककी समाप्तिके बाद बोधिसत्व-मार्गीय (माहयानिक) ग्रन्थ अभिसमयालङ्कार आदिके पढ़नेके लिये आचार्य विनयसेनके पास उपनीत हुए, जिनसे इन्होंने महायान-मार्गीय विस्तृत और गम्भीर दोनों क्रमोंके अध्ययनके साथ आर्य नागार्जुन*के माध्य-



नागार्जुन

मिक सिद्धान्तका भी अध्ययन किया। पीछे इसीपर इन्होंने मध्यमकालङ्कार नामक अपना ग्रन्थ, टीका सहित, लिखा।

विद्या-समाप्तिके बाद शान्तरक्षितने नालन्दामें ही अध्यापनका कार्य शुरू किया। उनके शिष्योंमें हरिभद्र और कमलशील थे, जो दोनों ही यशस्वी लेखक हुए हैं। इन दोनोंके कितने ही ग्रन्थ संस्कृतमें नष्ट हो जानेपर भी तंग्यूरमें, भोटिया अनुवादके रूपमें, मिलते हैं। आचार्य शान्तरक्षितने अनेक ग्रन्थ बनाये, जिनमें दर्शन-सम्बन्धी सात ग्रन्थ तंग्यूरमें अब भी मिलते हैं।

इनके अतिरिक्त आचार्यने तन्त्रपर भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु आज कल मूल संस्कृतमें उनके दो ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, तत्त्वसंग्रह-कारिका और ज्ञानसिद्धि। पहला अभी कुछ दिन पूर्व गायकवाड़ प्राच्य मालामें प्रकाशित हुआ है और दूसरा भी वहीं छप रहा है।

ये सब काम आचार्य शान्तरक्षितके भारतमें रहनेके वक्तके हैं। अब हम उनके जीवनके उस अंशको देखेंगे, जो उन्होंने भोटमें धर्म-प्रचार करते समय बिताया। भोट-सम्राट् स्रोङ्-चन्-सोम-पोका पाँचवाँ उत्तराधिकारी ख्रि-स्रोङ् ल्दे व्चन (ठि-सोङ् देचन् ८०२–४५ ई०) हुआ। यह अभी बालक ही था, तभी इसका पिता ख्रि-ल्दे-चुग्-ब्र्तन् (७३०,८०२) स्वर्गवासी हुआ और उसे अपने बापका सिंहासन मिला। भोट-देशमें बौद्ध धर्मके लिये यही धर्माशोक हुआ। इसकी प्रवृत्ति स्वभावतः धर्मकी ओर थी। उस समय भोट राजवंशका चीन राजवंशसे घनिष्ठ वैवाहिक सम्बन्ध था। ल्हासामें उस समय बहुतसे चीनी बौद्ध भिक्षु थे; किन्तु उसकी उनसे तृप्ति न हुई। धर्मग्रन्थ और धर्मके जानकार किसी आचार्यको लानेके लिये भारत आदमी भेजे। पहले राजपुरुष वज्रासन (बुद्धगया) गये और वहाँ राजाकी ओरसे महाबोधिकी पूजा की, फिर वहाँसे नालन्दा पहुँचे। उन्हें वहाँ पता लगा कि आचार्य इस समय नेपालमें हैं। इसपर वे नेपाल पहुँचे और

*नागार्जुन दूसरी शताब्दी ई० के मध्यमें दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ़) में हुए थे। वे बहुत बड़े दार्शनिक और वैज्ञानिक थे। भारतीय दर्शन, वैद्यक आदिमें उन्होंने अनेक नये विचार चलाये। महायानके प्रवर्त्तक यही हैं।—लेखक

आचार्यके सामने भोट-राजकी भेंट रख राजाकी प्रार्थना कह सुनायी। आचार्यने प्रार्थना स्वीकृत की। इस प्रकार आचार्य शान्तरक्षित बड़े सत्कार-पूर्वक नेपालसे ल्हासा (अन्दाजन ८२१ ई० में) लाये गये। यहाँ आचार्यके उपदेशोंका बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा, विशेष कर तरुण राजा तो बहुत प्रभावित हुआ। तो भी कितने ही दरबारी तथा दूसरे लोग इनसे असन्तुष्ट थे। इसी समय देशमें कुछ बीमारियाँ तथा दूसरे उपद्रव हुए। विरोधियोंने यह कहना आरम्भ किया कि भोटके देवी-देवता और आचार्य इनकी शिक्षासे असन्तुष्ट हैं। इसपर आचार्य शान्तरक्षित नेपाल लौट गये।

उनके लौट जानेपर चीनके सङ्-शी प्रदेशके कितने ही बौद्ध विद्वान् ल्हासा पहुँचे। कुछ दिनों तक उनका प्रभाव भी राजापर अच्छा रहा। दरबारमें उनका बहुत सम्मान होने लगा। किन्तु कुछ ही दिनों बाद राजाको फिर वृद्ध भारतीय आचार्यको बुलानेकी इच्छा हुई। इस प्रकार राजा द्वारा निमन्त्रित होकर आचार्य शान्तरक्षित दूसरी बार (अन्दाजन ८२३ ई०) ल्हासा पहुँचे। भोट ऐतिहासिक लिखते हैं कि आचार्यको फिर देवी-देवताओंके प्रकोपका भय हुआ, उन्होंने राजाको उड़ीसाके राजवंशोत्पन्न आचार्य पद्मसम्भव * को बुलानेकी राय दी। कहा जाता है कि पद्मसम्भवने मन्त्र-बलसे भोटके सभी देवी-देवता, डाकिनी, योगिनी, सर्पिणी, यक्षिणी, भूत, प्रेत, वेताल आदिको परास्त कर उन्हें बौद्ध धर्मका सहायक होनेके लिये प्रतिज्ञाबद्ध कराया।

आचार्य शान्तरक्षितने राजा ख्रि-स्रोङ्-ल्दे ब्ज़नकी सहायतासे ल्हासासे दो दिनके रास्तेपर दक्षिणमें, ब्रह्मपुत्रके तटपर ब्सम् यस् (सम-ये) का बिहार अग्नि-स्त्री-शश वर्ष (प्रभव नाम संवत्सर, ८२३ ई०) में बनवाना आरम्भ किया। १२ वर्षके बाद भूमि-स्त्री-शश वर्ष (प्रमाथी संवत्सर, ८३५ ई०,में वह बनकर तैयार हुआ। सम-येका विहार उड्डन्त-पुरीके विहारके नमूनेपर बना और इसमें १२ खंड (आँगनवाले) थे। भोट-देशका यही सबसे पुराना विहार है। विहारकी समाप्ति कर, तथा बौद्धधर्मका अच्छे प्रकार प्रचार कर लेनेके बाद भोटवासी कैसे भिक्षु बनते हैं, यह देखनेके लिये उन्होंने १२ मूल सर्वास्तिवादियोंको बुलाकर जल-मेष वर्ष (सुभानु संवत्सर, ८२७ ई०) में ये शेस् बङ्-पो (ज्ञानेन्द्र) आदि सात भोटियोंको भिक्षु बनाया।

आचार्य शान्तरक्षित और उनके भोटिया शिष्योंने कुछ संस्कृतग्रन्थोंका भोटिया-भाषामें अनुवाद भी किया था; किन्तु एकाध तन्त्र-ग्रन्थोंको छोड़ दूसरोंका पता नहीं मिलता। कहते हैं, अन्तिम समय आचार्यने अपने शिष्य ख्रि-स्रोङ्से कहा था—"भोटमें तीर्थिकों (अबौद्ध मतों)का प्राबल्य नहीं होगा, आपसमें ही विवाद शुरू होगा। उस समय

---

* पद्मसंभवकी उत्पत्ति भी कबीर साहबकी भाँति कमलसे बतलायी जाती है। उड़ीसाका विख्यात वज्रयानी राजा इन्द्रभूति तो सिर्फ उसका पालन करनेवाला था। यह धारणा, मालूम होती है, पद्मसम्भव नामके कारण हुई। कहते हैं, इसने सहोर-राजवंशमें शादी की थी और शान्तरक्षितका बहनोई था। भोटिया लोग पद्मसंभवको आल्हा और भर्तृहरिकी तरह अमर मानते हैं। —लेखक

तुम मेरे शिष्य कमलशीलको बुलाना। वह सब शान्त कर देगा।" आचार्य शान्तरक्षितकी अवस्था उस समय सौ वर्षके करीब थी। इसी समय (अन्दाजन८४७ ई० में)किसी दुर्घटनासे उन्होंने समूयेमें इस लोककी सुदीर्घ और यशस्विनी यात्राको समाप्त किया। आचार्य शान्तरक्षितका पवित्र शरीरावशेष आज भी समूयेके एक चैत्यमें वर्तमान है, जो पूर्वकालके भारतीय वृद्धोंके साहसका ज्वलन्त प्रमाण है। आचार्य शान्तरक्षितके दिवंगत होनेपर भिक्षुओं (ह्व-शङ्)ने फिर विवाद आरम्भ किया, जिससे राजाने आचार्य कमलशीलको निमन्त्रित किया और उन्होंने ल्हासामें शास्त्रार्थ कर विवादका अन्त किया।

बौद्ध धर्ममें चार दार्शनिक वाद हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक।

आचार्य शान्तरक्षितने यद्यपि माध्यमिक सिद्धान्तपर भी मध्यमकालंकार जैसा प्रौढ़ ग्रन्थ लिखा है, तथापि वे स्वयं विज्ञानवादी थे, यह उनके तत्त्वसंग्रहसे पता लगता है। आचार्य शान्तरक्षितको भोटिया जीवनी-लेखकोंने स्वपरतन्त्र-निष्णात लिखा है। यह बात उनके तत्त्वसंग्रहसे भी प्रकट होती है। यह अनमोल ग्रन्थ, जिसमें ग्रन्थकर्ताने अपने और अपनेसे पूर्व सभी दार्शनिकों की गम्भीर आलोचना की हैं, शान्तरक्षितके अगाध पाण्डित्यका अच्छा परिचायक है। इसमें ३६४६ कारिकाएँ या श्लोक तथा २६ अध्याय हैं। इसके अध्याय 'परीक्षा' कहे गये हैं। इसपर आचार्य कमलशीलकी सविस्तर पञ्जिका है।

२—आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान

भोट देशकी विद्वन्मंडलीमें जिन दो भारतीय आचार्योंका अधिक सम्मान है, वे शान्तरक्षित और दीपंकर श्रीज्ञान हैं। दीपंकरको तिब्बतमें अधिकतर अतिशा, जोवो (स्वामी) तथा जोवो-जे (स्वामी भट्टारक) कहते हैं। शान्तरक्षित और अतिशा दोनों ही सहोर प्रदेशके एक ही राजवंशमें उत्पन्न हुए थे। बङ्गदेशीय विद्वान् अतिशाको बङ्गवासी बतलाते हैं; किन्तु यह ठीक नहीं। सहोर बँगालमें नहीं बिहारमें है। सहोर वहीं है, जहाँ विक्रमशिला है। अभीतक किसीने विक्रमशिलाको बगालमें ले जाने का साहस नहीं किया फिर उसके दक्षिण 'नाति दूर' बसा नगर कैसे बँगालमें जा सकता है? महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषणने भागलपुर-जिलेके सुलतानगञ्जको विक्रमशिला निश्चित किया है, जो मुझे भी ठीक जँचता है।

मुसलमानोंके आगमनसे पूर्व विक्रमशिला-वाला प्रदेश (भागलपुर जिलेका दक्षिणी भाग) सहोर या भागल नामसे प्रसिद्ध था। सहोर मांडलिक राज्य था, जिसकी राजधानी वर्तमान कहलगाँव या इसके पास ही कहीं थी। दसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें राजा कल्याणश्री इसके शासक थे। उस समय बिहार-बङ्गालपर पालवंशकी विजयध्वजा फहरा रही थी। राजा कल्याणश्री भी उन्हींके अधीन थे। राजधानी विक्रमपुरी (भागलपुरी या भागलपुर) के 'काञ्चनध्वज' राजप्रासादमें रानी श्रीप्रभावतीने भोटिया जल-पुरुष-अश्व वर्ष (चित्रभानु संवत्सर, ६८२ ईस्वी) में एक पुत्र-रत्नको जन्म दिया, जो आगे चलकर अपने ऐतिहासिक दीपङ्कर श्रीज्ञान नामसे प्रसिद्ध हुआ। राजा कल्याणश्रीके तीन लड़कोंमें यह मँझला था। राजाने लड़कोंके नाम क्रमशः पद्मगर्भ, चन्द्रगर्भ और श्रीगर्भ रखे थे। थोड़े दिन बाद चन्द्रगर्भको रथमें बैठा पाँच सौ रथोंके साथ माता-पिता उन्हें 'उत्तर तरफ' 'नाति-

हुए विक्रमशिला विहारमें ले गये । लक्षणज्ञोंने बालकको देखकर अनेक प्रकारकी भविष्यद्वाणियाँ कीं । तीन वर्षकी आयुमें राजकुमार पढ़नेके लिये बैठाये गये; ग्यारह वर्षकी आयुमें उन्होंने लेख, व्याकरण और गणित आदि विषयोंको भली-भाँति पढ़ लिया ।

आरम्भिक अध्ययन समाप्त कर लेनेपर कुमार चन्द्रगर्भने भिक्षु बनकर निश्चिन्तता-पूर्वक विद्या पढ़नेका संकल्प किया । वे एक दिन घूमते हुए जङ्गलमें, एक पहाड़के पास, जा निकले । वहाँ उन्होंने सुना कि यहाँ एक कुटियामें महावैयाकरण महापण्डित जेतारि रहते हैं । राजकुमार उनके पास गये । उन्हें देखकर जेतारिने उन्हें नालंदा जानेका परामर्श दिया ।

राजकुमार नालन्दाके स्थविर बोधिभद्रके पास पहुँचे । अभी वे बारह वर्षसे भी कम उम्रके थे । बौद्ध-नियमानुसार वे श्रामणेर ही बन सकते थे, भिक्षु होनेके लिये २० वर्षसे ऊपरका होना अनिवार्य था । आचार्य बोधिभद्रने कुमारको श्रामणेर-दीक्षा दी और पीले कपड़ोंके साथ उनका नाम दीपंकर श्रीज्ञान रखा ।

उस समय आचार्य बोधिभद्रके गुरु अवधूतीपाद (दूसरे नाम अद्वयवज्र, अवधूतीपा, मैत्रीगुप्त और मैत्रीपा) राजगृहमें कालशिलाके दक्षिण ओर एकान्त-वास करते थे । वे एक बड़े पण्डित तथा सिद्ध थे । बोधिभद्र दीपंकरको आचार्य अवधूतीपाके पास ले गये और उनकी स्वीकृतिसे उन्हें पढ़नेके लिये वहीं छोड़ दिया । १२से १८ वर्षकी अवस्थातक दीपङ्कर राजगृहमें अवधूतीपादके पास पढ़ते रहे । इस समय उन्होंने शास्त्रोंका अच्छा अध्ययन किया ।

१८ वर्षकी अवस्था हो जानेपर दीपङ्कर मन्त्र-शास्त्रके विशेष अध्ययनके लिये अपने समयके बड़े तान्त्रिक, चौरासी सिद्धोंमें एक सिद्ध, विक्रमशिलाके उत्तर द्वारके द्वारपण्डित नारोपा (नाडपाद) के



नारोपा

पास पहुँचे तबसे २६ वर्षतक उन्हींके पास पढ़ते रहे । दीपङ्करके अतिरिक्त प्रज्ञारक्षित, कनकश्री तथा मनकश्री (माणिक्य) भी नारोपाके प्रधान शिष्य थे । तिब्बतके महासिद्ध महाकवि जेत्सुन् मिला-रेपाके गुरु मर-बा लोचवा भी नारोपाके ही शिष्य थे । नरोपा अपने समयके महान् सिद्ध थे ।

उस समय बुद्धगया महाविहारके प्रधान एक बड़े विद्वान् भिक्षु थे इनका नाम तो और था; किन्तु वज्रासन (बुद्धगया) में वासके कारण ये वज्रासनीय (दोर्जे-दन्-पा) के नामसे प्रसिद्ध थे । नारोपाके पास अध्ययन समाप्त कर दीपङ्कर वज्रासनके 'मतिविहार'-निवासी महास्थविर महाविनयधर शीलरक्षितके समीप पहुँचे और उन्हें गुरु बना उपसम्पदा (भिक्षुदीक्षा) प्राप्त की ।

३१ वर्षकी आयुमें दीपङ्कर तीनों पिटकों तथा तन्त्रके पण्डित हो चुके थे, तो भी उनकी ज्ञानपिपासा शान्त न हुई थी । उन्होंने सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) के आचार्य धर्मपालकी प्रसिद्धि सुनी थी । महा-

पण्डित रत्नाकर-शांति (शांतिपा, चौरासी सिद्धों



शान्तिपा

में एक) ज्ञानश्रीमित्र, रत्नकीर्ति आदि उनके शिष्यों-से वे मिले थे। अब उन्होंने सुवर्णद्वीपीय आचार्यके पास जाकर पढनेका निश्चय किया। तदनुसार बुद्ध गयासे विदा हो वे समुद्रतट पहुँचे और जहाजपर चढ़ अनेक विघ्न-बाधाओंके बाद १४ मास में सुवर्णद्वीप पहुँचे।

सुवर्णद्वीपके आचार्यके पास किसीका शीघ्र पहुँच जाना सहज बात नहीं थी; इसलिये दीपङ्कर एक वर्षतक एकांत जगहमें वास करते रहे। बीच-बीचमें कोई-कोई भिक्षु उनके पास आया जाया करते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे उनकी विद्वत्ताका पता लोगोंको लग गया; और. अन्तमें विना किसी रुकावटके सुवर्णद्वीपीय आचार्यके शिष्योंमें वे दाखिल हो गये। आचार्य धर्मपालके पास उन्होंने १२ वर्षतक विद्याध्ययन किया। यहाँ विशेष करके उन्होंने दर्शन-ग्रन्थ पढ़े। 'अभिसमयालङ्कार' बोधि चर्य्यावतारको समाप्त कर उन्होंने दूसरे गम्भीर ग्रन्थ पढ़े।

अध्ययन समाप्तिपर रत्नद्वीप तथा दूसरे पासके देशोंको देखते हुए दीपङ्कर फिर भारत लौट आये और विक्रमशिला विहारमें रहने लगे। विशेष योग्यताके कारण वे यहाँ ५१ पण्डितोंके ऊपर १०८ देवालयोंके तत्त्वावधायक बना दिये गये। उनके आचार्योंमें तन्त्र रहस्य बतलानेवाले सिद्ध डोम्बी भी थे। भूतिकोटिपाद, प्रज्ञाभद्र तथा रत्ना-



डोम्बीपा

करशांति (शांतिपा) से भी उन्होंने पढ़ा था। उनके गुरु अवधूतिपा सिद्धाचार्य डमरूपाके शिष्य थे, जो महान् सिद्ध तथा महाकवि कण्हपा (कृष्णाचार्यपाद, सिद्धाचार्य जलंधरीपाके शिष्य) के शिष्य थे। कण्हपा तथा उनके गुरु जलंधरीपा ८४ सिद्धोंमें अपना खास स्थान रखते हैं। कण्हपा अपने समयके हिन्दीके एक उच्च कोटिके छाया-वादी (सन्ध्यावादी) कवि थे।

× × ×

राजा येशे-ओ (ज्ञानप्रभ) ने देखा कि तिब्बतमें बौद्धधर्म शिथिल होता जा रहा है, लोग धर्मतत्त्वको भूलते जा रहे हैं इन्होंने अनुभव किया कि अगर कोई सुधार न किया गया, तो पूर्वजों द्वारा प्रज्वलित यह सुखद प्रदीप बुझ जायगा। यह सोच रत्नभद्र (रीन्छेन सङ्पो, पीछे लो-छन-रिम्पोछे) प्रभृति २१ होनहार भोटिया बालकोंको दस वर्षतक देशमें अच्छी शिक्षा

दिलाकर विद्याध्ययनके लिये काश्मीर भेज दिया। वहाँ पहुँचकर वे सब पण्डित रत्नवज्रके पास पढ़ते रहे। किन्तु अब उन २१ में से सिर्फ दो—रत्नभद्र तथा सुप्रज्ञ (लेग्-पोशे-रब्) जीते लौट कर आये, तब राजाको बड़ा खेद और निराशा हुई। फिर भी राजाने हिम्मत न हारी। उन्होंने सोचा, भारत जैसे गर्म देशमें ठंढे देशके आदमियोंका जीना मुश्किल है; इस लिये किसी अच्छे पण्डितको ही भारतसे यहाँ बुलाना चाहिये। उस वक्त उन्हें यह भी मालूम हुआ कि इस समय विक्रमशिला-महाविहारमें दीपङ्कर श्रीज्ञान नामक एक महापण्डित हैं। यदि वे भोट-देशमें आ जायँ, तो सुधार हो सकता है। इसपर बहुत-सा सोना देकर कुछ आदमियोंको विक्रमशिला भेजा। वे लोग वहाँ पहुँचकर दीपङ्करकी सेवामें उपस्थित हुए, किन्तु उन्होंने भोट जाना अस्वीकार कर दिया।

भोट-राज येशे-ओ फिर भी हताश न हुए। उन्होंने अबकी बार बहुत-सा सोना जमाकर किसी पण्डितको भारतसे लानेके लिये आदमियोंको फिर भेजनेका निश्चय किया। उस समय उनके खजानेमें पर्याप्त सोना न था; इसलिये सोना एकत्र करनेके लिये वे आदमियों-सहित सीमान्त स्थानमें गये। वहाँ उनके पड़ोसी गर-लोग देशके राजाने उन्हें पकड़ लिया। गरलोग देशके राजा उन्हें पर्याप्त परिमाणमें सोना लेकर छोड़ना चाहता था; किन्तु येशे-ओने अपने पुत्रको बुलाकर समझा दिया कि अब मैं वृद्ध हो चला। मुझे छुड़ानेके बदले तुम भारतसे किसी पण्डितको बुलाओ। पिताकी आज्ञासे ल्हा-लामा चङ्-छुप-ओने गुङ्-थङ्-पाको बहुतसा सोना देकर भारत भेजा। तिब्बती भिक्षु-ग्य-चोन्-सेङसे पहले-पहल गुङ्-थङ्-पाकी भेंट हुई।

गुङ्-थङ्-पाके आनेके कुछ दिनोंके बाद पण्डितोंकी सभा होने वाली थी। ग्य-चोन् उसे पण्डितोंके दर्शन करानेके लिये ले गया। वहाँ उसने विक्रमशिलाके महापण्डितों तथा अतिशा (दीपङ्कर)के नीचेके रत्न-कीर्ति, तथागतरक्षित, सुमतिकीर्ति, वैरोचनरक्षित, कनकश्री आदि पण्डितोंको देखा। उसी समय उसे मालूम हो गया कि यहाँकी पण्डितमण्डलीमें अतिशाका कितना सम्मान है।

इसके कुछ दिन बाद एकान्त पा ग्य-चोन् उसे अतिशाके निवासपर ले गया। उसने अतिशाको प्रणाम कर सारा सुवर्ण रख दिया और भोट-राज येशे-ओके बन्दी होनेकी बात तथा उनकी अन्तिम कामना कह सुनायी। दीपङ्कर इससे बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने कहा—'निस्सन्देह भोट-राज येशे-ओ बोधिसत्व थे; मैं उनकी कामना-भङ्ग नहीं कर सकता; किन्तु तुम जानते हो, मेरे ऊपर १०८ देवालयोंके प्रबन्धका भार तथा दूसरे बहुतसे काम हैं; इनसे छुट्टी लेनेमें १८ मास लगेंगे, फिर मैं चल सकूँगा। अभी यह सोना अपने पास ही रखो।'

बहुत कठिनतासे संघस्थविर (रत्नाकर) से जानेकी अनुमति अतिशाको मिली। अतिशाने सोना मँगाया। उसमेंसे एक चौथाई पण्डितोंके लिये, दूसरी चौथाई वज्रासन [बुद्धगया] में पूजाके लिये, तीसरी रत्नाकरपादके हाथमें विक्रमशिला-संघके लिये और शेष चौथाई राजाको दूसरे धार्मिक कृत्योंके लिये बाँट दिया। फिर अपने आदमियोंको कुछ भोट-जनोंके साथ पुस्तकें तथा दूसरी आवश्यक चीजें दे नेपालकी ओर भेज दिया। और आप अपने तथा लोचवा [तिब्बती दुभाषिया] के आदमियोंके साथ—कुल बारह जन

बुद्धगयाकी ओर चले।

भारत-सीमा पार हो अतिशाकी मण्डली नेपाल-राज्यमें प्रविष्ट हुई। धीरे-धीरे वह राजधानीमें पहुँची। राजाने बहुत सम्मानके साथ उसको अपना अतिथि बनाया। उसने अपने देशमें रहनेके लिये बहुत आग्रह किया। इसी आग्रहसे अतिशाको एक वर्ष नेपालमें रह जाना पड़ा।

नेपालसे प्रस्थान कर जिस वक्त दीपङ्कर अपने अनुचरों सहित थुङ्—विहारमें पहुँचे, भिक्षु ग्य-चोन्-सेङ्की बीमारीसे उन्हें वहाँ ठहरना पड़ा। बहुत उपाय करनेपर भी ग्य-चोन् न बच सके।

भोट-निवासी साधारण गृहस्थ भी इस भारतीय महापण्डितके दर्शनके लिये लालायित थे। इस प्रकार भोट-जनोंको धर्म—मार्ग बतलाते हुए आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान जल-पुरुष-अश्व-वर्ष (चित्रभानु संवत्सर, १०४२ ई०)में, ६१ वर्षकी अवस्थामें, ङरी (पश्चिमी तिब्बत) में पहुँचे। राजधानी थोलिङ् में पहुँचनेसे पूर्व ही राजा अगवानीके लिये आया। बड़ी स्तुति और सत्कारके साथ उन्हें वह थोलिङ्-विहारमें ले गया। इसके बाद आचार्य दीपङ्कर ६ मास इसी विहारमें रहे। इस वक्त उन्होंने धर्मोपदेशके अतिरिक्त कई ग्रन्थोंके अनुवाद तथा रचनाका काम किया। यहीं उन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बोधिपथप्रदीप' लिखा था।

ङरी प्रदेशके तीन वर्षके निवासकालमें दीपङ्करने कितने ही अन्य ग्रन्थ लिखे और अनुवाद किये। द्रुमपुरुषवानर-वर्ष (हेमलम्ब १०४४ ई०) में वे पुरङ् पहुँचे। यहीं अतिशाका प्रिय गृहस्थ शिष्य डोम्-तोन् उनके पास पहुँचा। तबसे मरण-पर्यन्त छायाकी भाँति वह अपने गुरुके साथ रहा और मरनेके बाद 'गुरु-गुणधर्माकर' नामक अतिशा की जीवनी लिखी। भोटमें बीच बीचमें ठहरते हुए भी आचार्य बराबर विचरते ही रहे। उनका ग्रन्थप्रणयन तथा अनुवादका काम बराबर जारी रहा। अग्नि-पुरुष-शूकर-वर्ष (सर्वजित, १०४७ ई०) में समये तथा लोहा-पुरुष-व्याघ्र-वर्ष (विकृत, १०५० ई०) में वे येरवा गये। अपने चौदह वर्षके भोटनिवासमें प्रथम यात्राके अतिरिक्त वे तीन वर्ष ङरीप्रदेशमें, चार वर्ष उइ और चाङ्-प्रदेशमें, एवं ६ वर्ष ञेथाङ्में रहे। द्रुमपुरुषअश्व—वर्ष (जय, १०५४ ई०) के भोटिया नवें मासकी अठारहवीं तिथि (कार्तिक-अगहन-कृष्ण ३, ४) को ञेथाङ्के तारामन्दिरमें ७३ वर्षकी अवस्थामें इन महापुरुषने अपना नश्वर शरीर छोड़ा। डोम्-तोम् इस समय इनके पास था। ल्हासासे लौटते वक्त २५ अप्रेल १६३० को मैं इस पवित्र स्थानपर गया। अतिशाके समयसे अबतक बहुत ही कम इस मन्दिरमें परिवर्तन हुआ है। इस बातका साक्ष्य उसके जर्जर विशाल रक्त-चन्दन स्तम्भ ही दे रहे है। अब भी वहाँ दीपङ्करका भिक्षापात्र, धर्मकरक [कमण्डलु] तथा खदिरदंड, राजमुद्रालांछित एक पिंजड़ेमें सुरक्षित रखे हैं और बतला रहे हैं कि अभी कलतक भारतकी बूढ़ी हड्डियोंमें कितना साहस था!

आचार्य दीपंकरकी कृतियाँ मूल संस्कृत तथा मातृभाषामें लुप्त हो चुकी हैं। यद्यपि उनके अनुवाद अब भी तिब्बती तंज्यूर संग्रहमें सुरक्षित हैं। धर्म तथा दर्शनपर उन्होंने ३५ से ऊपर ग्रन्थ लिखे हैं। उनके तान्त्रिक ग्रन्थोंकी संख्या सत्तरसे अधिक है। इनमें देवता-साधनके कितने ही बहुत छोटे-छोटे निबन्ध है। कंज्यूर संग्रहमें ही भिन्न-भिन्न लोचवों (दुभाषियों) की सहायतासे उनके ६ ग्रन्थ अनूदित हैं। तंज्यूरके सूत्रविभागमें उनके अनुवाद किये हुए २१ ग्रन्थ हैं और तन्त्र-विभागमें इनकी संख्या ३० से ऊपर हैं।

सर चार्ल्स डारविन

विद्यालङ्कार ठाकुर शिरोमणिसिंह चौहान एम० एस-सी०, विशारद



सर चार्ल्स डारविन

जीव-विज्ञानके (Biology) जानकारोंमें ऐसा कौन होगा, जिसने विश्व-विख्यात सर चार्ल्स डारविनका नाम न सुना हो? वैज्ञानिक संसारमें डारविनका एक विशेष स्थान है। इनकी इस ख्यातिका मूल कारण 'मनुष्यके पूर्वजों' के विषयमें इनका अनुपम मत है। इस सम्बन्धमें इनका मत कोरी कल्पना न होकर ठोस और प्रामाणिक आधारोंपर निर्भर है।

डारविन साहबका जन्म इंग्लैंडके शिरूसबरी नामक छोटेसे शहरमें, १२ फरवरी सन् १८०९ ई० को, हुआ था। इनके पिता राबर्ट डारविन एक प्रतिष्ठित और सुविख्यात चिकित्सक थे। उनके विषयमें डारविनने लिखा है कि उनसे अधिक प्रज्ञावान् पुरुष उन्होंने कभी नहीं देखा। डारविन की माताका नाम सुसला था। वे जोशिया वेज-उडकी सबसे बड़ी पुत्री थीं। जोशिया वेजउडकी गणना अपने समयके अतीव प्रतिभाशाली और योग्य पुरुषोंमें की जाती थी।

शास्त्रकारोंके "आत्मा वै जायते पुत्रः" वचनानुसार पुत्र पिताकी आत्मा होता है; किन्तु डारविन साहबके जीवन-चरितके सूक्ष्म एवं गम्भीर विवेचनसे ज्ञात होता है कि उनके जीवनपर पिताकी अपेक्षा पितामहकी अधिक छाप है।* उन्हें विज्ञानका चसका तथा जीवन-सम्बन्धी गूढ़ रहस्योंको जानने की उत्कट लालसा अपने पितामहसे, विरासत रूप में, प्राप्त हुई थी इनके पितामह अपने समकालीन वैज्ञानिकोंमें जीव-जन्तुओंके विषयमें खोज करने और लिखनेवालोंमें अति प्रसिद्ध थे। पितामहका

* शास्त्रके उपर्युक्त सूक्ष्म सिद्धान्तको मानते हुए प्रो० हक्सले कहते हैं कि आचरण पीढ़ी या दरपीढ़ीके बाद किसी-न-किसी रूपमें अंकुरित होता रहता है। यदि किसी कारण-विशेषसे किसी आचरणका प्रदर्शन सन्तानमें न हुआ, तो इससे यह न समझना चाहिये कि उसका बीज ही नष्ट हो गया। बहुधा देखा गया है कि मनुष्यका गुण यदि उसके पुत्रमें न प्रकाशित हुआ और किसी कारणसे 'लायक बापके नालायक बेटा' उत्पन्न हुआ, तो उसके पौत्र अथवा प्रपौत्रमें वह आचरण विशेष रूपसे प्रकाशित हुआ है। 'कीचड़से कमल' अथवा 'दीपकसे कालिख'को उदाहरण समझना चाहिये।
—लेखक

जितना अधिक प्रेम जीव-जन्तुओंके साथ था, वही प्रेम पोतेमें विशाल रूपसे अंकुरित हुआ। इरासमस डारविन (सर चार्ल्स डारविनके पितामह)ने अपनी कवितामें कहीं-कहीं विकास-वादका भी उल्लेख किया है; किन्तु कविता आखिर कविता ही होती है। उसमें जिन वैज्ञानिक सिद्धान्तोंका समावेश होता था, वे प्राकृतिक घटनाओं और तथ्योंके अवलोकन तथा अध्ययनके आधारपर नहीं होते थे; उनमें कोरी कल्पनाकी ही भरमार रहती थी। इसी कारण वैज्ञानिक संसारमें उनकी अधिक ख्याति न हुई।

अपने चारो भाई बहनोंमें हमारे चरित-नायक सबसे छोटे थे। जब ये आठ वर्षके थे, तभी इनकी माताका स्वर्गवास हो गया था। उसी साल गाँवकी पाठशालामें इनका विद्यारम्भ भी करा दिया गया। इनके ज्येष्ठ भ्राताकी अभिरुचि तो साहित्य और कलामें बहुत चढ़ी-बढ़ी थी; किन्तु इनका मन उन विषयोंमें तनिक भी न लगता था। ये खेल कूद और शिकारमें अधिकांश समय बिताते थे। कभी निकटवर्ती जंगलोंमें घूम-घूमकर नन्हें-नन्हें जीव-जन्तुओंको पकड़ते हुए दिखाई देते थे, तो कभी उनके रहन-सहन और रंग-रूपकी विचित्रताको बैठे-बैठे घंटों ध्यानपूर्वक निरखते हुए पाये जाते थे। पढ़नेमें इनका जी नहीं लगता था। इनके गुरुजन इन्हें एक साधारण बल्कि मन्दबुद्धि विद्यार्थी समझते थे इस पाठशालामें ये लगभग एक वर्षतक पढ़ते रहे। उसके बाद सन् १८१८ ई० में इनके पिताने इनका प्रवेश डा० बटलरके स्कूलमें करा दिया। डा० बटलरके स्कूलकी चर्चा करते हुए डारविन साहबने स्वयं लिखा है—"उस स्कूलमें भर्ती होनेसे पहले ही मेरी प्राकृतिक विज्ञानके अध्ययन और वस्तुओंके संग्रह करनेकी रुचि बहुत बढ़ गयी थी। मैं पौधोंके नाम जान लेनेका बड़ा यत्न करता था और नाना-भाँतिके पदार्थों—कौड़ी, सिक्के, खनिज आदि—का संग्रह किया करता था। संग्रह करनेकी प्रबल इच्छा मेरे अंदर भी विकसित रूपमें मौजूद थी। यह गुण मेरा निजका था; क्योंकि मेरे अन्य भाई-बहनोंमें इस भाँतिकी वृत्ति लेशमात्र भी न थी।" डा० बटलरके स्कूलमें ये निरन्तर सात-वर्षों तक पढ़ते रहे; किन्तु पढ़ाई-लिखाईमें इनके रंग-ढंग जैसे-के-तैसे रहे।

जब इनकी अवस्था सोलह वर्षोंकी हुई, तब इनके पिताने इन्हें डाक्टरीका काम सीखनेके लिये एडिनबरा भेज दिया। डारविन जैसे कोमल स्वभाव वाले पुरुषका मन भला चीड़-फाड़के कामोंमें कैसे लग सकता था? उस समय क्लोरोफार्मका आविष्कार भी नहीं हुआ था, अतः उस समयके चीड़-फाड़के काम एवं दृश्य आज-कलकी अपेक्षा कहीं अधिक भयानक और यातनामय होते थे। इसके अतिरिक्त इन्हें चित्र खींचना भी न आता था। इन बातोंका परिणाम यह हुआ कि डारविन यहाँ भी अपने पिताके मनोरथको पूरा न कर सके। अपने दर्जेसे भागकर कभी ये भू-गर्भ विज्ञानके दर्जेमें जा बैठते थे, तो कभी वनस्पति-शास्त्रके दर्जेमें। यहींपर पहले पहल इनका सर चार्ल्स लायलसे परिचय हुआ था।

इनके पिताने जब यह देखा कि इनका मन डाक्टरीकी पढ़ाईमें भी नहीं लगता है, तब वहाँसे हटाकर पादड़ी बनानेके लिये इन्हें क्राइस्ट चर्च कालेज, कैम्ब्रिज, में भर्ती कराया। यहाँपर कैम्ब्रिजके प्रोफेसर हैन्सलोसे इनका परिचय हो गया। उनसे डारविनने वनस्पति-विज्ञानका अध्ययन

किया। उनके सहवास और उत्साह-वर्द्धनसे वैज्ञानिक अध्ययनकी ओर डारविनका चित्त अधिकाधिक आकर्षित होने लगा। सच तो यह है कि डारविनके भावी जीवनपर प्रोफेसर साहबकी मित्रताका घोर प्रभाव पड़ा। उन्हींकी प्रेरणासे इन्होंने भूगर्भ-शास्त्रका भी थोड़ा-बहुत अध्ययन किया।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं कि डारविन साहब पढ़ने लिखनेमें न तो उतने तीव्र ही थे और न स्कूली पढ़ाईमें उनका जी ही लगता था। उनका हृदय तो प्राकृतिक विषयोंके निरीक्षण एवम् मनन और देशाटनमें लगता था। थोड़े ही दिनोंमें परमात्माने उन्हें मनोनुकूल कार्य भी भेज दिया। ग्रेजुएट होनेके अनन्तर उन्हें 'बीगल' नामक जहाजपर, अवैतानिक प्रकृतिवेत्ताकी हैसियतसे, 'संसार-भ्रमण'का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस भ्रमणका उद्देश्य यह था कि कुछ विशेषज्ञ देश-देशान्तरोंमें जाकर वहाँकी नवीन बातोंकी छानबीन करें। 'बीगल' यात्रा २७ दिसंबर सन् १८३१ ई० को आरम्भ हुई और लगभग पाँच वर्षोंके बाद २१ अक्तूबर सन् १८३६ को समाप्त हुई। डारविन साहबके जीवनमें 'बीगल' की पञ्चवर्षीय यात्रा चिरस्मरणीय हो गयी। इस यात्रासे पहले डारविन एक साधारण पुरुष समझे जाते थे, किन्तु यात्राके समयमें ही उनकी ख्यातिमें अद्भुत वृद्धि हुई। यात्रासे वापस आनेपर उनकी परिगणना इंग्लैंडके वैज्ञानिकोंमें की जाने लगी।

'बीगल' यात्रामें उन्होंने अनेकों द्वीपोंका प्राकृतिक निरीक्षण किया। जो बात उनकी समझमें महत्त्वपूर्ण जँची, उसका वे सचित्र संग्रह करते गये यही नहीं, विविध प्रकारके पौधों और जीव-जन्तुओंका भी उन्होंने अच्छा संग्रह किया। स्वदेश आनेपर अपनी यात्राका वृत्तान्त 'प्रकृतिवेत्ताकी पृथ्वी-प्रदक्षिणा' (A Naturalists Voyage around the world) नामक पुस्तकमें उन्होंने बड़े मनोरंजक ढंगसे लिखा। इससे ज्ञात होता है कि वे जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँके जीव-जन्तु, वृक्ष, चट्टान एवम् उनकी रचना और गठनका सम्यक् रूपसे अनुशीलन और अध्ययन किया। इसी यात्रामें उन्होंने अपने शेष जीवनको जन्तु-शास्त्र-विषयक सत्यकी खोजमें लगानेका संकल्प किया। किन्तु साथ-ही-साथ इसी यात्रामें उनका स्वास्थ्य भी बिगड़ गया और उस रोगका सूत्रपात हुआ, जिससे फिर उन्हें आमरण छुटकारा न मिला सका। रोगके कारण वे अधिक समयतक निरन्तर कार्य करनेके सर्वथा अयोग्य हो गये। अस्वस्थताके ही कारण थोड़े दिन बाद उन्हें विवश हो लोक-सेवासे हाथ खींचकर विश्राम लेना पड़ा। वे लन्दनसे अलग एक स्थान पर एकान्तवास करने लगे। एकान्तवास होनेके कारण उनका वातावरण अत्यन्त शान्तिपूर्ण रहने लगा और अपनी रुचिके कामोंके सम्पादनार्थ समय भी खूब मिलने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि वहाँपर वैज्ञानिक कार्य पहलेकी अपेक्षा वे अधिक कर सके।

यात्रा-सम्बन्धी अनुसन्धानोंके फलोंको नियमित रूप देनेके अभिप्रायसे डारविन साहबने पुस्तकोंका लिखना आरम्भ किया। "बीगलका जीव-विज्ञान", "विद्रुम-भित्तियोंका निर्माण," "दक्षिणी अमेरिका और ज्वालामुखी द्वीपोंका भौगर्भिक परीक्षण" आदि पुस्तकें इसी यात्राके अनुभवोंका संग्रह मात्र कही जा सकती हैं। सन् १८३८ ई० में वे भू-गर्भ सभा (Geological Society) के मंत्री चुने गये और उस पदपर उन्होंने सन

१८४१ ई० तक बड़ी लगनसे काम, किया, उन्हीं दिनोंमें उनकी मैत्री हुकर साहबसे हो गयी।

सन् १८३९ ई०में उन्होंने अपना विवाह अपने मामाकी पुत्री, एमा वेजउडसे, किया। उनकी धर्म-पत्नी बड़ी ही पतिपरायणा थी। पतिकी अस्वस्थ-तामें उनकी देख-रेख एवं यथोचित उपचारमें वे सदा व्यस्त रहा करती थीं। सच तो यह है कि यदि श्रीमती एमा वेजउड अपने अस्वस्थ पतिकी इतनी सेवा शुश्रूषा न करती, तो डारविन इतना महत्त्व-पूर्ण काम न कर पाते और न जगत्में उनकी इतनी ख्याति ही हो पाती।

सन् १८३८ ई० में उन्होंने "माल्थस आन पपु-लेशन" नामका लेख पढ़ा। इसके अध्ययन और मननसे वे इस निकर्षपर पहुँचे कि जीवन सग्रामके परिणाम स्वरूप ही प्राकृतिक चुनाव हुआ करता है। एक स्थानपर उन्होनें स्वयं लिखा है—'सन् १८३८ ई०में जब मैं 'माल्थस आन पपुलेशन" नामक पुस्तक पढ़ रहा था, उस समय मेरे मनमें नाना प्रकारके भावोंका उदय हुआ करता था। किन्तु बहुत दिनोंतक अपने धर्म और स्वदेश-वासियोंके विचारसे अपने उद्गारोंको प्रकट न कर सका। पर अन्तमें सन् १८४२ ई० मे मैने अपने विचारोंको पैंतीस पृष्ठोंके एक लेखमें लिखा। तत्पश्चात् सन् १८४४ ई० में उन्हीं विचारोंको पल्लवित करके दो सौ तीस पृष्ठोंकी एक पुस्तक लिखी।"

इस पुस्कमें उन्होंने अपने सिद्धान्त—"विका-सवाद"की तीनों बातोंका निरूपण किया हैं। पहली बात यह कि सृष्टिमें कोई भी प्राणी—चाहे वे सगे भाई ही क्यों न हों—बिलकुल एक-से नहीं होते हैं; उनके रूप—रंग और आकार-प्रकारमें कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य होता है। दूसरी बात यह कि संसारमें जितने जीव-जन्तुओंके निवासके लिये स्थान हैं एवं उनके भरण-पोषणके हेतु जितनी खाद्य-सामग्री उत्पन्न होती हैं, उससे कहीं अधिक! वे पैदा होते हैं। इस कारण आत्म-रक्षा एवं उदर पूर्तिके हेतु उन सबमें हरदम, परस्पर जीवन-संग्राम छिड़ा रहता हैं। तीसरी बात यह कि इस जीवन-संग्राममें विजय उसीकी होती है, जो अपने कौशल अथवा बुद्धिबल द्वारा दूसरोंकी अपेक्षा अपनेको आस-पासकी परिस्थितिके अधिक अनुकूल बना लेता; देशके अनुकूल अपना भेष कर लेता। प्रकृति उन्हींको चुन लेती है और उनका अस्तित्व कायम रखती है। निकम्मों और अयोग्योंकी पराजय होती है। समयकी दौड़में एक-न-एक दिन उनका नामो-निशान मिट जाता है।

डारविनने यह विकास-सिद्धान्त तो निकाला; पर वैज्ञानिकोंके सम्मुख उसका नियमतः प्रकाशन बहुत दिनोंतक न किया। सन् १८५६ ई० में उन्होंने अपने सिद्धान्तको सांगोपाङ्ग लिखना आरम्भ किया। सन् १८५८ ई० में आल्फ्रेड रसेल वैलेसने उनके पास एक लेख भेजा, जिसमें डारविनके मतके अनुरूप ही विकास-क्रमका प्रधान हेतु प्राकृतिक-चुनाव ही माना गया था। संयोगवश इस निष्कर्ष पर पहुँचनेकी प्रेरणा उन्हें भी माल्थस साहबके उक्त लेखके पठन-पाठनसे हुई थी। वैलेसके इस लेखसे डारविन बड़ा प्रसन्न हुआ। कुछ तो मित्र-ताके नाते और कुछ लेखकी उत्कर्षताके कारण डारविनने यह निश्चय किया कि वह अगाध श्रम और लगनसे निकाले हुए अपने सिद्धान्तको यों-ही पड़ा रहने दे और उसीसे मिलता- जुलता वैलेसका सिद्धान्त वैज्ञानिक संसारके सम्मुख उपस्थित किया जाय। दूसरोंकी बड़ाई स्वीकार करनेकी भावना और त्यागका क्या ही उत्कृष्ट नमूना है। वह स्वतः

लिखते है-"मैंने प्रसिद्ध प्राप्तिके हेतु अपनेको अपने मार्गसे कभी तनिक भी विचलित न होने दिया ।"

किन्तु हुकर और लाइलके आग्रहसे दोनों लेखकोंने मिलकर अपने सम्मिलित लेखको लन्दनको लीनियस सोसाइटीके सम्मुख, पहली जुलाई सन् १८५८ में, पढा ।

उसके अनन्तर डारविनने अपनी सबसे अधिक प्रसिद्ध पुस्तक 'जातियोंकी उत्पत्ति' (Origin of specis) का लिखना आरम्भ किया और कुछ ही दिनोंके बाद सन् १८५६ ई० में उसे प्रकाशित किया । इसके प्रकाशित होते ही जनतामें बड़ी हलचल मच गयी। तत्कालनी धार्मिक प्रकृतिके पुरुषों, विशेष कर पादड़ियोंने तो विकास-वादके सिद्धान्तोंका घोर विरोध किया। कुछ विरोधियोंने अनगिनत विषवाणकी वर्षा की और आपेसे बाहर हो गये। कोई डारविनको धर्मद्रोही और नास्तिक बताता था तो कोई उन्हें सनकी और पागल कहता था; पर डारविनने इस विरोध और हलचल को तनिक भी परवाह न की। वह और भी उत्साह और दृढ़ताके साथ अपने मतकी पुष्टिमें लग गये ।

इस पुस्तककी उपादेयता इसीसे सिद्ध है कि (४२५० प्रतियोंके) उसके दो संस्कारण हाथों हाथ बिक गये। यही नहीं, यूरोपकी प्रायः सभी भाषाओंमें तत्काल ही उसके अनुवाद प्रकाशित हुए। मानों संसारको प्रकृतिके छिपे हुए भाण्डागारँका पता लग गया। विद्वान् पुरुष प्रकृतिके प्रायः समस्त विभागोंमें इससे काम लेने लगे और यह सिद्धान्त प्रत्येक स्थानपर सत्य निकलता हुआ दिखाई पड़ा ।

इसके बाद अपने मतकी पुष्टिमें डारविन द्वारा लिखित पुस्तकोंका ताँता लग गया। इनमें सबसे प्रसिद्ध 'मनुष्यका अवतरण' (Descent of man) हैं। इसके प्रकाशनने तो विश्वासप्रधान तथा हठवादितामय विरोधियोंके घावोंपर नमक का काम किया। बड़ी सनसनी उत्पन्न हुई; क्योंकि इस पुस्तकमें लेखकने यह सिद्ध किया हैं कि मनुष्य और कुछ बड़े बन्दर, जिन्हें अंग्रेजीमें अन्थ्रोपाइड (Anthropoid) कहते हैं, एक ही पीढ़ीसे अवतीर्ण हुए हैं और सम्भव हैं कि दोनोंके पूर्वज एक ही हों। यों तो डारविनने अनेकों ग्रन्थ लिखे; किन्तु उनमेंसे 'जातियोंकी उत्पत्ति' एवम् 'मनुष्यका अवतरण' विशेष महत्त्वशाली हैं। केवल इन दो पुस्तकोंके आधारपर न जाने कितनी पुस्तकोंका निर्माण हुआ है ।

अब तो 'विकास-वाद'का सिद्धान्त सर्वमान्य और निर्विवाद-सा हो गया हैं । इस बातमें अब तनिक भी सन्देह नहीं रह गया है कि विश्वकी रहस्यमय पहेलियोंके हल करनेका सतर्क और प्रामाणिक तरीका यही हैं; प्राकृतिक रहस्यके परदेके हटानेमें जितना यह सिद्धान्त समर्थ हो सका है, उतना और कोई नहीं । हाँ, यह मानना पड़ेगा, संसारके विकासकी क्रिया महान् प्राकृतिक नियमोंके अनुसार हो रहा है। इन नियमोंमेंसे अनेकों अबतक अज्ञात है और संभव है वे अज्ञेय हों ।

इन्हीं अज्ञात अथवा अज्ञेय नियमोंके अभावके कारण, विकासके साधनके विषयमें अर्थात् विकास किस प्रकार होता है, लोगोंके मत विभिन्न हैं ।

डारविनकी मृत्यु १६ अप्रैल सन् १८८२ ई० को हुई । उनका शव वेस्ट मिनिस्टर अबेमें न्यूटन साहबकी कब्रके निकट ही दफनाया गया ।

नीट्शे

श्रीयुत कामेश्वर शर्मा "कमल" साहित्यभूषण

१५ अक्टूबर १८४४ को एक जर्मन ग्राम रोयकनमें महावीर नीट्शेका आगमन हुआ। इसके पिता पादड़ी थे, किन्तु, उसमें जबर्दस्त आत्मभिमान था। इस वंशको ही इस बातका गर्व था कि १८ वीं सदीमें इसके पूर्वज नीट्शकीके काउंट अपने प्रोटेस्टेण्ट धर्मकी रक्षा करनेके लिये पोलंडसे जर्मनी भाग आये थे। इसी कारण नीट्शेमें भी अपनेको छोटा समझनेका भाव कभी पैदा नहीं हुआ। उसकी बहनने लिखा है—"हम मिथ्या नहीं बोलतीं; क्योंकि काउंट नीट्शकीके वंशमें मिथ्या शोभा नहीं देती।" लड़कपनसे ही इन भाई-बहनोंका सिद्धान्त था—"यातना, वेदना और अन्याय आदिको हँसीमें उड़ा देना चाहिये।" नीट्शे अपनी बहनसे कहता है—"लीजबेट, जिसने अपने को काबूमें रखना सीख लिया है, वह दूसरोंको भी काबूमें ला सकता है।" इस तरहका परिशुद्ध विचार, उन्नत आकांक्षा उसमें लड़कपनसे ही पाया जाता था।

जब नीट्शे छ वर्षका था, तभी उसके पिताकी मृत्यु हो गयी। अतः माताकी देख-रेखमें ही उसकी शिक्षा-दीक्षा हुई। ग्रामीण पाठशालासे निकल आनेके बाद १८६३ में, वह जर्मनीके बोन विश्वविद्यालयमें भेजा गया। किन्तु, थोड़े ही दिन बाद वह वहाँसे लिपजिक चला गया। जहाँ शोपेनहारका उसपर गहरा प्रभाव पड़ा। लिपजिक के बाजारमें घूमते हुए एक दिन उसकी नजर एक पुरानी पुस्तकके दूकानपर पड़ी। वहाँ उसने शोपेनहार लिखित पुस्तक "संसार प्रज्ञा तथा माया रूपमें" खरीदी। उसे पढ़ लेनेके पश्चात् मानों वह क्षणिक सत्य ज्ञान प्राप्त कर गया।

शोपेनहारके इसी प्रभावका यह परिणाम था कि नीट्शे बहुत कुछ नास्तिक हो गया। ईसाई मजहबको उसने तिलांजलि दे दी और शोपेनहारके दुःखमय जीवनकी ओर निर्देश करते हुए कहा—

"संसारमें सुखपूर्ण जीवन असम्भव है। मनुष्य जीवन लेकर—कभी अच्छे और बुरे फलके मिलनेकी परवाह न करके—प्रत्येक कार्य-भूमिमें वीरत्वका प्रदर्शन करना ही प्रशंसनीय है। ऐसे मनुष्यका हृदय वज्रवत् कठोर हो जाता है; पर उसकी महत्तामें तनिक भी कमी नहीं आती। उसकी कामनाएँ नष्टसी हो जाती हैं। संसारकी कृतघ्नताका अनुभव करता हुआ वह अन्तमें निर्वाण-प्राप्त करता है। संसारमें उसकी याददास्त सदाके लिये रह जाती है और लोग उसे वीर कह कर पूजते हैं।"

इस अवतरणसे नीट्शेके स्वभावका पता चलता है। अपनी व्यवस्था और अपने दर्शनके अनुसार ही अपने जीवनको ढालना उसकी प्रकृति थी। इसके लिये उसे असंख्य कष्ट और अपरमित विघ्न-बाधाओंका भी मुकाबिला करना पड़ा; पर उसने पैर पीछे नहीं हटाया।

\+ * +

थोड़े ही समय बाद नीट्शे बेल विश्वविद्यालयमें ग्रीक-भाषा-शास्त्रका अध्यापक नियत हो गया

लिपजिककी यूनिवर्सिटीने विना उसकी परीक्षा लिये ही उसे डिगरी दे दी। बेलमें वह पूरे दस वर्षोंतक शिक्षकका कार्य करता रहा। जब १८६० में, जर्मनी और फ्रांसके बीच लड़ाई छिड़ी, तब वह जर्मन सेनाके साथ रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेके लिये फ्रांस गया। वहाँसे कुछ काल बाद, बीमार होकर घर लौट आया। १८६२ में, उसने 'वियोगान्त या दुःखान्त नाटकोंकी उत्पत्ति" नामकी अपनी सबसे पहली पुस्तक प्रकाशित की।

नीट्शे नास्तिक हो गया था। वह ईश्वर या परलोकका अस्तित्व नहीं मानता था। शोपेनहारकी तरह उसका भी यही खयाल था कि संसारमें सुखकी अपेक्षा दुःख अधिक है और हमारे दुःखोंका कारण है एक मात्र हमारी इच्छाएँ तथा हमारी भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ; अत एव जहाँतक हो सके हमें उनसे रहित होनेका प्रयत्न करना चाहिये; पर शोपेनहारका मत यह था कि संसारकी यातनाओंसे छुटकारा पानेका उपाय, संसारमें जन्म-ग्रहण करनेकी इच्छाका नाश करना या निर्वाणपदकी प्राप्तिके लिये प्रयास करना है। नीट्शेके अनुसार इस युक्तिका अवलम्बन करना मानवोचित नहीं। वह कहता है—"यदि दुनिया तकलीफोंसे भरी है, तो भरी रहे; पर इसी कारण तुम अपने जीवनसे निराश मत होओ; अनन्त जीवनका जो स्रोत तुम्हारे चारों ओर प्रवाहित हो रहा है, उसमें तुम्हारा स्थान एक तरंगके समान है; इस लिये संसारके दुःखको अपना दुःख समझना, अपने हृदयमें सहानुभूतिका भाव उत्पन्न करना तुम्हारा धर्म है; पर जीवनके बन्धनसे मुक्त होनेकी कोशिश तुम्हारा धर्म नहीं। ×× + आदर्श पुरुष वही है, जो दूसरोंको दुःख पहुँचा कर या स्वयं पाकर कभी मुखसे आह नहीं निकालता और जो अपनी जीवन-यात्रामें कभी असत्यका आश्रय नहीं लेता। × × × हमें अपना स्वभाव कुछ ऐसा बना लेना चाहिये, जिसकी बदौलत हमें संसार सदा आनन्दपूर्वक दिखाई दे और जीवनसमरमें हमें कभी निराशासे भेंट न हो।"

नीट्शेने अपनी उस पुस्तकमें यही सिद्ध किया है कि जीवन-समस्याको हल करनेके उद्देश्यसे ही, पुराने समयमें, यूनानी विद्वानोंने वियोगान्त अथवा दुःखान्त नाटकोंका प्रणयन किया था, क्योंकि जब कभी कोई पुरुष ऐसा अभिनय देखता था, तब उसकी अहंमान्यता नष्ट हो जाती थी और वह विश्वप्रेममें मस्त होकर प्रकृतिके साथ एकीभूत हो जाता था। प्राचीन यूनानी विद्वानोंने कवितामें, नाटकमें, चित्रमें और सभी कलाओंमें इसी उद्देश्यको व्यक्त किया था कि जिसमें जीवनके अन्धकारमय अंशपर पर्दा गिर जाय और मनुष्यको सर्वत्र प्रकाश-ही-प्रकाश दिखलाई पड़े। इस तरह संसारकी भयंकरताको सदाके लिये नहीं तो कुछ कालके लिये भी वह भूल जाय।

१८७५ में, नीट्शेका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया। अतः थोड़े दिनोंके लिये कालेजसे अवसर ग्रहण कर वह अपने मित्र, प्रसिद्ध संगीताचार्य वागनरसे मिलनेके लिये, १८१६ में, बेलेउथ पहुँचा। उसी साल उसने एक पुस्तक, वागनरकी कला-निपुणतापर, भी लिखी। इसके पहले शोपेनहारके ऊपर भी एक किताब वह लिख चुका था; पर आगे चल कर उससे उसकी श्रद्धा घटने लगी। क्रमशः उसके विचारोंमें भीषण परिवर्त्तन नजर आये।

१८७६ में, उसने विश्वविद्यालयकी नौकरीसे इस्तीफा दे दिया और इसके बाद उसका अधिक समय उसने इटली और स्वीटजरलैंडमें व्यतीत

हुआ। वहीं उसने अपनी अधिकांश पुस्तकें भी लिखीं। १८८२ में, उसने "आनन्ददायक ज्ञान" तथा "प्रभातागम" नामक किताबें लिखीं। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक "जरथुस्त्र-वचनावली" भी इसी साल निकली। इसके बाद "शक्तिकी कामना" नामकी एक पुस्तक और लिखनेकी उसकी बड़ी आकांक्षा थी; पर उसे वह पूर्ण न कर सका। उसके लिये उसने जो नोट एकत्र किये थे, वे अब ८०० पृष्ठोंमें पुस्तकाकार, प्रकाशित हुए हैं। ये नोट भी उसके विचारोंकी विचित्रताओंकी खान हैं।

× × ×

नीट्शेने तुलनात्मक भाषाशास्त्रका भी अध्ययन किया था। इसके लिये उसे कुछ संस्कृत भी पढ़नी पड़ी। अतः उसकी पुस्तकोंमें यत्र-तत्र आर्य-आदर्शोंकी भी छाप दिखलाई पड़ती है। उसने सबसे बड़ी बात जो पाश्चात्त्य दर्शनको बतलायी है, वह भारतके अतिरिक्त और कहीं नहीं पायी जाती। उसकी एक पुस्तक है "पाप-पुण्यसे परे" यह सिद्धान्त संसारमें सिर्फ भारतीयोंने ही समझा था। महाभारत-कालमें यह तत्त्व धर्मके रूपमें आ गया था। उस समय यहाँ पाप-पुण्य, भले-बुरे और उच्च-नीच आदिके द्वारा धर्मका विचार नहीं किया जाता था। एक मात्र शक्ति ही उसका मापक यंत्र थी।

इधर आकर इस तत्त्वको कुछ-कुछ यहूदियोंने अपनाया और प्रधान रूप नीट्शेने दिया। उसने कहा—"सत्यकी ओर देखो, जगत्‌को देखो और देखो अपनी अन्तरात्माको। कौन वस्तु वह है, जो तुम्हारे जीवनको परिचालित कर रही है? समस्त नीति और उपदेशोंमें वह कौनसी प्रेरणा है, जो सारे मानव-सामजको नियन्त्रित कर रही है। जीवित रहूँ, अपनेको ऐश्वर्य-मंडित करूँ और संसारपर अपना आधिपत्य लाद दूँ यही तो मानव हृदयकी सच्ची आवाज है, यही तो उसके जीवनकी स्वाभाविक आकांक्षा है। यदि यह नहीं, तो और कौनसी वस्तु उसमें अवशिष्ट है, कोई बतलावे भी?" नीट्शे इसीसे आगे बढ़ता हुआ फिर कहता है—"मनुष्यकी स्वाभाविक गति जिधर जाना चाहती है, उसे उधर ही जाने दे। काल्पनिक धर्मका भार डालकर उसे पंगु मत बना। मनुष्यके अन्तर-धर्मके खिलाफ पाप-पुण्य, नीति-अनीतिका बना हुआ अपना पचड़ा मत दिखा।"

उन्नीसवीं सदीके उत्तरार्द्धमें पाश्चात्त्य देशोंमें विज्ञान-शास्त्रकी बड़ी तरक्की हुई। डारविनकी पुस्तक—जीवोंकी उत्पत्ति—ने सर्वत्र एक भीषण खलबलीसी मचा दी। हक्सले, टिंडल, हेकल इत्यादि विद्वानों बरसोंके कठिन परिश्रमसे जो वैज्ञानिक तत्त्व आविष्कृत किये, उनसे लोगोंके प्राचीन मतोंकी जड़ें हिल उठीं। विकासवादके साथ ही और भी कितने ही वादोंका प्रचार बढ़ता गया। इन सब बातोंके चलते ईसाई धर्मकी पुरानी इमारतको ऐसा धक्का पहुँचा कि, वह हिलने लगी। उसकी नींव बहुत ही कमजोर हो गयी। तथापि बाइबिलकी सदाचार-शिक्षाओंका खण्डन करना किसी भी विज्ञानवादीने मुनासिब नहीं समझा। इस विषयमें सभी पुरानी लकीरके फकीर ही बने रहे। इस कामको भी हाथमें लेनेका साहस नीट्शेने ही किया।

नीति और सदाचारका अड़ंगा लगानेवालोंसे उसने कहा—"अन्धा मनुष्य चिरदिनोंसे अपने भीतर यह धारणा लिये बैठा है कि प्रकृति उससे सर्वथा भिन्न वस्तु है एवम् प्रकृतिके नियम

उसके लिये अप्राप्य है। इसलिये उसने अपनेको प्रकृतिसे भिन्न रखकर एक दूसरे धर्मशास्त्रका जन्म दे डाला है। प्रकृतिकी कठोर क्रीड़ाभूमिसे भागकर उसने एक मायाकी सृष्टि कर ली है। और इस तरह वह शिक्षा देता है कि नीति और सदाचार=शास्त्रके अनुसार चलना ही मनुष्यका धर्म है। समस्त नीति और सदाचार-शास्त्र एक विराट् मिथ्याचारके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसका प्रमाण यह है कि संसार किसी दिन नीतिशास्त्रके नियमानुसार निर्मित नहीं किया गया। ईसाने एक साधु संसारकी कल्पना की है; किन्तु वर्तमान विश्वपर जरा दृष्टि डाल लेनेसे आज वही संसार उसके प्रत्युत्तरमें क्या कर रहा है। सच्ची बात तो यह है कि कल्पना क्यों न मधुर सुन्दर और मोहक हो; पर उसके द्वारा सत्यकी सृष्टि नहीं हो पाती। नीतिशास्त्रकी रचना अन्तरकी किसी गम्भीर प्रज्ञा द्वारा नहीं की जाती और इसी कारण वह कभी सार्वजनीन और सनातन नहीं हो पाती। मनुष्य अपनी आवश्यकताके अनुसार उसमें बराबर काट-छाँट, उलट-फेर किया करता है। कल तक जिस नियमको वह मंगलमय मानता आया था, आज उसे वही अमंगलकारी प्रतीत होता है; किन्तु जो सत्य है—वह सभी जगह—सभी समयोंमें एक-सा, एक रंग रहता है। इसमें व्यतिक्रम—उलट फेर—नहीं होता।

"संसारमें कोई छोटा और बड़ा नहीं—सब बराबर है।"—नीट्शे इस मन्तव्यका विरोधी था। वह समाजमें सभीको बराबर नहीं मानता था। इस विषयमें जो उसने लिखा है, वह देखने ही योग्य है। "संसारमें दो धर्म हैं—एक है गुलाम धर्म, दूसरा राजधर्म। श्येन नीति-अनीतिका कुछ विचार न कर मेमनेको अपने भोजनके लिये पकड़ कर ले जाता है। वह उसे खाता है, अपने परिवार को उसपर पालता है और सदा निर्द्वन्द्व विचरण करता है। वह जो कहता है सो ठीक है, यह उसे मालूम है; पर मेमना दुर्बल है, वह बनाया ही इसी लिये गया है कि शिकारी जानवर उसे दबोचें और खायँ। उसका अपना अलग धर्म है। वह दया, अहिंसा, भ्रातृभाव आदिपर विचार करता है और शेर और बाजको अधर्मी, क्रूर जीव समझता है। मेमना यदि हमारे पादड़ियों और नीति-प्रचारकों की भाँति ओजस्वी भाषण भी दे सकता, तो भी शेर और बाज मेमना-पंछी न बन सकते। क्योंकि सत्य-धर्मकी ज्योति उनके भीतर-बाहर सर्वत्र उजाला कर रही है।"

नीट्शेके ऐसे ही विचारोंसे कुढ़ कर कितनोंने उसे भला-बुरा कहा; पर नीट्शेनने किसीकी परवाह नहीं की।

नीट्शे सुप्रजननशास्त्रके जन्मदाताओंमेंसे था। दुर्बलता उसकी समझमें मृत्युकी निशानी है। वह पीड़ाओंकी परवाह नहीं करता। यदि कोई किसी दुःख या व्याधिसे पीड़ित है, तो पीड़ित रहे। हमें उसके साथ आँसू बहानेसे क्या लाभ? हाँ, यह उसका धर्म है कि वह अपनी असक्तता दूर करनेके लिये शक्तिसंग्रह करना सीखे। उसका ऐसा कहनेका तात्पर्य सिर्फ यह था कि यदि दुर्दशा ग्रस्त व्यक्तिके साथ कोई अन्य सबल मनुष्य सहानुभूति दिखावेगा, तो संसारमें कमजोरी दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जायगी और लोगोंको स्वावलम्बनकी शिक्षा न मिलेगी।

नीट्शेने युद्धको संसारकी प्रगतिके लिये अत्यावश्यक बतलाया है। वह लिखता है—"दुर्बल और क्षय-रोगसे ग्रस्त जातिके लिये युद्ध एक अतीव

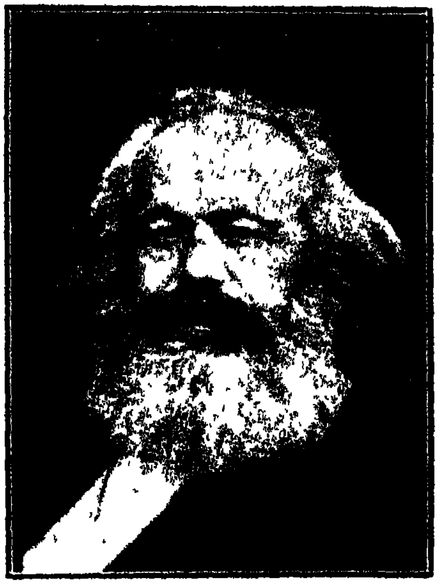
उपयोगी दवा है। यदि उसमें जीवित रहनेकी आ-कांक्षा शेष रह गयी हो, तो क्षयी राष्ट्रके रोगकी कठोर ही चिकित्सा होती है।”

नीटशेके विचारोंके सम्बन्धमें विद्वानोंमें बड़ा मतभेद भी है। खासकर उसके जीवन-कालमें तो उसे बहुत ही कम लोग समझ सके। कोपनहागका विद्वान्, दर्शनिक और आलोचक जार्ज ब्रैंडीज ही एक ऐसा मनुष्य था, जिसने अपने विश्वविद्यालयमें नीट्शेके दर्शनपर भाषण दिया था। निट्शेने लिखा था—“मैं अपने समयसे बहुत आगे पैदा हो गया हूँ; इसलिये मुझे समझनेवाले दो सौ वर्ष बाद पैदा होंगे; किन्तु इतना ध्यान रखिये कि मैं संसारका अदृष्ट भाग्य हूँ। जिसके द्वारा संसारमें एक ऐसी घटना होगी, जो उसकी काया पलट देगी।” लोगोंका खयाल है कि यह घटना महासमरके रूपमें दुनियाके पुराने विचारोंकी जड़ें हिला गयी हैं।

१८८८ में नीट्शेका दिमाग बिगड़ गया। बहुत प्रयत्न करनेपर भी वह अच्छा न हो सका। १६०० के जनवरी महीनेमें वह इस संसारसे चल बसा और तबसे उसके भक्तोंकी संख्या दिन-प्रति दिन बढ़ती ही जा रही है।

कार्ल हेनरिक मार्क्स

श्रीयुत कामेश्वर शर्मा "कमल" साहित्य-भूषण



कार्ल हेनरिक मार्क्स

मनुष्य-जातिके इतिहासमें कार्ल मार्क्सका नाम एक महान् क्रान्तिदर्शी एवं युग प्रवर्तकके रूपमें विद्यमान है। उसके आगमनसे निखिल वसुधाकी विचारधारा सहसा एक नूतन दिशाकी ओर प्रवाहित हो गयी है। इस नवीन दर्शनको लोग साम्यवादके नामसे अभिहित करते हैं; और, आज यह सम्पूर्ण संसारका सर्वश्रेष्ठ एवं शक्तिशाली आन्दोलन हो रहा है।

कार्ल हेनरिक मार्क्सका जन्म जर्मनीके एक अति प्राचीन नगर ट्रेवसमें, ५ मई, सन् १८१८ को, हुआ था। उसका पिता सम्भ्रान्त यहूदी-वंशीय वकील था। उसकी माँ भी हालेंड निवासी एक यहूदीकी ही कन्या थी।

सन् १८८४ में, मार्क्सके पिताने सपरिवार अपने धर्मको छोड़ कर ईसाई मजहबको कबूल कर लिया। उन दिनों जर्मनीकी सरकारकी ओरसे एक घोषणा निकाली गयी थी कि कोई भी यहूदी बिना ईसाई धर्मको स्वीकार किये सरकारी नौकरी नहीं पा सकता। इसके अतिरिक्त उस समय जर्मनीमें राष्ट्रिय भावनाओंकी भी बड़ी उन्नति थी। इसी लिये देश-भक्त यहूदी ईसाई होना श्रेयस्कर समझते थे।

कार्ल मार्क्सकी प्रारम्भिक शिक्षा अपने शहरके ही एक स्कूलमें समाप्त हुई। इसी स्कूली जीवनमें जर्मनीके एक उच्च पदाधिकारीसे इसका परिचय हुआ। यह उसके घरपर भी बराबर आया-जाया करता था। एक प्रकारसे कार्ल मार्क्सकी शिक्षा-दीक्षाको सफल बनानेमें उक्त जर्मनका भी बहुत बड़ा हाथ था। मार्क्सकी भी उसके प्रति अपने पिता-वत् श्रद्धा एवं भक्ति थी। आगे चल कर उसीकी विदुषी कन्या जेनीसे उसने पाणिग्रहण भी किया।

स्कूली शिक्षा समाप्त करके मार्क्स बोन विश्व-विद्यालयमें, कानूनकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये, भेजा गया। वहाँ एक वर्ष रहनेके पश्चात्, सन् १८३६ में, वह बर्लिन-विश्व-विद्यालयमें प्रविष्ट हुआ। यहाँ उसने दर्शन, साहित्य, इतिहास और भूगोलका, बड़ा मनोयोग-पूर्वक, अध्ययन किया। अपने बाल्य कालसे ही वह कवि था; किन्तु यहाँ विशेष रूपसे उसका ध्यान दर्शनकी ओर आकृष्ट

हुआ; क्योंकि उस समय उसके हृदयमें सत्य-ज्ञानको प्राप्त करनेकी एक बृहदाकांक्षा थी। उस समयकी लिखी हुई उसकी कवितासे यह बात भली भाँति ज्ञात हो जाती है।

कार्ल उस समय काव्य और दर्शनकी उलझनमें बेतरह व्यस्त था। उस समय उसके जीवनकी सहचरी थी कविता और सहचर था एक मात्र दर्शन। इसी प्रकारके अध्ययन-क्रमसे उसके हृदयपर विख्यात जर्मन दार्शनिक हिगेलका प्रभाव पड़ा। इतना ही नहीं; बल्कि हिगेलने जिस शैली एवम् पद्धतिसे अपने दर्शन-शास्त्रका प्रणयन किया था मार्क्सने भी उसीका अनुकरण करते हुए अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Capital की रचना की।

सन् १८३८ में, पिताके देहान्त हो जानेपर उसने अपना ध्यान अन्यान्य विषयोंसे खींचकर सम्पूर्णतया दर्शनकी ओर ही लगा दिया। उसका विचार यथासम्भव शीघ्र दर्शनकी परीक्षा पास करके किसी विद्यालयमें प्रोफेसरी करनेका था। अतः कुछ ही दिनोंके बाद एक तथ्यपूर्ण दार्शनिक निबन्ध लिखनेके उपलक्षमें उसे डाक्टरकी उपाधि मिली; लेकिन किसी भी विद्यालयमें उसे अध्यापन-कार्य नहीं मिल सका; क्योंकि उन दिनों स्वतन्त्र स्वभावके लोगोंके लिये कहीं भी स्थान मिल सकना बड़ा दुष्कर था। अन्ततः लाचार होकर मार्क्स एक पत्रकारकी तरह अपने जीवनको बितानेके लिये तैयार हो गया।

सर्वप्रथम उसने हिगेलके विरुद्ध दार्शनिक मतोंके खण्डनमें अपनी लेखनी उठायी। उसी समयके नव प्रकाशित 'राइनिस जीटिंग' नामक एक पत्रमें उसके ये लेख क्रमशः प्रकाशित हुए। इससे कुछ ही दिनोंमें उसकी विद्वत्ता एवम् प्रतिभाकी प्रसिद्धि अति शीघ्रतासे हो गयी। सम्पादकीय स्थान खाली होनेपर वही उसका सम्पादक भी बनाया गया; किन्तु उन दिनों जर्मनीमें समाचार-पत्रोंपर सरकारकी बड़ी वक्र दृष्टि रहती थी। कहना नहीं होगा, कि 'राइनिस जीटिंग' स्वभावतः सरकारका विरोधी था; अतः उसके ऊपर सेंसरोंकी बड़ी कड़ी नजर रहने लगी। परिणामतः १८४३ में, सरकारी आज्ञा-द्वारा, वह बलात् बन्द कर दिया गया।



लेखक

अपने इसी पत्र-सम्पादन-कालमें मार्क्सका ध्यान दर्शन और साहित्यकी अपेक्षा अर्थशास्त्र एवम् राजनीतिकी ओर अधिक रूपसे आकृष्ट हुआ। बड़े ही मनोयोग पूर्वक उसने तत्कालीन परिस्थिति एवम् प्रचलित शासन-विधानका अध्ययन किया। परिणामतः उसके जीवनमें एक विराट् परिवर्तन हुआ। जिसके कारण उसका

नाम संसारमें सदाके लिये अमर हो गया। उसी वर्ष उसने अपने एक मित्रको निम्नाशयका पत्र लिखा था—

'वर्तमान प्रचलित व्यवसाय-वाणिज्यकी प्रथा, सम्पत्तिको लालसा और जन-साधारणकी लूट-मारके फलसे समाजके भीतर जैसी भयावह स्थिति उत्पन्न हो गयी है, वैसी स्थिति जन-संख्याकी वृद्धिके कारण भी उत्पन्न नहीं हुई है। प्राचीन प्रणाली इस परिस्थितिका सुधार करनेमें असमर्थ है; क्योंकि उस प्रणालीमें सुधार या नवीन वस्तु पैदा करनेकी शक्ति ही नहीं है। वह केवल एक स्थानपर स्थिर रहकर उपभोग करना ही जानती है।'

यद्यपि मार्क्सके उपर्युक्त वाक्य सिर्फ कल्पना-जन्य ज्ञात होते हैं; पर कुछ ही मास बाद उसने इतिहास और समाजके मूल सिद्धान्तोंकी आश्चर्यप्रद जानकारी प्राप्त कर ली। सन् १८४३ के सितंबरमें, एक दूसरे मित्रको जो उसने चिट्ठी लिखी थी, उससे पता चलता है कि तबतक उसने फूरियर, प्राउडन, कंबट, विटलिंग प्रभृति अनेक साम्यवादियोंकी रचनाएँ पढ़ ली थीं और वह काल्पनिक साम्यवाद (Utopian socialism) में न फँसकर किसी रचनात्मक पद्धतिके अन्वेषणमें लगा था। इसी वर्ष उसने हेगलके 'न्याय-दर्शनकी' आलोचनामें एक लेख लिखा, जो आमूल स्वतन्त्र विचारोंसे भरा हुआ है। इसकी विवेचनामें मार्क्स जर्मनीकी राज्य-क्रान्तिका प्रश्न छेड़कर पूछता है कि, वह कौन-सा दल है, जो जर्मनीका उद्धार कर सकता है ? उत्तरमें वह स्वयं कहता है—

'जर्मनीमें क्रान्ति और उसका उद्धार उस दल द्वारा हो सकता है, जो गुलामीकी कड़ियोंमें कसा हो। जो वर्ग वर्तमान पूंजीवादी-समुदायके अन्तर्गत होगा, पर जिसका अस्तित्व पूंजीवादी लोगोंसे पृथक् रहेगा, वही वर्तमान शासन-प्रणालीको तोड़ सकेगा। टूटनेके फलसे श्रमजीवि-दलकी उत्पत्ति होगी और तदनुसार एक नूतन शासन-पद्धतिका आविर्भाव होगा। श्रमजीवि-दल सामाजिक नियमोंके भारसे दबे हुए जन-साधारण द्वारा नहीं, प्रत्युत समाजके टूटनेके फलसे जागृत जन समूहके द्वारा बनता है। जब श्रमजीवि-समुदाय प्रचलित सामाजिक प्रणालीके टूटनेकी घोषणा करता है, तब वह वस्तुतः गुप्त रूपमें अपनी ताकतकी सूचना देता है और जब वह निजी जायदाद के नाशकी आकांक्षा प्रकट करता है, तब वास्तवमें वह एक ऐसे सिद्धान्तको प्रकट करता है, जो कि इसी समय समाजमें स्वयमेव उत्पन्न हो रहा है।"

इसी समय उसका विवाह जेनी वेस्टफेलनसे हुआ। मार्क्स अपने एक मित्र द्वारा संचालित (Frenco German yearbook) के सम्पादनार्थ सस्त्रीक पेरिस पहुँचा। वहीं इस पुस्तकके सम्पादन कालमें ही उसका परिचय एञ्जिल्स नामक एक धनी; किंतु, विद्वान्से हुआ। फिर तो दोनों ऐसी मित्रतामें बँधे कि आजन्म एक दूसरेसे उलझे रहे। यह कहना भी कुछ अधिक न होगा कि दोनोंके मणि-काञ्चन-संयोगने ही दोनोंको इतना ऊपर उठाया। मार्क्सकी मृत्युके उपरान्त एञ्जिलसने ही उसकी विख्यात पुस्तक Capital (पूंजी) को सुसम्पादित करके संसारके सामने रखा। उसीके साहचर्यसे दार्शनिक और क्रान्तिकारी कार्ल मार्क्स एक महान् युगप्रवर्त्तकके रूपमें विश्व-विख्यात हुआ।

'फ्रेंको-जर्मन ईयर बुकके' बंद हो जानेपर मार्क्स

अपने अन्य मित्रों सहित पैरिससे प्रकाशित होनेवाले 'वोर वर्टस' नामक पत्रमें काम करने लगा। इसी समय उसने 'पवित्र कुटुम्ब' नामक एक पुस्तक लिखी, जिसमें पूर्व जीवनपर दृष्टि डालते हुए हिगेलके अन्धानुसरण करनेवालोंको यह समझाया कि वे लकीरके फकीर न बनें; केवल शुष्क तर्कोंमें अपना जीवन समाप्त न करें; वरन वास्तविक दशाकी आलोचनामें अपनी शक्ति लगावें।

पेरिसमें रहते हुए भी कार्लने जर्मनीको विस्मृत नहीं किया था। यहींसे बैठे-बैठे वह बराबर वहाँके निरंकुश शासकके साथ कलमकी लड़ाई लड़ा करता था। अन्तमें जर्मन-सरकारने फ्रांसके अधिकारियोंको लिखा, जिससे मार्क्स और अन्य जर्मन साम्यवादियोंको फ्रांससे निकल जानेकी आज्ञा मिली। मार्क्स अपना सामान सम्हालकर बेलजियमकी राजधानी ब्रुसेल्स पहुँचा और यहींपर उसने अपनी "दर्शन-शास्त्रकी दरिद्रता" नामक पुस्तक लिखी, जिसमें प्राउडनकी "दरिद्रता-दर्शन" नामक पुस्तकका खण्डन किया गया है।

प्राउडन उस समय समग्र यूरोपमें साम्यवादका सबसे बड़ा विद्वान् माना जाता था और मार्क्सकी उसके साथ घनिष्ठ मित्रता भी थी। फिर भी मार्क्सने अपने इस विद्वान् प्रतिष्ठित मित्रकी पुस्तकका खंडन, बड़ी निष्ठुरताके साथ, किया। अनेक तर्क-वितर्कोंको उठाकर उसकी पुस्तकको छिन्न-भिन्न कर डाला। यद्यपि यह बात सौजन्यके कुछ खिलाफ ज्ञात होती है, फिर भी मार्क्स ऐसे विषयोंमें किसीसे समझौता करना पाप समझता था। उसका स्वभाव था कि वह जिस बातको अपने मनमें सचाई और श्रमजीवियोंके खिलाफ समझ लेता था। उसका, बिना किसी तरहके व्यक्तिगत विचारके, घोर विरोध करता था।

जिस समय मार्क्स अपने समाज-सम्बन्धी नूतन विचारोंकी सामग्री-संग्रहमें व्यस्त था। उस समय सारे यूरोपका वातावरण उथल-पुथलकी भावनासे अनुप्राणित हो रहा था। खासकर फ्रांसमें तो साम्यवादी सिद्धान्तों, साम्यवादी उपन्यासों, एवं साम्यवादी समाचार-पत्रोंकी मानों एक बाढ़सी आगयी थी। एक छोरसे दूसरे छोरतक चारो तरफ कम्युनिज्मका भूत अपना विकराल मुँह खोले खड़ा दीखता था।

उस समय कार्ल मार्क्स जर्मनीके मजदूरों एवं कृषकोंसे बराबर मिला करता तथा व्याख्यानों और बातचीतसे उन्हें अपना सिद्धान्त समझाया करता। इस काममें उसे एञ्जिल्ससे अधिक सहायता मिलती थी; कारण इसके लिये उसके पास अधिक समय और विशेष पैसे थे। वह मार्क्सके मतका प्रचार पेरिस, कोलोन, एवरफील्ड आदि अनेक नगरोंके जर्मन श्रमिकोंमें करता रहता था।

ब्रुसेल्समें मार्क्स और उसके मित्र 'लीग आफ कम्युनिस्ट' (साम्यवादी संघ) में प्रविष्ट हुए। इसका प्रारम्भिक नाम 'लीग आफ जस्ट' (न्याय-संघ) था और इसकी स्थापना सन १८३६ में, पेरिसके निवासी जर्मन-श्रमिकोंने की थी। कुछ ही दिनोंमें इसकी शाखाएँ यूरोपके दूरातिदूर देशोंमें भी कायम होने लगीं। इस संघकी पहली महासभा लन्दनमें, सन् १८४७ की ग्रीष्म ऋतुमें, हुई। इसी सभामें यह निश्चित हुआ कि संघके उद्देशोंका एक घोषणा-पत्र तैय्यार करके प्रकाशित किया जाय। इस कार्यके लिये मार्क्स और एञ्जिल्स नियत किये गये। उन्होंने जो घोषणा-पत्र बनाया, वही आज कम्युनिस्ट मेनीफेस्टोके नामसे संसारमें प्रसिद्ध है। यह कार्यपद्धति मुख्य चार परिच्छेदोंमें समाप्त हुई है। प्रथममें सामाजिक इतिहास, उसके

लक्षण, उसके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष परिणामोंकी उत्पत्ति; द्वितीयमें साम्प्रदायिक संघर्ष एवं श्रम-जीवि-दलके फल, तृतीयमें साम्यवादियोंके क्रान्तिके लिये उद्योग और चतुर्थमें अन्यान्य प्रचलित साम्य-वादी सिद्धान्तोंकी आलोचना है।

कहना नहीं होगा कि उक्त घोषणापत्रके प्रकाशित होते ही सारे यूरोपमें एक तहलका-सा मच गया। चारों ओर क्रान्तिकी आग धाँय-धाँय कर जलने लगी। फ्रांसमें, पुराने शासनको उलटकर नयी सरकार कायम हुई। जर्मनीमें जगह-जगह राजसत्ताके विरुद्ध उपद्रव खड़े हुए। इधर बेलजि-यमकी जनताने भी प्रजातन्त्रवादियोंपर आक्रमण-कर दिया। परिणामतः बेलजियमकी सरकारने मार्क्सको गिरफ्तार करके पेरिस भेज दिया; किन्तु इससे मार्क्सकी कोई क्षति नहीं हुई। यहाँ आकर उसने अपने साथियोंके प्रोत्साहन एवं उत्साह-दान पर 'न्यू राईनिस जीटिंग' नामक एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया; किन्तु सरकारकी तीव्र दृष्टिके सामने इसमें उसे सफलता नहीं मिल सकी। अन्तमें उसे इस पत्रकी रक्षामें अपना सर्वस्व स्वाहा कर देना पड़ा। पीछे पेरिससे निर्वासित होकर वह एक महान् अस्वास्थ्यकर भूमिमें भेज दिया गया; पर मार्क्सने वहाँ रहनेकी अपेक्षा फ्रांस छोड़ देना ही अच्छा समझा और वह लन्दन चला गया। लन्दनमें ही उसका अवशेष जीवन व्यतीत हुआ।

लन्दनके प्रवास-कालमें मार्क्सने अपना जीवन बड़ी वीरतासे व्यतीत किया। यहाँ उसे निदा-रुण दारिद्र्यका बड़ा ही साहसपूर्ण मुकाबिला करना पड़ा। यहाँ तक कि एक बार एक ट्रैक्ट निकालनेकी जब आवश्यकता हुई, तब उसे अपने कोटतक बंधक रखने पड़े। इस विपत्तिकालमें एक दिक्कत और यह पैदा होगयी कि जो जर्मन-आन्दो-लनकारी विदेशोंमें बसे हुए थे, उनमें क्रान्तिके विफल होजानेसे फूट पैदा होगयी। वे एक दूसरे-पर तरह-तरहके आक्षेप करने लगे। सन् १८५१से १८६० तक मार्क्सकी आमदनीका खास जरिया अमेरिकाके 'न्यूयार्क ट्रिब्यून'में छपनेवाले लेख थे। वह इस पत्रका लन्दन-स्थित संवाददाता बन गया था। जिसके लिये उसे प्रति लेख १५ रुपये मिलते थे; पर इन रकमसे गुजर कर लेना जरा टेढ़ी खीर था। इसलिये १८६२ ई० में, उसने रेलवे आफिसमें क्लर्कीकी नौकरीके लिये दरखास्त की; पर जिस प्रकार उसकी पुस्तकोंकी भाषाको समझ सकना साधारणके लिये असम्भव था, उसी प्रकार उसकी हस्तलिपि भी इतनी अस्पष्ट थी कि उसे पढ़ सकना बड़ा कठिन था; अतः उसे वह सर्विस न मिल सकी। सन् १८६७ में, जर्मनी के शासकोंने, मार्क्सके मित्रों द्वारा, उससे अपने यहाँके सरकारी पत्रका आर्थिक संवाददाता बन-नेका प्रस्ताव किया। इस काममें उसे पर्याप्त आमदनी हो सकती थी, इससे उसके अर्थ-कष्ट निश्चय मिट सकते थे; पर साथ ही इसका यह भी अर्थ था कि अपने प्राणोंसे प्यारे सिद्धान्तको वह तिलाञ्जलि दे दे। मार्क्सने जर्मन-सरकारके इस नीच प्रस्तावको ठुकरा दिया एवं सांसारिक सुखोंके लिये वह अपनी आत्माका खून करनेसे बाज आया।

इस आपत्तिकालमें मार्क्सकी स्त्री ही उसकी एक मात्र सहायिका थी। वह एक रईस घरानेकी लड़की थी, बड़े ही प्यार और दुला-रके बीच पली थी, सुन्दरातिसुन्दर सुख ऐश्वर्यों-को भोग चुकी थी; फिर भी उसने कभी संकटमें न तो मार्क्सकी ही कभी शिकायत की, न कभी

उसने अपने भाग्यको ही कोसा; प्रत्युत वह बराबर चिन्ता और दुःखके समयमें अपनी स्निग्ध और गम्भीर मुस्कान द्वारा मार्क्सको प्रसन्न किया करती थी। मार्क्सने उसके इसी प्रेमपर कृष्ट होकर ही उससे विवाह भी किया था।

यद्यपि मार्क्स एक भयंकर क्रान्तिकारी था, उसके भयसे बड़ीबड़ी शक्तिशाली सरकारें काँपती थीं; तथापि व्यक्तिगत जीवनमें वह बहुत ही कोमल-प्रकृति, विनोद-प्रिय, हाजिरज-वाब एवं मिलनसार व्यक्ति था। जब वह अपने मित्रों या मिलनेवालोंके बीच बैठता, तब मालूम ही नहीं होता था कि इस व्यक्तिके अन्दर कोई एक भयकर वस्तु भी छिपी है। उसके अन्तरङ्ग मित्र उसे 'मोहर' (हब्शी) के नामसे पुकारते थे, क्योंकि उसके सिर और दाढ़ीके बाल कोयलेकी तरह काले और चमकदार थे। मार्क्सकी शक्ल-सूरत आकर्षक एवं पहिनाव प्रभावोत्पादक था। पैसा पास होनेपर वह बड़ी ही शान-शौकतसे रहता था। उसका ललाट ऊपरकी ओर उठा हुआ, भौंहें घनी और झुकी हुई, आँखें चमकदार और भयोत्पादनी, नाक चौड़ी और मुँह चंचल था। उसके सिरके बाल अस्तव्यस्त, इधर-उधर रहते और घनी दाढ़ी बिखरी हुई। इसीलिये चेहरेसे एक अजीव खूँखारपन टपकता था।

सन् १८६१ से मार्क्सकी आर्थिक दशामें कुछ सुधार होने लगा। उसे अपने किसी मृत कुटुम्बीकी सम्पत्तिसे कुछ धन मिला और उसका मित्र विलियम वोल्फ मरते समय अपनी सारी सम्पत्ति, जो करीब दस बारह हजार रुपयेकी थी, उसके नाम लिख गया। एञ्जिल्स भी सदा रुपये—पैसेसे उसकी मदद करता रहता था और सन् १८६६ से उसे नियमित रूपसे २५० पौंड वार्षिक देता रहा। इस तरह कई स्थानोंसे सहायता पानेके ही कारण मार्क्स इस योग्य हो सका कि अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक Capital का प्रथम भाग लिखकर तैयार कर सका। यह ग्रन्थ १८६७ में जर्मन-भाषामें छपा और मार्क्सने इसे अपने प्रिय मित्र विलयम वोल्फ की स्मृतिमें ही समर्पण किया। तत्काल तो इस पुस्तकका प्रचार यथेष्ट न हुआ; परन्तु बादमें इसकी बड़ी प्रसिद्धि हुई और आजकल तो यह पुस्तक कम्युनिस्टोंके बोच ठीक उसी तरह पूजी जाती है जैसे हिन्दुओंके बीच गीता अथवा वेद।

जीवनके अन्तिम कालमें मार्क्सको निरन्तर शारीरिक व्याधियोंसे संग्राम करना पड़ा। इसका मुख्य कारण "कैपिटल" और श्रमजीवि-आन्दोलन में घोर परिश्रम करना था। वर्षोंतक वह लन्दनके ब्रिटिश-म्यूजियममें बैठकर सोलह घंटे प्रति दिनके हिसाबसे अध्ययन करता रहा। इसके सिवाय रातमें बैठकर लिखनेका भी कार्य करता था। जीवनके अन्त समयमें मार्क्सने रूसी कृषकोंकी स्थिति जाननेके लिये रूसी भाषा भी सीखी थी। आजीवन उसके हृदयमें सत्य-ज्ञानकी स्पृहा जाग्रत रही। इस घोर परिश्रमके परिणामस्वरूप ही उसका स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरता गया। अन्ततः १४ मार्च १८८३को उसका प्राण पखेरू सदाके लिये उड़ गया।

किन्तु कौन कह सकता है कि उसने जो आदर्श संसारके सामने रख दिया, वही आज दुनियाका एक खौफनाक आन्दोलन नहीं हो रहा है?

लेनिन

प० मोहनलाल महतो

"The positive collacts on the side and the negative on opposite side, then the force becomes perfect."—swami Ram



लेनिन

वैशाखका महीना था, वसन्तकी सुषमा निखार-पर थी। मदमाती हवा डोल रही थी और सुनहली धूपमें मस्ती थी, आलस्य था। नील गगनमें पंछी अपने चित्रित पंख फैलाकर उड़ रहे थे और वृक्षों-की ऊँची शाखाओंपर फुदक-फुदककर कभी यह—वहा उड़ते थे। वसन्तका जादू चल गया था। यह सन् १८७० के वसन्तकी बात है। आजसे एक मुद्दत पहले।

रूसमें नदी तो अनेक हैं; पर वहाँ भी 'वोल्गा' नाम्नी नदी, हमारी पतितपावनी गङ्गाकी तरह ही पवित्र मानी जाती है। इसके सुरम्य तटपर एक गाँव बसा हुआ है। इस गाँवका नाम है—"सिम्बि-र्स्क"। यह गाँव 'वोल्गा' के तटवर्ती होनेके कारण अपने अस्तित्वपर नाज करता हुआ-सा दिखलाई पड़ता है। परमात्मा जानें आज यह गाँव किस रूपमें है; पर १८७० में इसकी स्थिति थी। इस गाँवमें एक प्रतिष्ठित यहूदी-परि-वार रहता था। यह परिवार अपनी शिक्षा, सज्जनता और सुसंस्कृतिके कारण आसपास विख्यात था। इसी परिवारमें, १८७० की ६ वीं अप्रेलको, ईश्वरके वरदानकी तरह, एक नन्हासा बच्चा आया। वह बच्चा भी साधारण बच्चोंकी तरह अपनी नीली-नीली आँखोंसे इधर-उधर देखता था और रोता था। समयके साथ वह शिशु भी बढ़ने लगा और उसके जननी-जनकके हृदयमें आनन्दकी किरणें निखरने लगीं। पिताके घुटनोंका सहारा लेकर बच्चा खड़ा होने लगा और कभी-कभी डगमगाता हुआ-दो चार पग चलने भी लगा। माताका प्यार और पिताका आशीर्वाद प्राप्त करके वह कोमल शिशु फूलकी तरह धीरे-धीरे विकसित होता गया।

साधारण माता-पिताकी तरह इसके जननी-जनकने भी यही शुभ कामना प्रकट की कि यह लाल किसी दिन दारोगा बने, डिपुटी बने, जज बने, व्यापारी बने वकील बने; यह किसीने भी कामना नहीं की कि यह बच्चा तोपके गोलोंसे खेले, गोलियोंकी बौछारोंसे मन बहलावे, खूनसे रंगी हुई तलवारोंका आलिंगन करे और संगीनोंकी नोकसे हंसी करे। इस प्रकारके दुर्दान्त दृश्योंकी

कल्पना करना भी मनहूस माना जाता है; पर यह किसे मालूम था कि यह नन्हासा बालक जारशाही-का राहु "लेनिन" है, अपने समयका सबसे बड़ा युग-प्रवर्तक भयंकर मनुष्य-"व्लाडीमीर ईलिच उलियानाव" है।

(२)

समय व्यतीत होने लगा और लेनिन धीरे-धीरे बढ़ने लगे। मानों प्रबल-प्रताप जारके सिरपरसे मुकुट उतारनेके लिये लम्बे होने लगे। समय अलक्षित रूपसे आगे बढ़ने लगा और वह समय आ गया, जब लेनिन स्कूलमें भेज दिये गये। लेनिनका छात्र-जीवन उतना चमत्कार-पूर्ण नहीं कहा जा सकता। वे एक मेधावी नहीं; स्वाध्यायी छात्र कहे जा सकते हैं। उनका मानसिक झुकाव स्वभावतः राजनीतिकी ओर था। वे स्कूलमें पढ़ते समय, अत्यन्त मनोयोग-पूर्वक, देशमें होनेवाले आन्दोलनका अध्ययन किया करते थे। समाचार-पत्रों और गैरकानूनी पर्चोंका पढ़ना उनका दैनिक कर्म था। विद्यार्थियोंमें उन दिनों 'ध्वंसवाद" की लहर फैल गयी थी।

यह ध्वंसवाद क्या था?

रूसमें साम्यवादके पहले यह "ध्वंसवाद" फैला था। रूसी ध्वंसवादी निहिलिस्ट कहे जाते थे। ये केवल पुरातनको मटियामेट कर डालना चाहते थे। इनका निश्चित पथ क्या था, यह तो हमें मालूम नहीं है; पर निहिलिज्मपर लिखि गयी प्रामाणिक पुस्तकोंसे यही पता चलता है कि ये कला, धर्म, शान्ति, शिक्षा आदिके विरोधी और केवल विनाशकी उपासना करते थे। कालकी गतिसे लेनिन भी पहले इसी रंगमें रंगे; क्योंकि उनके अग्रज—अलेक्जेंडर—पुराने निहिलिस्ट थे। विद्यार्थि-जीवनमें ही लेनिनको निर्वासनका मजा चखना पड़ा। जिस विद्यालयमें लेनिन शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, उसका अध्यापक था करेन्स्कीका पिता। वही करेन्स्की जो क्रान्तिके युगमें लेनिनका जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्वीके रूपमें सामाने आया। १८८७ में—१७ वर्षकी अवस्था में ही—लेनिनको निर्वासनका दंड दिया गया। वे अपने प्रान्तमें भेज दिये गये; पर यह निषेधाज्ञा १८८६ में उठा ली गयी और उन्हें स्वतन्त्रता दे दी गयी। लेनिन कानूनके एक विद्यार्थीके रूपमें फिर विद्यालयमें पहुँचे। लेनिनने कानूनका अध्ययन 'टका'के दृष्टि-कोणसे नहीं किया। वे अपनी कानूनी स्थिति जानना चाहते थे। वे चाहते थे कि कानूनकी उन गुत्थियोंको जान लें, जिन्हें समय-समयपर मनमाने ढंगसे, लगाकर अधिकारी अपना मतलब गाँठा करते हैं। १८६१ में कानूनकी ऊँची डिग्री प्राप्त करके लेनिन बैरिस्टर हो गये। कालेजमें पहुँचकर आपने क्रान्तिकारियोंसे सम्बन्ध स्थापित किया। उन दिनों रूसके सभी शिक्षणालय क्रान्तिकारियोंसे भर गये थे। अध्यापकसे लेकर साधारण विद्यार्थीतक क्रान्तिके समर्थक थे। लेनिनने अपने कठिन परिश्रम और स्वाध्यायके द्वारा अपने आपको क्रान्तिका पण्डित बना लिया था। लेनिनका सारा समय स्वाध्याय और गम्भीर मननमें व्यय होता था। वे खेल-कूदसे दूर रहते थे। वे थियेटर-सिनेमासे अलग रहते थे। इस तटस्थ-मनोवृत्तिके कारण उनके सहपाठी, जो लेनिनको नहीं पहचान सके थे, उन्हें मनहूस कहते थे। उन्हें क्या मालूम कि यह मनहूस व्यक्ति एक दिन उनके मनकी बेड़ियोंको काट डालेगा और संसारको एक आश्चर्यका दृश्य दिखावेगा! लेनिन जिस कमरेमें रहते थे, वह पुस्तकालय बना हुआ था। सर्वत्र पुस्तकोंका पहाड़ बना हुआ था और बीचमें थोड़ी जगह खाली थी, जहाँ लेनिन सोते थे।

लेनिन अपने आपको न केवल परीक्षाके लिये ही तैयार करते थे; बलिक वे क्रान्तिकी भी छानबीन करते रहते थे। कालेजके निवासियोंने धीरे-धीरे उन्हें पहचाना और वह कालेज, जिसमें लेनिन पढ़ते थे, देखते-देखते क्रान्तिकारियोंका अड्डा बन गया।

शिक्षा समाप्त करके लेनिन 'सुमरा' नामक प्रान्तमें वकालत करने चले आये। देखनेको ही वे सुमरामें एक बैरिस्टरके रूपमें आये; पर बात कुछ दूसरी ही थी। वे अर्थशास्त्र और मजदूरोंका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करनेके लिये विकल हो उठे। लेनिनने अनुभव किया कि देशको 'रोटी' चाहिये। रोटीका सम्बन्ध अर्थशास्त्रमें है। जारशाहीने अर्थशास्त्रका रूप ऐसा बना डाला है कि देशका समस्त धन कुछ खास-खास पाकेटोंमें जाकर विलीन हो जाता है। लेनिनने देखा कि देशका उत्पादन भी सन्तोषजनक है; पर यह समस्त अन्न आखिर खा जाता कौन है, जो पन्द्रह करोड़ रूसी जनता 'हाय रोटी, हाय रोटी!' करती रहती है। यह करोड़ों मन अन्न क्या भाप बनकर उड़ जाता है या इसे खेत खा जाते हैं? सुमरामें आकर लेनिनने किसानों और मजदूरोंकी अवस्थाका गहरा ज्ञान प्राप्त किया तथा अर्थशास्त्रकी गुत्थियोंपर भी पर्याप्त गौर किया। उन्हीं दिनों कार्ल मार्क्सकी पुस्तकें लेनिनने पढ़ीं। अपने मनकी चीज पाकर उन्होंने बैरिस्टरीको अन्तिम नमस्कार किया। मार्क्सके सिद्धान्तोंको लेनिनने पसन्द किया; पर उसके सामने यह प्रश्न उपस्थित हो गये कि उन्हें रचनात्मक रूप कैसे प्रदान किया जाय? मर्जकी दवा तो हाथ लग गयी; पर मरीजके गलेके नीचे इसे किस उपायसे उतारा जाय?

(३)

सन् १८८३ में जारके दिमागमें यह बात सुझायी गयी कि सभी खुराफातोंकी जड़ हैं ये स्कूल-कालेज! उसे किसीने भी यह नहीं बतलाया कि सारी खुराफातोंकी जड़ है उसकी शिक्षा-पद्धति। जारने बिगड़कर विश्वविद्यालयोंकी सारी क्षमताको छीन लिया। इतना ही नहीं सार्वजनिक कामोंसे विद्यार्थियोंको दूर रखनेके लिये कितने ही कानूनोंकी भी उसने सृष्टि कर डाली। शरीर कानूनोंकी पाबन्दी मानता है; पर हृदयपर किसका बश चलता है? हृदय तो एक मस्त तथा अल्हड़ वस्तु है। उसपर किसीकी भी हुकूमत नहीं चलती। जारने कानून-पर-कानून गढ़कर विद्यार्थियोंके विद्रोही मनको कुचलनेका प्रयत्न किया, पर इसका परिणाम वही हुआ, जो होना चाहिये था।

लेनिनके बड़े भाई अलेकजेण्डरने विद्रोहका झण्डा उठाया। माताका दुलार, पिताका प्रेम, जीवनका मोह इनमेंसे एक भी अलेकजेण्डरके मनको नहीं मोड़ सका। वह एक अल्हड़ युवक था और था प्रकृति-विज्ञानका प्रकाण्ड पण्डित। उसने अपने जिस कदमको आगे बढ़ाया, उसे अन्ततक पीछे नहीं हटाया। इस हठका परिणाम हुआ—फाँसी। वह अपने रक्तके छींटोंसे लेनिनका अभिषेक कर गया

अलेकजेण्डर जारशाहीका शिकार हुआ और उसने आगे बढ़कर फाँसीके फन्देको, गलेमें जयमालकी तरह, पहन लिया। अन्तिम समयमें माँ अपने लाड़लेको चूमने आयी, पिता आशीर्वाद देने आये, लेनिन जैसा अनुज हृदय लगानेके लिये आया। अलेकजेण्डरने हँसकर बिदाई ली। क्षणभरमें वह फूल गया। जीभ निकल आयी, मुँहसे रक्तकी धारा बह चली, हाथ-पैर ऐंठ गये और वह युवक

अनन्त शान्तिमें विलीन हो गया। मिट्टीका पुतला मिट्टीमें मिल गया।

लेनिन इस दृश्यसे सहमें नहीं, डरे नहीं, बल्कि शेरकी तरह गुर्राकर रह गये। अलेक्जेण्डरकी आत्मा लेनिनकी आत्मामें समा गयी। उसका साहस लेनिनके साहसमें जाकर एकाकार हो गया। अलेक्जेण्डरके माता-पिता रोते हुए घर आये; पर लेनिन इस चिन्तामें डूबते उतराते वनकी ओर चले गये—एकान्तकी गोदमें चले गये—कि आखिर अलेक्जेण्डरकी इस निष्ठुर हत्याका दायित्व किसपर है? क्यों एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको गला घोंटकर मारता है? इस पापका कारण रूप कौन है? नवयुवक लेनिनने सोच लिया कि अधिकारका मोह ही हमसे ऐसे-ऐसे पाप करवाता है, पूँजीवाद ही हमारे भीतर अधिकारका मोह उत्पन्न करता है। यह २० मई १८८६ की बात है। उन दिनों लेनिन १७ वर्षके कोमलमति विद्यार्थी थे; पर हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि वे रूसके भावी भाग्यविधाता भी थे। वे पानीके एक बुलबुला थे; पर उस बुलबुलेमें सागर लहराता था। लेनिनका मन जारशाहीसे ऊब उठा। न केवल जारशाहीसे ही लेनिनका मन खट्टा हो गया; बल्कि वे पूँजीवादके खिलाफ हो गये जो जारशाहीका कारण रूप था। उसी समयसे लेनिनका मन क्रान्तिका उपासक बन गया और वह अन्ततक बना रहा।

सोते–जागते, उठते-बैठते हर घड़ी लेनिनका मन "क्रान्ति-क्रान्ति"के नारे लगाया करता था। वे सदा एक व्यापक क्रान्तिकी कामना किया करते थे। १८९४ ई० में वे तत्कालीन 'सोशल डिमोक्रेट्स' नाम राजनीतिक दलके सदस्य बन गये और खुलकर क्रान्तिका संघटन करने लगे। जारशाहीके प्रहारोंसे यह दल समाप्त हो चला था; पर लेनिनने इसे उठाकर फिर खड़ा कर दिया। वे सेंट पिटर्सबर्गमें रहकर पर्चे बाँटने लगे और पर्चोंमें लेख लिख-लिखकर क्रान्तिके लिये जनताको तैयार करने लगे। साम्यवादी विचारोंके प्रचार करनेमें लेनिनने अपनी समस्त शक्तिको लगा दिया। मजदूरों और किसानोंमें आत्मसम्मानके भाव जगानेमें भी लेनिनने जोतोड़ परिश्रम किया। वे एक जन्मजात नेता थे। नेतृत्व उनके कदमोंके पीछे दौड़ता था।

लेनिन काम करना जानते थे। नेता बनकर माल उड़ाना और प्रेसोंको लम्बे-लम्बे वक्तव्य देना उनका काम नहीं था। वे एक शान्त ज्वालामुखी थे, जो फटनेकी घड़ीको प्रतीक्षा कर रहे थे।

स्वयम् आधे पेट खाकर बर्फीली हवा, फटे कपड़े पहनकर भी देहातोंमें जीवनकी ज्योति जगाना लेनिनका काम था। वे शहरसे दूर-दूर पैदल जाते और जारशाहीकी आँखोंमें धूल झोंक कर अपना संघटन करते तथा साम्यवादियोंके सिद्धान्तोंका प्रचार करते। मजदूरोंमें मजदूर बन कर और अपढ़ोंमें अपढ़ बनकर लेनिनने साम्यवादका प्रचार किया। इन्हीं दिनों उनकी नजरोंमें एक ऐसी लड़की गुजरी, जो सुन्दरी होनेके साथ-ही-साथ क्रान्तिकी पुजारिन भी थी। इस लड़कीका नाम था क्रूप्सकाया। यह अपने विचारोंके कारण लेनिनके हृदयके निकट आ गयी। यह सदा उनके साथ रहती और प्रचार-कार्यमें हाथ बँटाती थी।

यह क्रूप्सकाया एक उच्च शिक्षिता और स्वतन्त्र हृदयकी वीर युवती थी। इसकी आँखोंमें नहीं; बातोंमें जादू था, जिससे अपढ़-गँवार रूसी कृषक प्रभावित हो जाते थे, मजदूर फड़क उठते थे और साधारण जनता उत्तेजित हो उठती थी।

कुछ दिनोंतक दोनों साथ रहे फिर जारशाहीकी आँधीमें उड़कर दो ओर हो गये । लेनिन क्रुप्स्काया को भूल गये और शायद क्रुप्स्काया भी लेनिनको भूल गयी । * दोनों दो ओर चले गये; पर दोनों थे एक ही पथके पथिक, एक ही रंगमें शराबोर। दोनों दोनोंके रूप, धन, विचारपर नहीं ज्वलन्त देश-प्रेमपर रीझे थे । दुर्दान्त जारशाहीके फौलादी-पंजोंने लेनिनको पकड़ कर साइबेरियाकी ओर फेंक दिया ।

१८९८ ई. में लेनिन साइबेरिया भेज दिये गये और वहाँ उन्होंने फिरसे क्रुप्स्कायाका देखा । यह मानों लेनिनका स्वागत करनेके लिये पहलेसे ही साइबेरियाके द्वारपर खड़ी थी । जारशाहीने इस कोमलप्राण युवतीको भी निर्वासनका दण्ड दिया था । जिस शासनकी जड़ इतनी निर्बल हो कि उसके रक्षकोंको एक साधारण लड़कीसे भी सावधान रहना पड़े, उसकी रक्षा परमात्माके अतिरिक्त और कौन कर सकता है ! हाँ, तो इस बार क्रुप्सकायाने लेनिनको अपना लिया । परम नीरस, घोर क्रान्तिकारी, भीमकर्मा राजनीतिज्ञ लेनिन भी रमणी-प्रेमके आगे नतजानु हो गये, नतमस्तक हो गये । विधिका विधान अटल होता है । दोनोंका विवाह कैदमें ही हुआ।

(४)

लेनिनका पाण्डित्य प्रखर था । वे केवल व्याख्यान-खोर नहीं थे । मार्क्सके सिद्धान्तोंपर लेनिनने जो कुछ लिखा है, वह संसारकी गम्भीर पुस्तकोंमें अपना विशेष स्थान रखता है । वे सदा स्वाध्याय और मननमें लिप्त रहते थे । कामसे जो समय बचता था, उसे वे बैठकर—झख मारकर—नहीं व्यतीत करते थे । संसार भरके राजनीतिक दाव-पेंचोंका अध्ययन करते हुए वे अपने मतलबकी बात निकाल लिया करते थे । एक बार एक विख्यात पत्रकार लेनिनसे, लन्दनमें, मिलने आया । उन दिनों वे लन्दन महानगरीमें एकान्त-जीवन व्यतीत कर रहे थे । निर्वासनकालमें भी लेनिन शान्त नहीं रहते थे । पत्रकार लेनिनके कमरेमें प्रवेश करते ही देखता है कि समूचा फर्श अखबारों और पुस्तकोंसे भरा हुआ है और लेनिन अन्धाधुन्ध कलम चला रहे हैं । चेहरा पीला पड़ गया है और न तो कपड़ोंकी चिन्ता है और न बालोंकी । लिखे हुए कागज चारो ओर बिखरे हुए हैं ।

लेनिनका समस्त जीवन चिन्ताओंमें कटा —प्राणोंका प्रेम और अपनी मातृभूमिके उद्धार करनेकी चिन्ता । लेनिनके इशारेपर सिर कटवाने वालोंका दायित्व भी लेनिनके ही सिर पर था । वे जहाँ भी रहते; पर उनके आन्दोलनका सूत्र उनके हाथोंमें रहता । मस्तिष्कमें नाना प्रकारके तूफानोंके रहते हुए भी लेनिन एक धुरन्धर लेखक थे । उनके लिखे हुए लेख आज भी अपने विद्वान् पाठकोंको चकरा देते हैं । लेनिनका मन बड़ा ही बलवान् था । वह सदा एकरस रहता तथा कठिन-से-कठिन अवसरपर भी चंचल नहीं होता था । मानसिक एकाग्रता तो मानों लेनिनका जन्मजात गुण था । चाहे तोपें गड़गड़ा रही हों या सुरीले कंठसे गान हो रहा हो, वे सदा अपने मनको एक ही केन्द्रपर स्थिर रखते थे । यदि ऐसी बात नहीं होती, तो वे कभी भी पूर्ण सफल नहीं होते । प्रतिकूल परिस्थितिमें रहते हुए भी लेनिनने संसारको जो साहित्य दिया है, वह आदरके योग्य है । यदि वे

* "शायद" शब्द हमने इस स्थानपर इस लिये लिखा है कि रमणीहृदयका ठीक-ठीक पता लगाना, कठिन ही नहीं, वरन असंभव भी है ।—लेखक

साहित्यक्षेत्रमें ही रहते, तो इसमें सन्देह नहीं कि उनकी लेखनीका सामना करनेवाला संसारमें दूसरा दृग्गोचर नहीं होता। इतना होते हुए भी वे ईश्वर और धर्मके भयानक विरोधी थे। वे जारशाहीसे बढ़कर ईश्वरशाहीके विरोधी थे।

लेनिनके सिद्धान्तसे धर्म समाजको बिखरनेसे बचाता है और समाजमें क्रान्ति लानेके पहले उसे धर्मच्युत करना आवश्यक है। पाठक, आप "धर्मच्युत" शब्दपर न चौंके। हमने इस शब्दको व्यापक रूपमें लिया है। लेनिनकी जीवनी और तत्कालीन रूसकी सामाजिक अवस्थापर विचार करनेसे पता चलता है कि धर्म और ईश्वर-विरोधके अतिरिक्त लेनिनके सामने दूसरा कोई मार्ग भी नहीं था। जारने अपने प्रभावसे धर्माध्यक्षोंको अपनी मुट्ठीमें कर लिया था। रूसी जनता धर्मप्राण थी। वह टोने-टोटके और जादू-मन्तरके मूढ़ बन्धनोंमें बेतरह फँसी हुई थी। शरीरका बन्धन तो मरनेपर टूट जाता है; पर हिन्दूधर्मके अनुसार मनका बन्धन अनन्त कालतक बना रहता है। लेनिनके सामने यह कठिनाई उपस्थित हुई कि जारकी गोलियोंसे जनताकी रक्षा तो का जा सकती है; पर कठमुल्लोंके फतवोंसे रक्षा करना असंभव है। जनता धर्मध्वजियोंकी गुलाम थी। गिर्जोंसे आन्दोलनका भयानक विरोध किया जाता था। लेनिनको एक साथ ही जारशाही और खुदाशाहीसे हाथापाई करनी पड़ी। अन्तमें उन्होंने कमर कसकर दोनोंको पछाड़ा। यदि रूससे धर्म और ईश्वरको खदेड़ देनेका किसीपर दायित्व है, तो वह जारशाहीपर है। राजनीतिक मामलोंमें धर्मको अस्त्र बनाना उचित नहीं। यह स्वतन्त्र वस्तु है। जारने धर्मको अपना ढाल बनाया और परिणाम यह हुआ कि दोनोंको एक साथ मिट जाना पड़ा। लेनिनके प्रहारोंसे जारशाहीके साथ-ही-साथ अभागा धर्म भी समाप्त हो गया।

लेनिनकी जीवनी रूसी क्रान्तिका सम्पूर्ण इतिहास है। हमने प्रयत्न किया है कि अत्यन्त संक्षिप्त रूपमें लेनिनका एक धुँधलासा चित्र अपने पाठकोंके आगे रख दूं। सम्भव है कि कुछ महत्त्वपूर्ण बातें छूट जायँ; पर उदार पाठक हमारी कठिनाइयोंपर ध्यान देकर हमें क्षमा करनेकी कृपा करेंगे?

इसके बाद, लेनिनने जिस आगको रूसमें भड़का दिया था, समय पाकर उसने दावाग्निका विकराल रूप धारण किया। जारशाही आन्दोलन मिटानेका जो रोषपूर्ण प्रयत्न करती थी, वह घीका काम करता था। रोटीकी आवश्यकता पत्थरोंसे नहीं मिटायी जा सकती। भूखेको रोटी चाहिये। कागजी सुधारोंसे क्षुधा नहीं मिट सकती। कागज खाकर जीवित रहना कठिन है। जब जारशाहीने अपने आपको चारो ओरसे घिरा हुआ देखा, तब उसने वही पुराना बहाना निकाला, जो समस्त संसारपर विदित है। उसने कुछ सुधार जारी किये। इन सुधारोंकी ओटमें जनताकी शक्तिपर वज्रपात करनेका आयोजन भी था। १९०५ ई० में देश हड़ताल करनेपर उतारू हुआ। बड़े-बड़े कारखानोंके द्वारपर कुत्ते रोने लगे और प्रचंड मशीनोंपर मकड़ीने जाले तान दिये। ३ जनवरीको हड़ताली मजदूरोंने जुलूस निकाला। यह जुलूस जारकी सेवामें अपनी दुःखगाथा सुनानेके लिये निकाला गया था; पर अधिकारियोंने इसका स्वागत संगीनोंसे किया, मेशीनगनोंसे किया, रायफलकी गोलियोंसे किया।

अनगिनत निहत्थे, अनाथकी तरह, खुली

सड़कोंपर लोट गये। इस जुलूसमें स्त्रियाँ भी थीं और नन्हे-नन्हे बच्चे भी थे। गोलियाँ स्त्री और बच्चोंका आदर करना नहीं जानतीं। नन्हे-नन्हे बच्चे भी छेद डाले गये और स्त्रियाँ भी संगीनोंसे हलाल कर डाली गयीं। इस दृश्यने शान्तिप्रिय जनताका खून खौला दिया।

इस मनहूस वर्षके अन्ततक समस्त देशमें गोलियोंकी वर्षा की गयी; पर जनता अपने हठ पर अड़ी रही। घायल होकर समस्त रूस एक बारगी "क्रान्ति-क्रान्ति" चिल्ला उठा। जारशाही-को स्थिति सँभालना कठिन हो गया। बहादुर सिपाहियोंपर भी इस हत्याकाण्डका पर्याप्त प्रभाव पड़ा; क्योंकि वे भी रूसी थे तथा उनके भी बाल-बच्चे थे। उज्जड सैनिकोंके मत्थेपर भी चिन्ताकी रेखाएँ झलकने लगीं।

जारशाहीने जो सुधार जारी किये थे, वे भयंकर रूपसे जनताके सामने आये। सुधारका परिणाम भयानक दुःखद हुआ। १५ दिनोंके भीतर ही सौसे अधिक नगरोंमें छात्रोंपर कठोर हमले हुए और इस होहल्लेमें चार-पाँच हजार मनुष्य तो मारे गये और छ-सात हजार लँगड़े-लूले बनकर देशके भार रह गये। इन दिनों लेनिनने सर्वत्र दौरा करके जारशाहीका असली अर्थ जनताको समझा दिया। जारशाहीका विश्वास समस्त देशसे एकदम उठ गया।

जब जनताने यह सोच लिया कि जारशाही रहे या १५ करोड़ रूसी रहें, तब लाचार रूसी सरकार को झुकना पड़ा और उसने किसानों और मजदूरों की दुरवस्थाकी जाँच करनेके लिये एक कमीशन जारी किया। रूसी सरकारके राजनीतिज्ञोंने यह सोचा कि कमीशनके तमाशोंमें समस्त देश उलझ जायगा और धीरे-धीरे जोश ठंढ़ा पड़ जायगा। मैक्सिम गोर्की जैसे महान् कलाकार भी आन्दोलनके संचालक थे। वे भला कब सरकारी चालको सफल होने देते। वे अपने पत्रमें लेख और कहानियाँ लिख-लिखकर जनताके जोशको भड़काते गये और राजनीतिज्ञ लेनिनने भी इस कमीशनसे अपने विचारोंके प्रचारका ही काम लिया। इसी सिल-सिलेमें लेनिनने वर्गवादका प्रचार किया। परिणाम यह हुआ कि लेनिनसे अमीर अप्रसन्न हो गये। हड़ताल-पर-हड़ताल होती गयी। सरकारका ध्यान फिर लेनिनकी ओर गया। उसने चाहा कि इस बार लेनिनको पकड़कर ऐसा दबोचें कि हमेशाका खतरा ही मिट जाय; पर रूसके कलाकार गोर्कीके शब्दोंमें—"लेनिन सर्वधारणसे अधिक—पचास हाथ—मिट्टीके नीचेकी चीजोंको देख सकते थे।" लेनिन जैसा सतर्क तथा भविष्यद्रष्टा मनुष्य भला जारशाहीके फन्देमें कब फँसने लगा? रूसके कोने-कोनेमें आग लगाकर वे फिनलेण्ड भाग गये और अवसर मिलते ही जिनेवा पहुँचकर उन्होंने साँस ली। जारशाही हाथ मलती ही रह गयी। झल्लाकर सरकारने भी कमर कसी और दमन-चक्र चलाना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप समस्त रूस कराह उठा। अनगिनत मनुष्य फौजी कानूनकी भेंट हुए और अनगिनत साइबेरियाकी हवा खानेको बाध्य हुए। समस्त रूसमें एक बार फिर आतङ्ककी काली बदली छा गयी। एक प्रकारसे जारके नामपर सैनिक शासन कायम हो गया।

जिनेवाके होटलमें बैठकर लेनिनने चैनकी वंशी नहीं बजायी। उन्होंने जारकी तलवारसे भी भयानक अपनी लेखनी उठायी। अनेक नामोंसे वे लेख-पर-लेख लिखने लगे। इस प्रकार उन्होंने रूसी जनताके जोशको ठंढ़ा पड़नेसे साफ बचा लिया। यद्यपि सरकारके दमनके कारण रूसी

नेताओंका संघटन टूट गया था; पर लेनिनके लेखोंने उन्हें बिखरनेसे बचा लिया। १९१२ ई०में लेनिन पेरिससे भागकर रूसको चले गये। रूसको पहुँच कर उन्होंने अपने कामको अधिक सुसंघटित रूपसे चलाया। लेनिनका एक-एक लेख जारशाहीके लिये हथौड़ाका काम करता था। उनकी लेखनी आग उगल-उगलकर रूसी सरकारको झुलसाती रही। यह भयानक सिलसिला एक मुद्दततक जारी रहा।

इसी तरह कुछ दिन और कटे। १९१४ आ गया। यह १९१४ संसारका अमर सन् है। इसी वर्ष विख्यात महायुद्ध छिड़ा था। रूसने भी इस नरमेध यज्ञमें प्रमुख भाग लिया। तलवारें ले-लेकर प्रायः सभी राष्ट्र मैदानमें उतर पड़े। रूसका वह महापराक्रमी नेता हंगरीके एक छोटे-से नगरमें छिपकर इस महानाशका तमाशा चुप-चाप देख रहा था। उसे इस बातका दुःख हुआ कि साम्यवादियोंने भी पूँजीवादियोंकी इस मार-काटमें बढ़-बढ़ कर हाथ साफ किये हैं। यद्यपि स्वीट्ज़रलैंडकी सरकारने लेनिनको अपने यहाँसे निकल जानेका आदेश दिया था; पर वे कोई दो वर्षोंतक छिपकर वहीं टिके रहे। वे चाहते थे कि उन्हें अपने नख-दन्त प्रदर्शन करनेका अवसर मिले। शेरकी तरह झाड़ियोंमें छिपकर उस नरव्याघ्रने अपने समयको किसी-न-किसी तरह व्यतीत किया। एक ओर तो तोपके गोलोंकी गड़गड़ाहटसे वायुमण्डल क्षुब्ध हो रहा था, दूसरी ओर लेनिन अपने अज्ञातवासमें बैठकर जारशाहीके पतनका अवसर ढूंढ़ रहे थे। समस्त संसार महायुद्धके मैदानमें उतर पड़ा था। जल, स्थल, गगन सर्वत्र युद्धकी आँधी हाहाकार कर रही थी। मूली-गाजरकी तरह मनुष्य कट रहे थे। सभी ईश्वरवादी राष्ट्र ईश्वरकी सर्वश्रेष्ठ प्रतिमा—मनुष्य—को अपनी-अपनी गदासे चूर्ण करनेके लिये गरज रहे थे।

(६)

साम्यवादियोंकी दृष्टिसे लेनिन इस महासमरको पाप समझते थे; क्योंकि यह पूँजीवादियोंका अकाण्ड ताण्डव था। अपनी शक्ति बढ़ाकर या किसी निर्बल; पर धनसम्पन्न राष्ट्रको अपने पंजोंके नीचे दबा कर मनमाना शासन करनेके लिये महायुद्धका आयोजन होता है। लेनिनका यही सिद्धान्त था। उन्होंने इस युद्धको बड़ा ही मनहूस समझा; पर परिस्थितिसे लाभ उठाना उनके लिये आवश्यक हो गया। युद्धको भी उन्होंने साम्यवादी विचारोंका प्रचारक बना लिया और युद्धरत रूसमें साम्यवादी विचारोंका सप्रमाण प्रचार किया। उन्होंने जनता को बतलाया कि तुम तो अपनी जान गँवा रहे हो; पर तुम्हारे द्वारा प्राप्त की गयी विजयका उपभोग कौन करेगा? किसानोंकी दरिद्रता और मजदूरोंकी दुर्दशा न मिटी है न मिटेगी। विजय तो तुम्हारे बाहुबलसे या धनबलसे प्राप्त होगी; पर उसका आनन्द लूटेंगे ये मोटी तोंदवाले।

लेनिनने छिपा कर समस्त रूसमें पर्चे-पर-पर्चे भेजे। यह प्रचार युद्धक्षेत्रके सैनिकोंमें भी किया गया। इधर गलेसिया और प्रूशियाके युद्धोंमें रूसी सेनाको ऐसी करारी हार खानी पड़ी कि उनका हौसला सदाके लिये मिट गया।

वर्षोंतक लगातार लड़नेके कारण थकी, बौखलाई और ऊबी हुई रूसी सेनामें अकथनीय अव्यवस्था फैल गयी। परिस्थिति भयानक हो उठी और इधर साम्यवादी प्रचारोंने ऊबे हुए सैनिकोंको अधिकाधिक उभा डाला। परिस्थिति गम्भीर होते ही पूँजीवादियोंमें घबराहट फैल गयी। रूसकी मर्यादा-रक्षाके बहाने उन्होंने जारको

पदच्युत कर दिया। निरंकुश शासनका अन्त कर डाला गया। प्रजातन्त्र-मूलक एक नया शासन कायम हुआ। ई० १९१७ की पहली मार्चको जारशाहीका अन्त हो गया। एक कामचलाऊ सरकारकी स्थापना करके करेंस्की राष्ट्रपति बना डाला गया। जार आदि प्रभावशाली राजकीय पुरुष उनकी रक्षाकी ही दृष्टिसे कैद कर लिये गये; क्योंकि अरक्षित अवस्थामें रहते हुए उनके प्राणों पर खतरा था। जेल भेजनेवाले तानाशाहोंका दल जेलकी हवा खाने लगा—हा भाग्य!

लेनिनने इस अवसरसे अकथनीय लाभ उठाया। वे अपने पत्र 'प्रवदा' और ज्वलन्त पर्चों से जनताको भड़काने लगे। न केवल साधारण जनता-को ही; बल्कि सैनिकोंमें भी उन्होंने बौखलाहट पैदा कर दी। करेंस्कीको अपनी बागडोर सम्हालना कठिन हो गया। लेनिन ४ थी अप्रल १९१७ को पांट्रोग्रेड पहुँचे। उनके साथ उल्लेखनीय और संसारका सबसे भयंकर क्रान्तिकारी ट्राट्स्की भी था। केरेंस्की सरकारकी जड़ हिल चुकी थी। जनताने अपने बिछुड़े हुए नेताओंका आगे बढ़कर स्वागत किया। लेनिनने अपने भाष-णोंसे जनतामें जोश भर दिया। इसी समय जर्मन सेनाने रूसी सेनाका कचूमर निकाल दिया। लेनिनने इस घटनाका प्रत्यक्ष प्रमाण देकर जन-ताको पूँजीवादका नग्न रूप दिखलाना आरम्भ किया। करेंस्कीकी सरकारने लेनिन आदि नेता-ओंको पकड़ लिया। सरकारी सेनाने विद्रोहका झंडा उठाया। भयानक मारकाटके बाद फिर शान्ति स्थापित हो गयी; पर यह शान्ति भावी महा अशान्तिका पूर्वरूप थी। तत्काल करेंस्कीके हाथोंसे शासन-सूत्र खिसक पड़ा। वह एक अच्छा वक्ता था, पर लेक्चरोंका समय चला गया था। युद्धसे आहत और भूखे रूसको मरहमकी आव-श्यकता थी, रोटीकी आवश्यकता थी। करेंस्कीके मन्त्रि-मण्डलमें भी अविश्वासकी हवा भरी हुई थी। सभी रूसका सर्वेसर्वा बननेके लिये आगे बढ़ना चाहते थे। इधर ट्राट्स्कीने सेनामें भया-नक अव्यवस्था फैलाकर सरकारसे खुल्लमखुल्ला युद्ध छेड़ दिया। १७ नवंबर १९१७ को ट्राट्स्कीने पीट्रोग्रेडपर अधिकार कर लिया। सभी सरकारी दफ्तरोंपर लाल झंडे फहराने लगे और लाल सैनिकोंने नगरकी शान्तिका चार्ज बड़ी शानसे लिया। ट्राट्स्की विरोधियोंको क्षमा करना नहीं जानता था। यह बात करेंस्कीपर विदित थी। वह अपनी जान बचानेके लिये युद्धक्षेत्रकी ओर भाग गया। इस प्रकार अनायास लेनिनने रूसके शासन-सूत्रको अपने हाथोंमें कर लिया।

यद्यपि साम्यवादियोंका पूँजीवादियोंकी ओरसे विरोध भी किया गया था, पर जनताने ऐसे विरोधोंमें दिलचस्पी नहीं दिखलायी। पूँजीवादके अत्याचारोंसे रूस अधमरा हो रहा था। देशने साम्य-वादी शासनको स्वीकार कर लिया और लेनिनने संसारके सामने एक आश्चर्यपूर्ण उदाहरण उप-स्थित कर दिया। लेनिनकी सफलताका रहस्य समझना कठिन है। लेनिन अपने अनुरूप परिस्थिति उत्पन्न करना भी जानते थे और अपने प्रतिकूल उत्पन्न होनेवाली परिस्थितिसे लाभ उठाना भी जानते थे। यही है उनकी सफलताका रहस्य। महायुद्धके समय यद्यपि आन्दोलन मिटसा गया था; पर लेनिनने महायुद्धको ही अपने प्रचारका साधन बना लिया। यही है सच्ची नेतागिरी। शासनसूत्र हाथमें आजानेके बाद भी बीच-बीचमें गृहकलह उत्पन्न होते रहे। इधर साम्यवादियोंने जर्मन सरकारसे सन्धि करके युद्धसे अपना गला छुड़ाया।

लेनिन चाहते थे कि चारो ओरके अप्रिय झगड़ोंसे एक बार अपनी जान बचाकर तब देशमें साम्य-वादि-सिद्धान्तोंका प्रचार स्थायी रूपसे कर डाला जाय। जबतक जनताकी मनोवृत्ति नहीं बदली जायगी, तबतक साम्यवाद स्वभावमें परिणत नहीं हो सकेगा। ऊपरका संस्कार अस्थायी होता है। हृदयका परिवर्त्तन हो जाना आवश्यक है। बल-पूर्वक किसी सिद्धान्तको जनतापर लाद देना उचित नीति नहीं है।

लेनिन जानते थे कि यदि जनताका हृदय-परि-वर्त्तन नहीं किया जायगा, तो वह साम्यवादके गढ़में किसी-न-किसी दिन आग लगा देगी। स्वभावसे साम्यवादिनी बन कर ही जनता यथार्थतः साम्यवा-दिनी बन सकेगी। लेनिनने पहले जनताके हृदयसे गुलामीकी आदतको निकाल बाहर करनेका प्रयत्न किया। दब्बू और हताश रूसी जनताको सीना तानकर खड़ा करनेके मार्गमें रूसकी अशिक्षाने रोड़े अटकाना शुरु किया; पर जिन लेनिनने अपने प्रबल भुजदंडोंसे महापराक्रमी जारशाहीका अन्त कर डाला था, उनके लिये निरक्षरता कोई बड़ी बात नहीं थी। एक ओर तो लेनिन गृहकलह आदि-का सामना करते और दूसरी ओर देशके कोने-कोनेमें बिजलीका प्रकाश फैलाते, पाठशालाका जाल बिछाते और नये-नये यन्त्रोंकी सहायतासे देशकी उत्पादन-शक्ति बढ़ानेका प्रयत्न करते। लेनिनने रूसके लिये ही रूसपर शासन करना आरम्भ किया और अत्यन्त सफलता-पूर्वक शासन-चक्र चलाया। क्रान्ति, युद्ध और गृहकलह ने रूससे न्याय और शासनका अन्त कर डाला था, दरिद्र बना दिया था। रूस कुछ ही वर्षोंके संघर्षसे ५०० वर्ष पीछे हट गया था, उसे लेनिने अपने बाहुबलसे खींचकर १०० वर्ष आगे पहुँचा दिया। १९१९ ई० का रूस मानों २०१९ ई०का रूस बन गया। यह एक उदाहरण मात्र है। इस नन्हेसे लेखमें लेनिन या रूसके सम्बन्धमें क्या लिखा जा सकता है?

(७)

ई० १९१८ की बात है। क्रान्ति होनेके बाद रूसमें जो भयानक अव्यवस्था फैली, उसका सामना लेनिनने किया। लेनिन विरोधियोंको दबाना नहीं चाहते थे; बलिक कुचल डालना चाहते थे। ई० १९१८ में जब सरकारपर साम्यवादियोंका अधिकार होगया, तब, शेष रूसी प्रान्तोंने अपनी-अपनी स्वतन्त्रताकी अलग-अलग घोषणा कर दी। पुराने सेनापतियोंने एक-एक प्रान्तपर अपना शासन-चक्र चलाया। केन्द्रमें नाम मात्रका ही साम्यवादी शासन कायम होकर रह गया। चारो ओर अपने शत्रुओंसे जिस समय घिरकर साम्य-वाद दम तोड़ रहा था, उस समय लेनिनने भया-नक साहससे काम लिया। लेनिन मनुष्य पह-चानना जानते थे। उन्होंने ट्राट्स्कीको इस कामके लिये चुना। ट्राट्स्की मनुष्य रूपमें व्याघ्र है। उसने विरोधियोंका लत्ता लत्ता उड़ा दिया।

लेनिनकी भूलसे ही यह कुकाण्ड हुआ था। उन्होंने अपने बहुतसे विरोधियोंको, जिन्हें प्रारम्भ-में पकड़ लिया था, हठात् क्षमादान कर दिया। इस प्राणदानका परिणाम हुआ गृहकलहमें घृता-हुति! बड़ी कठिनाईसे परिस्थितिको अपने काबूमें करके लेनिनने रूसका पतवार सम्हाला।

ट्राट्स्कीको चार वर्षोंतक लगातार रेलपर ही रहकर समस्त देशमें मोर्चोंकी व्यवस्था करनी पड़ी। एक कुशल सेना-नायककी तरह ट्राट्स्कीने सब कुछ किया।

एक बार लेनिनपर घातक आक्रमण भी किया गया। इस आक्रमणका परिणाम यह हुआ कि उनका

स्वास्थ्य गिर गया। कार्यका असंख्य बोझ और नाना प्रकारकी चिन्ताओंने भी उनके चित्तको चूर-चूर कर दिया था। रात-दिन गम्भीर चिन्तामें लीन रहनेके कारण लेनिनके स्वास्थ्यने टका-सा जवाब दे दिया। क्रान्तिके दिनोंमें और शासन-संघटनके दिनोंमें लेनिनको एक-एक सप्ताहतक रात-दिन काम करना पड़ा था। क्रान्तिके दिनोंकी बात जाने दीजिये। शासन-सभाका जिस समय संघटन हुआ था, उस समय लेनिनके सिरपर भयानक कार्यभार आ पड़ा था। ७ रात, ७ दिन वे लगातार काउंसिलकी बैठकोंमें रह गये। जरा समय मिलता तो बैठे-बैठे कुर्सीपर ही एकाध झपकी ले लेते। न खानेकी याद और न सोनेकी चिन्ता! लेनिनने अपने स्वास्थ्यकी परवाह नहीं की और राष्ट्रकी नींवके पत्थरोंके साथ अपने शरीरको भी खपा दिया। रूसकी सोवियट सरकार जिस नींवपर खड़ी है, वह नींव लेनिनकी छातीपर रखी गयी है।

तमंचेकी भयानक गोलीसे बचकर लेनिन कालके फंदेमें फस गये। उन्हें लकवा मार गया; पर उनकी कार्य-क्षमता ज्यों-की-त्यों बनी रही।

एक बार लेनिनने अपनी मृत्युकी झूठी शोहरत मचवा दी। लेनिन सोवियट सरकारके प्रधान थे। वे देखना चाहते थे कि उनके बाद सरकारका कैसा रूप रहता है। लेनिनके निजी डाक्टर और क्रुप्स्काया के अतिरिक्त असली रहस्य कोई भी नहीं जानता था। समस्त संसारमें साम्यवादी आचार्यकी मृत्युकी खबर उड़ गयी। जनताने भी जी खोलकर शोक मनाया। मन्त्रि-मण्डलका नया चुनाव हुआ। गम्भीर हड़ताल हुई। सरकारी तौरपर शोक मनाया गया। लेनिन चुपकेसे रातको उठकर बाजारमें आते और अपने शोक-समारोहमें स्वयम् भाग लेते। यह अवसर शायद ही किसीको मिला होगा। उन्होंने कल-कारखानोंमें जाकर देखा, देहातियोंसे मिले, सरकारी कर्मचारियोंसे बातें कीं और सैनिकोंसे मिलनेके बाद अपने जी उठनेकी घोषणा कर दी। शोक-समारोह आनन्दोत्सवके रूपमें परिणत हो गया।

लेनिन यह नहीं चाहते थे कि साम्यवादके सिद्धान्तोंका आदर मेरे व्यक्तित्वके कारण किया जाय। वे यदि देख पाते कि उनके बाद ही साम्यवादके सिद्धान्तोंको जनताने ठुकरा दिया, तो सम्भवतः कोई नया रास्ता निकालते।

कालकी गति विचित्र होती है। एक दिन उसने उस वीर लेनिनको अपनी चुटकियोंसे मसल दिया। जिसका जारके लाखों सैनिक, सैकड़ों हवाई जहाज, सैकड़ों जंगी जहाज, हजारों तोपें, लाखों बमगोले कुछ भी न बिगाड़ सके। वही लेनिन २१ जनवरी, १९२४ को अन्तिम बार लेट गये।

उन्होंने पराधीन देशमें, मृत्युसे ५४ वर्ष पहले, अपनी आँखें खोली थीं और २१ जनवरी १९२४ को एक शक्तिशाली स्वाधीन देशमें अपनी आँखोंको अन्तिम बार बन्द किया। यह ५४ वर्ष न केवल रूसके इतिहासके लिये ही विचित्रतासे भरे हुए हैं; बल्कि संसार की राजनीतिमें इन ५४ वर्षोंको विशेष स्थान मिला है। इन्हीं ५४ वर्षोंके बीचमें संसारके अनेक युग-प्रवर्तक महात्मा वसुधा-तलपर आये। १८७० और १९२४ के भीतर ही लेनिन (१८७०), कमाल पाशा (१८८०), मुसोलिनी (१८८३), रजाशाह (१८७७), डी-वेलरा (१८८२), तानाशाह हिटलर (१८८९) में संसारमें पधारे।

इतना ही क्यों, इसी १८ वीं शताब्दीके पिछले भागमें संसारके सर्वश्रेष्ठ महापुरुष महात्मा गान्धी भी धरातलपर पधारे हैं। यह शताब्दी धन्य है। निश्चय ही आज लेनिन नहीं है। संसारका नियम ही ऐसा है। लेनिन एक राजनीतिक जादूगर थे। यद्यपि उनके नामपर नरकके घृणित छींटे आज भी झलक रहे हैं; पर झोपड़ीमें जन्म लेकर महलोंमें मरनेवाले इस महावीरका यशःशरीर अमर ही रहेगा। कालमें इतनी शक्ति कहाँ, जो वह इतिहासके पृष्ठोंपरसे सहसा लेनिनका नाम मिटा दे, स्मृति-की चित्रशालामेंसे उनकी देहातीसी सूरतवाले चित्रको हटा दे!

ट्राट्स्की

प० मोहनलाल महतो

सन् १८८९ की घटना है। रूसमें एक गाँव है "जनौका"। १८८० में वहाँ एक सम्पन्न यहूदी-परिवार रहता था। यह परिवार न तो अत्यन्त धनी था और न दरिद्र। नमक-रोटीका सुखी था। उस समयके कानूनके अनुसार इस यहूदी-परिवारके अधीन भी खरीदे हुए दासोंका एक छोटासा दल था और था घोड़े, भेंड़, बकरियोंका झुंड। खेती भी होती थी और गाँवमें इस परिवारका मान भी था। गरीब किसान, मजदूर इसके कृतज्ञ थे। इस परिवारमें तीन व्यक्ति थे। एक गृहस्वामी, दूसरा गृहस्वामिनी और तीसरा एक ८।१० वर्षका बालक। यह बालक सुन्दर और तेज था। एक दिन इस बालकने अपने दरवाजेपर मार पीट और रोदन-क्रन्दनका हँगामा सुना। वह हाथकी मक्खन-रोटी फेंककर चौपालपर दौड़ आया। वहाँ इसने देखा कि दासोंका मेठ एक 'दास' को अन्धा-धुन्ध पीट रहा है। इसकी आँखोंसे आग बरसने लगी। इसके पिता भी खड़े थे। यदि इसके पिताकी अनुपस्थितिमें यह उपद्रव होता, तो यह समझता कि पिताजी इस अत्याचारसे अनवगत हैं; पर इसने देखा कि पिताजी खड़े हैं और मेठके कोड़े गरीब दासकी नंगी पीठसे खून छलका रहे हैं। मनुष्यता हाहाकार ! कर रही है!

उस दृश्यने बालकके कोमल हृदयको रुला दिया। वह भागता हुआ अपने कमरेमें घुसा और तकियेमें मुँह छिपाकर रोने लगा। वह यह सोच भी नहीं सकता था कि किसी गरीब आश्रित को इस तरह सताना जमींदारी प्रथाकी दृष्टिसे नीतिविहित हो सकता है। इस बालकका नाम कुछ दूसरा ही था; पर यही आगे चलकर "ट्राट्स्की" नामसे रूस-साम्राज्यके विध्वंसकके रूपमें हमारे सामने प्रकट हुआ।

ट्राट्स्कीका पिता साम्यवादी विचारोंका पोषक था। ट्राट्स्कीके लिये यह एक अच्छाता उदाहरण था। यहाँ इतना लिख देना आवश्यक होगा कि ट्राट्स्कीकी माता ईश्वरपर विश्वास रखती थी और उसके पिता पल्ले सिरेके ईश्वर-

द्रोही थे। ट्राट्स्कीपर पिताका ही प्रभाव पूर्ण मात्रामें पड़ा। ट्राट्स्कीकी शिक्षाका श्रीगणेश उसके गाँवसे ही हुआ। वह अपनी पाठशालामें श्रेष्ठ स्थान रखता था। ट्राट्स्कीकी कोटिका अध्ययन-शील आज भी संसारमें खोजनेसे नहीं मिल सकता। लड़कपनसे ही वह बड़ा ही अध्ययनशाली है। अक्षरज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद ट्राट्स्कीने पुस्तकोंपर दृष्टि डाली। जिस पुस्तकको वह पाता, उसमें चिपक जाता।



ट्राट्स्की

ट्राट्स्कीको देहातका जीवन अतिशय प्रिय था। वह अपने पिताकी आँखें बचाकर किसानों और मजदूरोंकी टोलियोंसे मिलता तथा उनकी गरीबीका मूल कारण खोजा करता। वह सोचता कि ये मजदूर फटे कपड़े क्यों पहने रहते हैं ? इन्हें अच्छा भोजन क्यों नहीं मिलता ? आखिर इनकी कमाईसे जब हम दोनों जून मक्खन, पनीर, गोश्त, शराब और सुस्वादु रोटियोंसे अपना स्वास्थ्य सुधारते हैं, तब इन्हें राईकी मोटी और काली रोटियाँ ही क्यों दी जाती हैं ?

पाठशालासे निकल कर ट्राट्स्की स्कूलमें पहुँचा। उस समय वह ९ वर्ष का था। यह स्कूल रूसके प्रसिद्ध बन्दरगाह "ओडेसा" में था। बन्दरगाह होनेके कारण यहाँ मजूरोंकी कमी नहीं थी। उसने देहाती और शहरके मजदूरोंके पार्थक्यपर आलोचनात्मक दृष्टि डाली। प्रत्यक्षतः दोनोंकी अवस्थामें समानताका अभाव था; पर गहराईमें जाकर दोनों एक ही दशामें थे। देहाती मजदूरोंके कपड़े कीचड़से भरे रहते थे, तो उन जहाजी मजदूरोंके कपड़ों पर कोयलेका काला रंग जमा रहता था। वे यदि बाँसकी छड़ीसे पिटे जाते, तो इनपर खूब सुन्दर दामी चमड़ेके कोड़ोंसे मार पड़ती थी। उन्हें यदि काली राईकी रोटी मिलती थी, तो इन्हें सड़ा हुआ मांस और जौकी काली रोटियाँ मिलती थीं। हाँ, एक सुविधा थी और वह थी सुन्दर "कलवरिया !"

ट्राट्स्कीने सोचा कि देहाती जमींदार तो स्वयम् भी उतने धनी नहीं होते, वे अपने मजदूरोंको क्या दें; पर बड़ी-बड़ी कंपनियोंको तो धनका अभाव नहीं है; फिर इन मजदूरोंकी दशा खराब क्यों है ?

(२)

१८९३ ई०में ट्राट्स्की अपने जीवनके १३ फाटकोंको पार करके चौदहवेंके द्वारपर पहुँचा। उसी समय उसके हाथमें "स्ट्रूवे" की एक पुस्तक पड़ी। वह ग्रन्थकीट तो था ही। साम्यवादी सिद्धान्तोंपर लिखी गयी इस पुस्तकने उसके दिमागको चकरा दिया। वह खोज-खोज करके साम्यवादी साहित्यको पढ़ने लगा और देखते-देखते वह एक पक्का साम्यवादी बन बैठा। वह न केवल स्वयम् ही साम्यवादी बना; बल्कि अपने

स्कूलमें उसने साम्यवादकी ऐसी लहर फैला दी कि अध्यापकोंको स्थिति सम्हालना दूभर हो गया। स्कूलोंका रूप उग्र राजनीतिक सभाओंके रूपमें परिणत हो गया।

एक बार ट्राट्स्कीने अपने पिताको देशकी बाह्य और आन्तरिक स्थितिको समझा कर यह बतलानेका प्रयत्न किया कि अब जारशाहीका अन्त होना ही चाहता है। किसी साम्राज्यके पतन होनेमें जिन-जिन बुराइयोंका खास हाथ रहता है, उन बुराइयोंकी ओर लक्ष्य करके ट्राट्स्कीने अपना मत पुष्ट किया। ट्राट्स्कीके पिता यद्यपि निहिलिस्ट थे; पर थे पुराने विचारोंके पोषक। उन्होंने कहा कि, "बेटा, अभी तीन सौ वर्ष और ठहरो।" ट्राट्स्कीने गम्भीर होकर कहा, "तीस वर्ष भी बहुत हैं।"

कहना न होगा अनुकूल समयपर जारशाहीको पैरोंसे दबाकर ट्राट्स्कीने पूछा —"पिताजी, कितने वर्ष हुए?" उस सौभाग्यवान वृद्धने बच्चोंकी तरह मुस्किराकर कहा—"बेटा, इस बार तेरी ही बात रही।"

१८९६ में ट्राट्स्की अपने गाँवको गया। वह एक पक्का ध्वंसवादी और उग्र साम्यवादी बन गया था। स्वाध्याय और मननने ट्राट्स्कीके हृदय-को समयके पहले ही प्रौढ़ बना दिया था। घर पहुँचकर उसने अपने पुराने कमरेपर अधि-कार जमाया। देखते-देखते समस्त कमरे पुस्तकों-से भर गये। समस्त दिन ट्राट्स्की कमरेके भीतर ही बन्द रहता था। स्वाध्याय और मनन उसका जीवन था।

इस बार ट्राट्स्कीका पितासे कुछ झगड़ा हो गया। पिता चाहते थे कि पुत्र इंजीनियर हो और पुत्र अर्थशास्त्रका विद्वान् होना चाहता था। पिता-की कामना थी पुत्र टके पैदा करनेका साधन बने और पुत्रकी इच्छा थी कि वह अपनी मातृभूमि-की सेवा करे। दोनोंका मत एक नहीं हुआ। ट्राट्स्कीने अपने घरको प्रणाम किया और अपने चाचाके साथ, जो ओडेसाके जहाजी बन्दरमें इंजीनियर थे, चला आया।

चाचाके साथ रहकर ट्राट्स्कीने खूब जमकर अध्ययन किया। खूब लिखा और खूब पढ़ा। वह "पैंफलेट" लिखनेमें अपना श्रेष्ठ स्थान रखता है। जार्ज बर्नार्ड शाने ट्राट्स्कीको पैंफलेट लेखकों का राजा स्वीकार किया है।

रात-दिन स्वाध्यायमें लिप्त रहनेके कारण ट्राट्स्काका पेट खराब हो गया। वह सदा पेटकी शिकायतसे परेशान रहने लगा। न तो वह विश्राम करना जानता है और न मन बहलाना। केवल स्वा-ध्याय और लेखन-व्यापारसे स्वास्थ्यपर आघात पहुँचना स्वाभाविक है।

(३)

रूसमें एक स्थान है निकोला। १८९६ में ट्राट्स्कीने अपना सच्चा काम सम्हाला। समस्त संसारसे अपना ध्यान हटाकर ट्राट्स्कीने इसी सन्-से क्रान्तिका चक्र चलाना आरम्भ किया। निकोला पहुँच कर उसने धीरे-धीरे अपना प्रचार करना शुरू किया। ट्राट्स्कीने मजदूरोंमें परचे-पर-परचा बाँटना शुरू किया। आये दिन कोई-न-कोई परचा निकल जाता। इन परचोंको अधिकारी सशंक दृष्टिसे देखते थे। ट्राट्स्कीकी लेखन-शैली बहुत ही भयानक थी। इन परचोंने आग भड़काना शुरू किया। मजदूरों और साधारण जनताका ऐसे परचोंको पढ़-पढ़ कर, बौखला उठना स्वाभा-विक था। अधिकारियोंका ध्यान परचोंके लेखककी ओर गया।

कुछ लड़कोंने मिलकर एक छोटासा साइक्लोस्टाइल बना लिया था। बस, इसी साइक्लोस्टाइलपर परचे छपते थे। यह कौन जानता था, यह लड़कखेल किसी दिन रूस-साम्राज्यको समाप्त कर देनेका कारण बन जायगा!

ट्राट्स्की रातोरात निकोलासे छिपकर ओडेसा जाता और वह परचे निकाल कर तथा संघटित दलको कार्यक्रम बतला कर निकोला लौट आता। ये दोनों ही स्थान रूसके कारखानोंके केन्द्र माने जाते हैं। ओडेसा और निकोलाको मजदूरों और कारखानोंका घर कहना चाहिये। ट्राट्स्कीने बारूदखानेमें ही आग लगा दी।

आखिर ट्राट्स्की पकड़ा गया। कई जेलोंकी हवा खा लेनेके बाद ही वह सीधे साइबेरियाकी ओर धकेल दिया गया। यह सन् १९०० की घटना है। उस समय तक ट्राट्स्कीका नाम ट्राट्स्की नहीं पड़ा था। वह ब्रान्स्टेनके नामसे विख्यात था। निर्वासनके पहले ट्राट्स्कीने लेनिनका नाम सुना था। लेनिनकी लिखी हुई पुस्तक—"रूसके पूँजीवादका विकास"—उसी समय प्रकाशित हुई थी। ट्राट्स्कीने इस पुस्तकको पढ़ कर अपने विचारोंमें बहुत संशोधन किया। इतना ही नहीं वह लेनिनकी लेखनीका भक्त बन बैठा। इसी समय ट्राट्स्कीने भी एक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक मजदूरोंपर लिखी गयी थी। बड़ी तिकड़मसे यह जेलके बाहर भेजी गयी, जो जिनेवामें छप गयी।

एक बात और सुन लीजिये। ट्राट्स्कीके साथ क्रान्तिकारी आन्दोलनमें काम करनेवाली अलेक्जेंड्रा नामकी एक सुन्दरसी लड़की थी। यह एक भयंकर प्रकृतिकी लड़की थी। बचपनसे इसे बड़ा स्नेह था, आफतोंसे इसे बड़ी उल्फत थी। यह पल्ले सिरेकी क्रान्तिवादिनी थी। ट्राट्स्कीके भयानक विचारोंको वह दिलसे प्यार करती थी। नवयुवक ट्राट्स्की यह चाहता था कि दोनों सदा साथ रहें। तत्कालीन रूसके नियमानुसार पति-पत्नीको निर्वासनमें साथ-साथ रहनेका अधिकार था। मास्कोके जेलमें ट्राट्स्कीने अलेक्जेंड्रासे केवल इसी लिये ब्याह कर लिया कि इसके साथ रहनेसे उसके विचारोंमें कुछ प्रगति आ जाती थी।

दक्षिणी रूसी श्रमिक-संघके परम तेजस्वी नेता ट्राट्स्कीने अपनी गृहस्वामिनीके साथ साइबेरियाकी ओर प्रस्थान किया। यहाँ खूब जमकर ट्राट्स्कीने अध्ययन किया।

कोई दो वर्षों तक निर्वासनका मजा लूटकर ट्राट्स्कीका मन ऊब उठा। उसकी स्त्री अपने दो बच्चोंके साथ वहीं रह जानेको तैयार हो गयी। ट्राट्स्की एक दिन चुपकेसे निकल भागा। वह नगर-पर-नगर पार करता हुआ रूसके "समारा" नगरकी ओर भागा। यहाँ उतरकर वह फिर अपनी क्रान्तिकारिणी योजनाको कार्य रूपमें परिणत करने लगा। उसने अपनी लौह लेखनीसे ऐसी आग भड़कायी कि अधिकारियोंमें बौखलाहट फैल गयी। समारामें ट्राट्स्कीकी खोज आरम्भ हुई। पत्ता-पत्ता छान डाला गया, जर्रा-जर्रा ढूँढ़ डाला गया, पर ट्राट्स्कीके लिखे हुए परचोंके अतिरिक्त किसीको उसकी झाँकीतक नहीं मिली।

लेनिन उन दिनों लन्दनमें थे। वहाँ बैठे-बैठे वे रूसका नेतृत्व करते थे। ट्राट्स्कीके परचोंको पढ़कर वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उसे अपने पास बुला लिया।

लेनिनने ट्राट्स्कीको पाकर अपने आपको पूर्ण समझा; क्योंकि उन्हें एक ऐसे ही धुरन्धर कर्मवीर और साथ ही विद्वान्की आवश्यकता

थी। आज भी ट्रात्स्की संसारका न केवल एक भयानक मनुष्य है; बल्कि प्रचण्ड विद्वान् भी है। बड़े-बड़े विद्वान् आज भी उसके प्रशंसक हैं।

ट्रात्स्कीकी भाषण-क्षमता भी तूफानी है। उसका आलोचक यह निर्णय नहीं कर सकता कि वह सबसे बड़ा षड्यन्त्री है या विद्वान् है, लेखक है या व्याख्यानदाता है, स्वाध्यायी है या भीमकर्मा है, राजनीतिज्ञ है या साहसी सिपाही है

लन्दन पहुँच कर ट्रात्स्कीने लेनिनके हृदय-पर अपना अधिकार जमा लिया। लन्दनमें भी ट्रात्स्की स्थिर नहीं रहा। वहाँ भी उसने अपने हाथ-पैर फैलाये और भगोड़े रूसी नेताओंका जबर्दस्त संघटन कर दिया। इस नव संघटितदल-ने लन्दनमें बैठकर ही रूसको क्रान्तिका विधि वत् संचालन आरम्भ कर दिया। उसका प्रधान सम्पादक स्वयम् लेनिन थे। सम्पादक-मण्डमें ट्रात्स्कीको स्थान मिला। यह नवयुवक ट्रात्स्कीके पाण्डित्यकी अपूर्व विजय थी। ट्रात्स्कीको उसके दलके लोग "पेरो" नामसे पुकारते थे। पेरो रूसी भाषामें कलमको कहते हैं। यद्यपि प्रत्येक क्रान्ति-सदस्यका अलग-अलग गुप्त नाम परस्पर परिचय प्रदान करनेके लिये रखा जाता था; पर ट्रात्स्की-का तो 'कलम' नाम ठीक पड़ गया। यह कलमका धनी माना जाता था और आज भी माना जाता है।

(४)

ट्रात्स्कीने क्रान्तिकी जैसी आग रूसमें भड़कायी थी, वैसी आग किसीने भी नहीं भड़कायी। उसके भाषणोंमें गजबका बल होता था। एक बार ट्रात्स्की-को प्रधान जजके सम्मुख अपराधीके रूपमें उपस्थित होना पड़ा। उसे अपना बयान भी देना पड़ा। वह बोलने लगा। चारों ओर भयानक सन्नाटा छा गया। वह साम्यवादपर धाराप्रवाह बोल रहा था और मूर्तिसे बने जज महोदय सुन रहे थे। वे अपने आपको इतना विसार बैठे थे कि ट्रात्स्की-को इस प्रकार अराजकता-पूर्ण भाषण देनेसे रोक नहीं सके। ट्रात्स्कीका बयान जब समाप्त हो गया, तब मानों पूरी अदालत नींद से जाग उठी। इस भाषणका प्रभाव ऐसा पड़ा कि अदालतमें भया-नक दंगा होते-होते बचा। अधिकारी और गैर-अधिकारी सभीके हृदयमें उत्साहकी बिजली फैल गयी।

जारशाहीके पतनके * बाद रूसका शासन मैनसेविकोंके हाथमें चला गया था। जारशाहीका किला जैसे ही टूटा, वैसे ही दल-के-दल साम्य-वादी रूसमें पहुँच गये। कोई साइबेरियासे भागा पहुँचा तो कोई जिनेवासे। अमरीकी ताकमें लेनिन भी थे। वे भी आ पहुँचे और ट्रात्स्की भी पेट्रोग्रेड पहुँचा। वहाँ उसका उत्साहपूर्ण स्वागत हुआ। उसने वहाँ पहुँचते ही घोषणा कर दी कि, "हम दूसरी क्रान्ति करेंगे। शासन करनेका अधिकार साम्यवादियोंको है अल्पमत और उदार मतवालोंको नहीं।" उन दिनों करेंस्की की कामचलाऊ सरकार रूसकी बागडोर संभा-लनेका विफल प्रयत्न कर रही थी। एक बार फिर ट्रात्स्कीपर दुर्दैवकी कोपदृष्टि पड़ी और वह जेलमें बन्द कर दिया गया। दूसरी क्रान्तिने उसके फाटक तोड़ डाले। ट्रात्स्की फिर खुली हवामें पहुँचा और देखते-देखते समस्त पेट्रोग्रेडको साम्यवादी झंडेके नीचे खड़ा कर दिया। करेंस्की सरकारका बुरी तरह पतन हुआ।

*जारशाहीके पतनका संक्षिप्त परिचय लेनिनकी जीवनीमें दिया गया है।—सम्पादक

यद्यपि ट्राट्स्कीने अपनी मातृभूमिको स्वतन्त्र रूपमें देखा; पर उसके भाग्यमें अभी विपत्ति भोगना बदा था। वह साम्यवादी सरकारका युद्धमंत्री बनाया गया। क्रान्तिके युगमें रूसके सभी प्रान्त अलग-अलग स्वतन्त्र हो गये थे। उनका सम्बन्ध केन्द्रसे छूट गया था। साम्यवादियोंके हाथ केवल कुछ नगर लगे और इतनेसे वे अपनी नीतिकी रक्षा नहीं कर सकते थे और न अपनी सरकार ही स्थापित कर सकते थे। ट्राट्स्कीने कमर कस कर सैनिक-संघटनका कार्यक्रम शुरू किया और लेनिनने केन्द्रमें प्रधानताका पद ग्रहण किया।

ट्राट्स्की अत्यन्त परिश्रमी है। वह काम करते समय अपने आपको बिसार बैठता है। एक बार वह साम्यवादी सरकारके संघटनके अवसरपर इतना तन्मय हो गया कि उसे कई दिनोंतक भोजन करनेका ही अवसर नहीं मिला। न उसे खानेकी बात याद थी। अपने आफिसमें वह हठात् गश खाकर गिर पड़ा। डाक्टर दौड़ा। जाँचसे पता चला कि उसके पेटमें अन्नके नामपर कुछ भी न था। पूछनेपर ट्राट्स्कीने कहा कि, "मुझे याद नहीं है कि पिछली बार मैंने किस दिन भोजन किया था।" यही है ट्राट्स्कीकी महत्ताका रहस्य। इसी भीमकर्माके हाथमें तलवार देकर विरोधियोंका सामना करनेका भार लेनिनने सौंपा।

ट्राट्स्की कोई तीन वर्षोंतक लगातार एक ही ट्रेनपर पड़ा रहा। वह समस्त रूसका दौरा करता था और प्रत्येक प्रान्तकी शासन-व्यवस्थापर कड़ी नजर रखता था। फौजी छावनियोंपर भी वह जाता था और थके हुए सिपाहियोंमें नयी उमंग भरकर आगे बढ़ता था। इस ट्रेनपर एक प्रेस भी था और थी एक विशाल लाइब्रेरी। ट्राट्स्कीकी इस ट्रेनपर तोपें थीं और सेनाका बल भी था। वायरलेसका सराहनीय प्रबन्ध था, जिसके द्वारा वह लेनिनसे दिनभर विचार-विमर्श किया करता था। एक सुदक्ष सेनानायककी तरह ट्राट्स्कीने, सैनिक दृष्टिकोणसे, साम्यवादी सरकारको अजेय बना दिया और गृहकलहका भी अंशतः अन्त हो गया।

जेनरल यूडेनिचका हमला रूसी क्रान्तिकी दिल दहलानेवाली घटना है। यह यूडेनिच उत्तर पश्चिमी रूसी श्वेत-सेनाका प्रधान सेनापति था। यह एक बड़ी ही अजेय सेनाका प्रधान था। जब रूसके केन्द्रपर साम्यवादियोंका कब्जा हो गया तब करेंस्की भागा हुआ वहाँ पहुँचा, जहाँ सैनिक छावनियाँ थीं। उन दिनों जर्मनीने रूसको दबोच रखा था। रूसमें क्रान्ति भी उसी समय हुई थी, जब चारो ओरसे उसपर हमले हो रहे थे और स्थिति भयानक थी। ठीक इसी अवसरपर जारशाहीकी गद्दी उलट गयी। सभी प्रान्त स्वतन्त्र जैसे हो गये। युद्धक्षेत्रमें पड़े हुए सैनिकोंकी सुधि लेनेवाला कोई भी नहीं रहा। उधर जर्मन सिपाही आफत मचाये हुए थे, इधर रक्षक सरकारका पतन हो गया। सिपाहियोंकी स्थिति भयंकर हो गयी। न तो बेचारे घर लौटनेके योग्य रहे और न आगे बढ़नेके। उसी समय सेनापतियोंका शासन आरम्भ हुआ। एक-एक सेनापति अपनी-अपनी सेनाके बलपर एक-एक प्रान्तका सम्राट् बन बैठा। उन्हीं विश्वास-घाती सेनापतियोंमें यह यूडेनिच भी था। इसके पास श्वेत-सेनाकी एक सुसज्जित टुकड़ी थी और शस्त्रास्त्र भी पर्याप्त मात्रामें थे। उसने सोचा कि केन्द्रपर ही अधिकार जमा कर अपने आपको रूसका सम्राट् घोषित कर डालना चाहिये। वह सीधे पीट्रोग्राडकी ओर लपका। अपने देशकी

स्थितिसे वह परिचत था। वह जानता था कि इस समय साम्यवादियोंकी सैनिक शक्ति कितनी है और शस्त्रास्त्र किस मात्रामें हैं। उसने समझ लिया कि बाजी हमारे हाथ रहेगी। साम्यवादी नेताओंका कलेजा भी दहल उठा। सबने समझा कि पीट्रोग्राडका पतन हो गया, तो साम्यवादी शासनका अन्त हुआ ही समझना चाहिये। इसी गोलयोगके अवसरपर ट्राट्स्की-ने पीट्रोग्राडकी रक्षाका भार अपने हाथोंमें लिया उसने देखते-देखते समस्त नगरको एक किलाके रूपमें परिणत कर दिया और कारखानोंके मजदूरोंको सैनिक बना कर यूडेनिचका नाकमें दम कर दिया। स्कूलके विद्यार्थी और मजदूर ऐसा लड़े कि यूडेनिचकी सेना समाप्त हो गयी। पीट्रोग्राडपर यह अन्तिम विपत्ति थी। ट्राट्स्की रात-दिन घोड़ेकी पीठपर रहता था। उसने दौड़-दौड़ करके कुछ सप्ताहोंमें ही समस्त पीट्रोग्राडको सैनिक रूप दे डाला। साधारण जनता मजदूर और विद्यार्थी उस युद्धमें शेरोंकी तरह लड़े। यूडेनिच एक विख्यात योद्धा था। उसकी सेनाको रूसी अजेय मानते थे; पर वेतनभोगी नौकरों और मालिकोंकी हिम्मतमें बड़ा अन्तर पड़ता है। उस असाध्य-साधनमें ट्राट्स्कीको जानकी बाजी लगानी पड़ी थी। अन्तमें पूर्ण विजयी होकर जनताके सामने छाती तान कर वह खड़ा हुआ।

(५)

यह ट्राट्स्कीके भाग्य-रविका मध्य दिवस था। वह पूर्ण वेगसे चमक रहा था; पर घटाकी तरह स्टेलिन धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था। स्टेलिन भी लेनिनका साथी था; पर यह सदासे संकीर्ण-हृदय-का है। लेनिन इसकी चालबाजियोंपर ध्यान रखते थे। उस समय स्टेलिन बड़ी सफाईसे ट्राट्स्कीके प्रतिकूल जाल बुनने लगा—जब वह तीन वर्षोंतक लगातार ट्रेनपर ही बना रहा। एक प्रकारसे ट्राट्स्कीका प्रभाव रूससे उठता ही गया था। तीन-तीन वर्षोंतक समस्त देशकी आँखोंसे वह ओझल रहा। इन्हीं दिनों स्टेलिनकी बन आयी। उसने लोकमतको ट्राट्स्कीके प्रतिकूल प्रस्तुत कर लिया। ट्राट्स्कीकी प्रकृति उद्धत भी है।

लेनिन ट्राट्स्कीको अत्यन्त प्रेमभरी दृष्टिसे देखते थे और लेनिन एक नरव्याघ्र थे। लेनिनके सामने सभी। साम्यवादी नेता नतमस्तक रहते थे। किसका साहस जो जुबान हिलावे! स्टेलिन भी अवसरकी ताकमें मन मसोस कर बैठा रहता था। ट्राट्स्कीकी उग्र नीतिको ही उसने अपना अस्त्र बनाया। हाँ, यह बात अवश्य थी कि ट्राट्स्की अत्यन्त कठोर अधिकारी था। क्षमा, दया, शान्ति, आलस्य, लापरवाही आदिका ट्राट्स्की शत्रु था। वह लोहेके पंजेसे अपने अधीनस्थ कर्मचारियोंपर शासन करता था। नियमोंकी उपेक्षा वह सहन नहीं कर सकता था। छोटी-छोटी बातपर वह प्राण-दण्डसे अपने सैनिकोंको दण्डित कर देता था।

ट्राट्स्कीकी इन्हीं कठोरताओंने उसे अपने दलकी नजरोंसे गिरा दिया। दैवात् ट्राट्स्कीके प्राण लेनिनपर भी महाकालकी काली छाया पड़ गयी। सन् १९२२—२३ में लेनिन लकवेसे पीड़ित हुए और बोलने तथा चलने-फिरनेसे भी रहित हो गये। स्टेलिन और कैमेनेवने मिल कर ट्राट्स्कीका विरोध करना शुरू किया; पर लेनिन शीघ्र स्वस्थ हो गये। जुलाईमें वे चलने-फिरने लग गये थे। मार्चके अरंभमें लेनिनपर लकवेका दूसरा हमला हुआ और ट्राट्स्की कमरके दर्दसे खाटपर पड़ गया। इसमें सन्देह नहीं कि लेनिनके

बाद ट्राट्स्कीका नम्बर आता है। ट्राट्स्कीको अनेक दृष्टि-कोणोंसे लेनिनसे भी भयंकर कहना पड़ेगा। वह यदि इसतरह खाटपर नहीं पड़ गया होता, तो स्टेलिनके दलकी दाल नहीं गलती। ट्राट्स्कीका एक ही हुँकार सारे मायाजालका अन्त कर डालता; पर परमात्माकी इच्छा ही ऐसी थी। स्टेलिनने सँभल कर ट्राट्स्कीके प्रभावपर वार किया और वह लेनिनके जीवनके साथ ही साथ समाप्त हो गया। राजनीतिक क्षेत्रमें गुटबन्दी एक महाभयानक वस्तु है। दलबन्दीके अभावमें बड़े-बड़े मेधावी नेता भी अपनी शक्तिका उपयोग नहीं कर सकते। ट्राट्स्कीकी कड़ाईसे उसके दलका अन्त तो पहले ही हो चला था; किन्तु एक अकेले लेनिन ही पचास करोड़ मनुष्योंसे भी अधिक प्रभावशाली थे। लेनिन ट्राट्स्कीको अत्यन्त विश्वासकी दृष्टिसे देखते थे। लेनिनके सामने—लेनिनके रहते—ट्राट्स्की शेर था। किसका साहस, जो उसकी ओर नजर उठाकर भी देखे; परन्तु लेनिनका अन्त होते ही स्टेलिनका जादू चल गया। जो लेनिनके जीवन-कालमें ट्राट्स्कीके सेक्रेटरियोंसे बातें करनेकी भी हिम्मत नहीं रखते थे; वे ही खुलेआम ट्राट्स्कीका विरोध करने लगे।

जिस समय लेनिनकी मृत्यु हुई थी, ट्राट्स्की देहातमें था। वह अबतक बीमार था। उसे तार-द्वारा यह बतलाया गया कि "लेनिनकी मृत्यु हो गयी ." साथ ही यह भी शुभ सम्मति दी गयी कि "आप अभी स्वास्थ्य सुधारिये। अभी अन्त्येष्टि संस्कारमें विलम्ब है।"

बात यह थी कि ट्राट्स्कीको सरासर धोखा दिया जा रहा था। स्टेलिन आदि नहीं चाहते थे कि ऐसे अवसरपर ट्राट्स्की राजनीतिक अखाड़ेमें उतरे। जनताका ट्राट्स्कीपर अटल अनुराग था। ट्राट्स्कीने एक दिन दोपहरको तोपोंकी भीषण गड़गड़ाहट सुनी तो उसका माथा ठनका। उसे विश्वास हो गया कि वह भ्रममें रखा गया है और समयसे पहले ही उसका नेता दफनाया जा रहा है। वह 'आह' करके रह गया।

वीर ट्राट्स्कीका हृदय बैठ गया। वह एक प्रकारसे ऊब उठा था। यद्यपि ट्राट्स्कीने एक बार फिर भी कुछ जोर मारा (और उसकी कहानी बहुत ही बड़ी है); पर स्टेलिनके दलको वह तितर-बितर नहीं कर सका। उसकी कमजोरी या असफलताका कारण था लेनिनकी निधनता। वह एक हारा हुआ, थका हुआ, हततेज, क्रान्तिकारी मात्र रह गया और स्टेलिनके षड्यन्त्रने विजय पायी।

एक रातको जब ट्राट्स्की ज्वर और मानसिक चिन्तामें अपने कमरेमें पड़ा था कि अचानक सशस्त्र सैनिक उसके कमरेमें बलपूर्वक घुस आये। ट्राट्स्की को पकड़ कर ले गये। ट्राट्स्कीकी स्त्री और बच्चे भी पकड़ लिये गये। इसी तरह ट्राट्स्कीके सभी समर्थक भी पकड़ कर रूसके बाहर कर दिये गये। यहींपर ट्राट्स्की-वादका पटाक्षेप होता है। जारशाहीका भक्षक आज भूखों मर रहा है। इतना ही नहीं आज ट्राट्स्की संसारका सबसे बड़ा विद्वान्, सुलेखक, क्रान्तिकारी और अभागा माना जाता है। संसारका कोई भी राष्ट्र उसे अपने यहाँ शरण नहीं देता। जनवरी १६, १९२७ को वह अपने देशसे खदेड़ दिया गया। तबसे आजतक वह भीमकर्मा रूसी नेता मारा-मारा फिर रहा है कहीं उसे सिर रखनेकी जगह भी नहीं मिलती। इतना होते हुए भी आज वह संसारके लिये भयका कारण है। उसकी लेखनी आज भी आग उगलती है, आज भी वह वैसा ही भयंकर है, जैसा पहले था।

वह जहाँ रहता है, वहाँ सशङ्क दृष्टिसे देखा जाता है। स्वाध्यायी ट्रात्स्कीका अब समस्त समय स्वाध्यायमें जाता है। उसने सदा खतरेमें रहना ही पसन्द किया और प्रतिकूल परिस्थितिमें ही अपनेको ऊँचा उठाया। आज ट्रात्स्कीकी लिखी हुई एक-से-एक महान् पुस्तकें पुस्तकालयमें हमारा स्वागत करनेको प्रस्तुत हैं। रूसी क्रान्तिका जो इतिहास उसने लिखा है, वह तीन भागोंमें समाप्त हुआ है और ४०।।) में हमें मिल सकता है। उसने लेनिनकी जो जीवनी लिखी है, वह संसारकी महान् पुस्तकोंमें विशेष स्थान रखती है। इतना ही नहीं उसने संख्यातीत बहुमूल्य ग्रन्थ लिखे हैं और वह बराबर लिखता जा रहा है।

स्टेलिन

पं० गोविन्दलाल झगर

आज ट्रात्स्की शक्ति रहते असक्त है, बल रहते बलहीन है, संसारमें मारा-मारा फिर रहा है। यह किसकी बदौलत? धूर्तराज स्टेलिनने उसकी यह दशा कर रखी है। विजयश्रीकी मस्तीमें ट्रात्स्कीने नहीं सोचा कि कल क्या होगा? एक छोटीसी चिनगारी उसके देशके १५ करोड़ अधिवासियोंके हृदयमें उसकी आवश्यकताको कल समाप्त कर डालेगी, यह बात उसके ध्यानमें भी नहीं आयी थी।

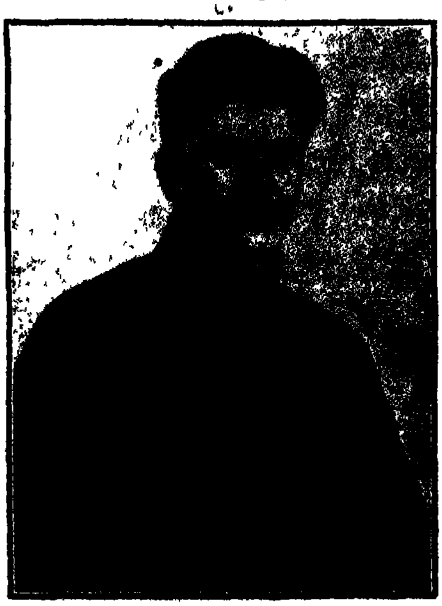
स्टेलिनका आज रूसमें बोलबाला है। ट्रात्स्कीकी दुर्गति देखकर आज किसीका साहस नहीं, जो इसके विरोधमें कुछ कहे। आज सारे रूसकी बागडोर इसीके हाथमें है। यूरोप और एशियाके महान् राष्ट्र आज इससे मित्रता स्थापित करनेके लिये लालायित हैं।

स्टेलिनकी क्षमता और उसका अधिकार कहाँ तक बढ़ा है, इसका अंदाजा इसीसे लगाया जा सकता है कि आज रूसमें उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं। आज रूसका वह तानाशाह है सर्वेसर्वा है और डिक्टेटर है। लेनिन मर चुका। ट्रात्स्की निर्वासित है। स्टेलिनकी आज्ञा ही आज रूसका कानून है। सोवियट संघके सभापतितकको भी जब चाहे वह कैद कर सकता है, निर्वासनके रोदेपर खींच सकता है। क्या मजाल जो कोई चूं भी करे!

कहा जाता है कि स्टेलिनको पहले उसके देशवासी भी नहीं जानते थे, बाहरवालोंकी तो बात ही क्या? स्वयम् लेनिनने एक बार ट्रात्स्कीसे पूछा था—"स्टेलिन क्या है?' जिसके उत्तरमें ट्रात्स्कीने कहा था—"स्टेलिन दलमें सर्वप्रधान साधारण व्यक्ति है।"

स्टेलिनका परिवार गरीब था। पिता मोचीगिरी करता था। इस छोटीसी आय द्वारा वह बड़ी कठिनाईसे अपने परिवारका पालन-पोषण

कर पाता था। काकेशस (causcasus) प्रांतका एक छोटासा नगर जार्जिया गरीब स्टेलिनका जन्म-स्थान था। सन् १८७९ की २१ वीं दिसंबरको उसका जन्म हुआ था। यह क्रिसमसका समय था। माता-पिताको भार हलका करनेका सुन्दर सुयोग हाथ लगा। इस महान् पर्व और पुण्य-कालके समय श्रद्धा-भक्तिसे प्लावित होकर दम्पतीने स्टेलिनको पादड़ी बनानेके लिये पादड़ियोंको सौंप दिया; पर भविष्य उसे दूसरे ही रूपमें रंगनेवाला था। वह ईश्वर-पूजक नहीं; बल्कि ईश्वर-विरोधी होनेवाला था। गिर्जों-को तोड़कर उसके स्थानपर अन्य उपयोगिनी संस्थाओंका निर्माण करनेवाला था। स्टेलिनका असली नाम जोज़फ़जुगा सविली है।



स्टेलिन

स्टेलिनकी प्रारम्भिक शिक्षा, १४] वर्षकी अव-स्थामें, टिफलिसके एक ईसाई विद्यालयमें हुई थी। इसके केवल दो वर्ष बाद ही वह क्रान्तिके झंडेके नीचे आ गया और अपने अध्यवसाय तथ धूर्तताके बलसे तीन वर्षके अन्दर ही टिफलिसके गिरोहका नेता बन बैठा। उस समय उसकी अवस्था कुल १९ सालकी थी।

स्टेलिनके भाग्यमें अधिक दिनोंतक विद्या-लयकी छत्र-छायामें बैठकर विद्योपार्जन करना बदा न था। अपनी क्रान्तिकारिणी मनोवृत्तिके कारण दो वर्ष बीतते न-बीतते वह विद्यालयकी ड्योढ़ीसे बाहर कर दिया गया। इस परिस्थितिका उसने हृदयसे स्वागत किया और सोशलडेमोक्रेटके कामोंमें मन-प्राण देकर सहयोग प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। पार्टीमें जान आ गयी।

कुछ ही दिनोंमें सारे काकेशस प्रान्तमें स्टेलि-नकी तूती बोलने लगी। वह दूसरा लेनिन कहलाने लगा। जनताकी अगाध श्रद्धाका ही यह परिणाम था। जनताकी श्रद्धा जब पराकाष्ठाको पहुँच जाती है और वह देख लेती है कि अब एकमें ही वह नहीं अट सकती, तब वह उसी श्रद्धाको कईमें बाँट देती है और उसी नामपर दूसरोंकी भी पूजा करने लगती है।

देखते-देखते स्टेलिन काकेशस प्रान्त-वासियोंका हृदय-सम्राट् बन बैठा और अपनी कारगुजारीसे जार सरकारपर बेहद आतङ्क फैला दिया। अपनी क्षमता सुदृढ़ कर १९०५ ई० में वह लेनिनसे फिन-लैण्डमें मिला और १९०६ एवम् १९०७ ई० की स्टाकहोम तथा लंदनवाली गुप्त सभाओंमें उसने लेनिनके ही पक्षका समर्थन किया।

स्टेलिनमें सबसे बड़ा गुण यह है कि वह अपनी स्कीमको, अपनी भावनाको, अपने सङ्कल्पको तथा विचारोंको प्रकट होनेका मौका नहीं देता। धीरे-धीरे वह अपना जाल फैलाता है। धूर्ततामें वह अपना सानी नहीं रखता। एक जमाना था, जब ट्राटस्कीका खुल्लम-खुल्ला विरोध करना फौलादी

पंजेको गर्दन दबोचनेके लिये निमंत्रित करने जैसा था, पर स्टेलिनने इस परिस्थितिको भी अपनी धूर्तताके बलसे आगे खिसकाया। उधर लेनिन और ट्राटस्की ही प्रत्येक सभाके लिये सभापति चुने जाते थे। यह चालसी पड़ गयी थी। यह बात स्टेलिनको बहुत अखरती थी। अन्तमें उसने इसमें भी धूर्तता की। इन दोनों, लेनिन और ट्राटस्कीके, नामोंके अतिरिक्त पालिट, ब्यूरोके दूसरे सदस्योंका नाम भी पेश किया जाने लगा। फिर ये नाम वर्णक्रमसे सजाये जाने लगे, जिसमें L. और T. अन्य अक्षरोंके बादमें पड़ें। कैसी चोटीको धूर्तता है? कुछ कालतक तो यही क्रम चला; पर बादमें यह भी धता बताया गया और नये शासकीय पदके क्रमसे नामोंका चुनाव होने लगा। इसके अनुसार प्रथम स्थान जेनोवीनको दिया जाने लगा और ट्राटस्कीका नाम हटाया जाने लगा। यदि जनता विरोध करती, तो अध्यक्ष यही कहकर टाल दिया करता कि भूलसे नाम छूट गया है। समाचार-पत्रोंका भी मुँह बंद कर दिया जाता था। इसके बाद स्टेलिनने अपना नाम रखवाना प्रारम्भ किया। कैसी पल्ले सिरेकी धूर्तता है? देखा, स्टेलिन कैसे धीरे-धीरे अपना जाल फैलाता है?

स्टेलिनमें काम करनेकी लगन बहुत है। जिस काममें वह जुट जाता है, अपनेको खपा देता है। सत्रहसे अठारह घंटोंतक वह बराबर काम किया करता है; पर थकता नहीं। महान् लागोंमें यह बात शायद् प्राकृतिक है।

स्टेलिन किसी भी सुधारको क्रान्ति नहीं मानता। उसकी दृष्टिमें क्रान्तिका अर्थ है— "एक वर्गके हाथसे सारी शक्ति निकालकर दूसरे वर्गके हाथमें ले आना। इसी कारण किसी भी सुधार को क्रान्ति कहना असम्भव है।"

हिंसात्मक उपायोंको स्टेलिन आदर्श नहीं मानता; पर साथ-ही-साथ वह यह भी नहीं चाहता कि उसपर कोई आक्रमण करे और वह सर झुका कर उसके सभी वार सहे। ईंटका जवाब पत्थरसे देना वह यद्यपि नहीं चाहता; तथापि ईंटका जवाब ईंटसे ही देनेमें उसे कोई हिचकिचाहट नहीं। अभी हालमें ही एक महान् व्यक्तिसे बातोंके सिलसिलेमें उसने कहा है—"वर्गवादी हिंसात्मक उपायोंको आदर्श नहीं मानते; पर वे यह भी नहीं चाहते कि कोई उनपर अचानक हमला करके दबा दे। उन्हें पूंजीवादी दुनियापर कोई विश्वास नहीं है और वे यह नहीं विश्वास करते कि वे अपनी इच्छासे रंगभूमिसे विदा लें। वे स्पष्ट रूपसे यह देख रहे हैं कि प्राचीन प्रथा हिंसात्मक उपायोंसे अपनी रक्षा कर रही है; अतः वर्गवादी भी मजदूरोंको यह सलाह देता है कि वे हिंसाका उत्तर हिंसासे दें।"

स्टेलिनकी अध्यवसायिताका प्रमाण इसीसे मिलता है कि कई वर्ष पूर्व जब उसने अपनी पूर्व पत्नीका परित्याग कर दूसरी स्त्रीसे विवाह करना चाहा था, तब उसने अपनी उपस्थिति एक पत्र द्वारा की थी।

स्टेलिन एक सफल लुटेरा भी है। डाका डालनेके फनमें वह उस्ताद है। पार्टीकी कोष वृद्धि करनेवाले लुटेरोंका वह प्रधान सेनापति था। १९०७ की १३ वीं जूनकी बात है। टिफलिसके डाकघरमें वहाँके स्टेट बैंकमें जमा होनेके लिये एक बहुत बड़ी रकम आयी। इसका पता स्टेलिनको पहलेसे ही था। साढ़े दस बजे दिनकी बात है। अधिकारी रुपयोंके लिये डाकघर गये। तोड़े एक गाड़ीमें रखे गये और सशस्त्र सिपाहियोंकी

रक्षामें रवाना किये गये। इस गाड़ीके पीछे एक दूसरी गाड़ीमें दो सैनिक भी बैठे थे। इतना ही नहीं हथियारबन्द सिपाहियोंका एक जबर्दस्त टुकड़ा भी उन गाड़ियोंको घेरे चल रहा था। खजाना हर प्रकारसे सुरक्षित रखनेका उपाय किया गया था; पर जब वे गाड़ियाँ शहरके बीचसे होकर गुजरीं, तब एक बिल्डिंगकी छतपरसे एक भयंकर बम फेंका गया। धड़ाकेसे मीलभरके मकानोंकी खिड़कियोंके शीशे चूर हो गये। सड़ककी दोनों ओरके फूट पाथोंपरसे भी कज़ाकोंपर बम और तमंचोंकी बाढ़ दागी गयी। देखते-देखते भीत लोगोंसे सारा स्थान भर गया और इस भयंकर गोलमालमें बड़ी सफाईके साथ सारा माल गायब कर दिया गया।

स्टेलिन छ बार साइबेरिया तथा रूसके दूरस्थ उत्तरीय प्रान्तोंमें निर्वासित हो जा चुका है; पर वह प्रत्येक बार भाग आया है। प्रत्येक बार साधारण अपराधके लिये वह दण्डित होता था। १६०८ से लेकर १६१७ ई०की ये घटनाएँ हैं।

स्टेलिन साधारण कोटिका वक्ता है। विषय-गाम्भीर्यके कारण नहीं; बल्कि भाषणके निराले ढंगके कारण वह श्रोताओंपर एक जबर्दस्त प्रभाव डाल देता है। प्रायः लिखकर ही वक्तृता देनेकी उसकी आदत है।

स्टेलिनकी दूसरी पत्नी भी कम्युनिस्ट पार्टीकी है; पर स्टेलिन इसे भी अपनी पूर्व पत्नीकी तरह घरमें ही रखनेका आदी है। सर्वसाधारणमें जब कभी वह आया करती है। स्वयम् स्टेलिन भी घरमें ही निवास करना अधिक पसन्द करता है। कुछ गिने-चुने लोग ही उससे मिल सकते हैं। दूसरे लोगोंसे मिलनेमें अधिक समय देना वह बिलकुल नहीं चाहता। सालमें ३–४ बार ही ऐसा मौका आता है, जब वह कम्युनिस्ट युवकोंको अपने आफिसमें बुलाता है और विचार-विनिमयमें अधिक समय देता है। अवकाशका सारा समय उसका अध्ययनमें ही व्यतीत होता है। रूसी नेताओंका अध्ययन एक खास गुण है।

१६१७ की महान् रूसी क्रान्तिके समय स्टेलिन तुर्किस्तानमें कैद था। इसी समय उसके मनमें बोलशेविक पार्टीके नेता बननेकी महत्वाकांक्षाका बवंडर उठा। अपनी क्षमताको अच्छी तरह उसने तौल लिया। उसके मार्गका अगर कोई कण्टक था, तो वह लेनिन था, ट्राट्स्की था। दोनों उसके मार्गसे हट गये या हटा दिये गये—एक मृत्यु द्वारा और दूसरा वालों द्वारा। लेनिन सदा स्टेलिनसे घृणा ही करता रहा। यद्यपि रूसमें बोलशेविक आग फैलानेके हथकंडोंमें स्टेलिनका भी महत्वपूर्ण हाथ था और इसकी मुक्तकण्ठसे लेनिन प्रशंसा करता था। स्टेलिनसे वह केवल घृणा ही नहीं करता था, बल्कि सदा आतङ्कित भी रहता था। एक बार ट्राट्स्कीसे उसने कहा भी था— 'कैसे आश्चर्यकी बात है कि यह तुच्छ, अहम्मन्य, साधारण व्यक्ति हर एक क्षेत्रमें आगे बढ़ता जा रहा है और सब-के-सब इसे अपना नेता बनाते जा रहे हैं। यह बात कैसी हो रही है?"

स्टेलिनकी बढ़ती हुई क्षमताने भी लेनिनकी बीमारीको बढ़ानेमें कम सहायता नहीं पहुँचायी। स्टेलिनसे वह इतना घबराया हुआ था कि अन्तमें उसे निराशा-सी होने लगी थी। उसकी परेशानी निरन्तर बढ़ती ही जा रही थी। इसीको लक्ष्य कर एक जगह ट्राट्स्कीने लिखा है—"यह नहीं कहा जा सकता कि लेनिनको किस बातसे सबसे अधिक चोट पहुँची—स्टेलिनकी व्यक्तिगत अभक्तिसे या उसकी उद्धत नौकरशाही चालसे। मेरी समझमें

शायद ये दोनों ही बातें उसके कष्टका कारण थीं। लेनिन भिड़नेकी तैयारी तो कर रहा था, पर स्वयम् वह कांग्रेसमें बोल सकेगा, इसकी आशा नहीं थी। इसीसे वह बेतरह परेशान था।"

लेनिनको स्टेलिनका रत्ती भर भी विश्वास नहीं था। इसके सम्बन्धमें लेनिनके सेक्रेटरी फ़तियवाने एक बार ट्राल्स्कीसे कहा था —

"× × ×। लेनिनको स्टेलिनका जरा भी विश्वास नहीं है। वह उसका खुलेआम विरोध करेगा और उसके लिये एक बम भी तैयार कर रहा है।"

मरते दमतक स्टेलिनसे लेनिन कुढ़ता रहा है और स्टेलिन उसे तंग करनेमें बाज न आया है। स्टेलिन लेनिनको कभी ठीक-ठीक समाचार मिलने नहीं देता था; बल्कि इस सम्बन्धमें उसने लेनिन-की पत्नी क्रुप्सकायाके प्रति अभद्रता भी दिखलायी थी। इससे दुःखित होकर लेनिनने स्टेलिनको एक पत्र लिखवाया था, जिसमें उससे सारा सम्बन्ध विच्छिन्न कर देनेकी बात थी। लेनिन स्टेलिनको एकदम राजनीति क्षेत्रसे निकाल बाहर करना चाहता था। नहीं तो वह व्यक्तिगत सम्बन्ध कभी न तोड़ता।

स्टेलिन आज लेनिनकी जगहपर रूसका डिक्टेटर है। वहाँका तानाशाह है। वह लेनिन-के मकानमें बड़े ठाट-बाट और तपाकसे रहता है। पुलिसके पचासों जवान उसकी बराबर रक्षा करते रहते हैं। आज उसकी बातें लाखों आदमी उद्ग्रीव होकर सुना करते हैं।

स्टेलिन अपने सहायकोंको कभी नहीं भूलता। उनमेंसे जब कोई बीमार पड़ता है, तब वह उसके पास शहद या मक्खन भेज देता है और साथ एक रुक्का भी, जिसमें लिखा होता है—"खाओ और अच्छे हो जाओ। हमें तुम्हारी जरूरत है।" सभी अवसरोंके लिये उसका यही एक मँजा हुआ तरीका है।

स्टेलिनके पास एक फाइल है। उसमें कम्युनिस्ट पार्टीके सभी मुख्य-मुख्य सदस्योंकी जीवन-घटनाओंका समावेश है। प्रत्येक विवरण-पर उसके बनाये हुए काले चिह्न हैं। जबतक कोई उसका भाषण द्वारा विरोध नहीं करता, तबतक वह शान्त रहता है, पर जहाँ कहीं उसके विरुद्ध किसीने कुछ कहा कि उसपर आफत आयी। काले रजिस्टरमें उसका नाम दर्ज कर दिया जाता है और संकटोंके पहाड़ उसपर ढाह दिये जाते हैं। क्या मजाल जो कोई उसकी रक्षा कर सके। ट्राल्स्की का नाम भी उसके यहाँ काले रजिस्टरमें दर्ज किया हुआ है। यही कारण है जो ट्राल्स्की आज संसारमें कहीं भी आश्रय नहीं पा रहा है।

बेनिटो मुसोलिनी

काव्यतीर्थ, श्रीयुत लोटूसिंह गौतम, एम० ए०, एल० टी०, एम० आर० ए० एस०

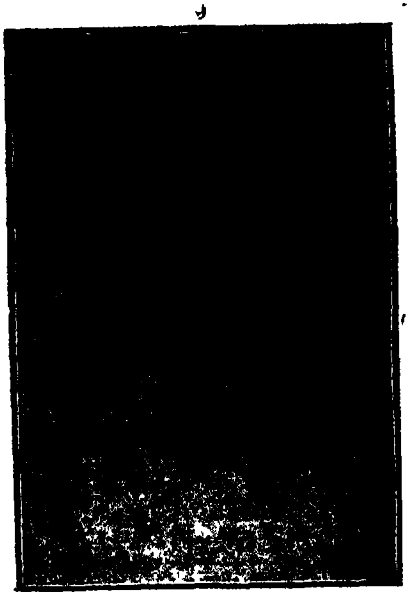
आज इस संसारके रंगमञ्चपर कुछ महान् व्यक्ति अपना अभिनय दिखा रहे हैं, उनमें महात्मा गांधी, वीर कमाल पाशा, हर हिटलर और बेनिटो मुसोलिनीको संसार बड़ी उत्कण्ठासे देख रहा है। महात्मा गांधीका अहिंसात्मक असहयोग आधुनिक युगके इतिहासमें एक नयी चीज है। हर हिटलरके नाजियोंने जर्मनीको पुनर्जीवन दिया है। वीर कमाल पाशाने नयी टर्कीको जन्म दिया है; किन्तु सबसे बढ़कर आश्चर्यजनक चमत्कार बेनिटो मुसोलिनीका है। उसने मध्यकालिन और आधुनिक कालको इटलीमें स्फूर्ति पैदा कर दी है और ललित कलाका नाज छोड़कर अद्भुत वीरताका परिचय दिया है। प्रसिद्ध यूरोपीय राजनीतिज्ञ मेकियावेलीने चौदहवीं शताब्दीमें इटलीके विषयमें कहा था—"She was without order beaten, despoiled, torn overrun. She had endured every kind of desolation To all of us—the barbarous dominion stinks." यह कथन बहुत अंशोंमें अठारहवीं शताब्दी तक ठीक था। मेकियावेली और दान्ते इटलीकी दुर्दशापर आठ-आठ रोये; पर उनकी कल्पनाको कार्य रूपमें परिणत किया था, कैवूर और गैरिबाल्डी ने।

इटली एक ऐसा देश है, जिसको प्राकृतिक दशाके कारण राष्ट्रिय भावनाके विकसित होनेमें बड़ी कठिनाई पड़ती है। अतः देशमें एक राष्ट्रिय भावना न हो पायी थी। बेनिटो मुसोलिनीने अपने फैसिस्ट दल द्वारा एक महान् असम्भवको सम्भव कर दिया। इसलिये इस युगका वह एक महान् व्यक्ति है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके शत्रु भी अभी बहुत हैं। किन्तु इटलीका फैसिज्मसे बड़ा लाभ हुआ है। अतः आज बेनिटो मुसोलिनी तरुण इलर्टीका हृदय-सम्राट् है।

बेनिटो मुसोलिनीका जन्म डोविया ग्राममें २६ जुलाई, सन् १८८३ ई० को हुआ था। यह ग्राम इटलीके एक नगण्य स्टेशन फोर्लीके पास है। इसके पिताका नाम अलेक्जेंडर और माताका नाम डोना रूसा माल्टोनी था। जिस घरमें मुसोलिनी पैदा हुआ था, वह घर श्रद्धास्पद है। मुसोलिनीने बहुतसी बातें अपने पिता और माताके विषयमें लिखी हैं। उनसे विदित होता है कि मुसोलिनीके पिता विशेष पढ़े-लिखे न थे। उन्होंने २६ वर्षकी अवस्थामें लोहारका काम सीखा था। साम्यवादी होनेके कारण उनपर पुलिसकी शनि-दृष्टि सदा रहा करती थी।

मुसोलिनीकी माता धर्मप्राण स्त्री थीं। वह मुसोलिनीको गिर्जा घरमें ले जाया करती थीं। किन्तु उसका वहाँ मन नहीं लगता था। मुसोलिनी की माता अध्यापिका रह चुकी थीं; अतः उन्होंने ही पाँच वर्षकी अवस्थामें, उसे पहले-पहल पढ़ाना शुरू किया। छः वर्षकी अवस्थामें मुसोलिनी प्रेडाफियो स्कूलमें भेजा गया। साधारण बालककी तरह उसका मन पढ़नेमें बिलकुल नहीं लगता था। अपनी जीवनीमें उसने अपने शैशवका सच्चा चरित्र दिया है। वह लड़कपनमें फल और चिड़ियाँ चुराया करता था। मुसोलिनी प्रथम नेपोलियनकी भाँति बड़ा ही निर्भीक था।

उस स्कूलमें तीन वर्षों तक मुसोलिनीको शिक्षा मिली। उसके पिता उसे अपना लोहारीका काम सिखाना चाहता था। किन्तु उसकी माँ जानती थी कि उसका 'लाल' एक दिन महान् पुरुष होगा। अतः उस विषयमें वह अपने पतिसे मत-भेद रखती थी। नौ वर्षके बालक मुसोलिनीमें बड़ी भारी महत्त्वाकांक्षाका उदय हुआ। जब मुसोलिनी अकेले टेबुलपर खड़ा होकर भाषण देता था, तब उसकी माँ कहती थी, "बेनिटो! पागल हो गया क्या?" उसका उत्तर नन्हासा बालक देता, 'नहीं माँ बोलनेका अभ्यास कर रहा हूँ;



लेखक

क्योंकि कभी ऐसा समय आ सकता है कि इटलीको मेरी आवश्यकता पड़े।"

नौ वर्षकी अवस्थामें मुसोलिनी फ्रेंजाके विद्यालयमें भेजा गया; किन्तु वहाँ भी उसकी शरारत और पुरानी बान रही। एक दिन उसने एक लड़केको चाकूसे घायल कर दिया था। इस अपराधमें वह स्कूलसे निकाल दिया गया।

मुसोलिनी अब फार्लिमपोलीके एक कालेजमें भर्ती हुआ, जहाँ अध्यापकोंको शिक्षा दी जाती थी। वहाँसे भी वह लड़-भिड़कर भाग गया। कालेजके डाइरेक्टरोंने मुसोलिनीके बापको लिखा कि, "मुसोलिनीको घर ले जाओ।" वह अपने कालेज भरमें सबसे चालाक था। उसे अध्यापन करनेका अधिकार मिल गया था। १५ वर्षकी अवस्थामें वह अध्यापन-कार्यमें निपुण हो गया।

सन् १८८६ से सन् १६०१ तक वह अपने घरपर रहा। वह बहुत जगह दौड़ा-धूपा; उसे कहीं कोई काम न मिला। अतः विवश होकर उसने राजनीतिका, खूब मनोयोग-पूर्वक, अध्ययन किया। उस समय रूसका भावी साम्यवाद भविष्यके गर्भमें था। सन् १६०१ में उसने एमिलामें एक छोटेसे अध्यापकका पद स्वीकार किया। अनुमानतः उससे उसे ५६ लाइर अर्थात् १०) मासिक मिलते थे।

उसे केवल चार घंटे पढ़ाना पड़ता था और शेष कालमें वह स्वयं पढ़ा करता था। अपने अध्यापन-कालमें ही उसने अपने भविष्यका निश्चय कर लिया था। आत्मोन्नतिके उल्लासमें उसने अध्यापनका कार्य छोड़ दिया और राजनीतिका व्यवसाय स्वीकार किया।

उस समय मार्क्सके साम्यवादकी चर्चा संसार भरमें चल रही थी। मुसोलिनी भी प्रथमतः इधर ही आकृष्ट हुआ। सन् १६०२ से १६१२ तक वह अध्ययन करता रहा और १६११ से १६१४ तक साम्यवादका प्रचार। उसका उस समयका जीवन बड़े मार्केका था। वह अपनी गुप्त शक्तियोंको विकासित कर रहा था। जब १६१४ में महान् युद्धकी भेरी बजी, तब मुसोलिनी, साम्यवादीकी हैसियतसे, इटलीको संयुक्त शक्तियोंके

साथ सहयोग देनेके, विपक्षमें था। उससे और साम्यवादियोंसे मतभेद हो गया था। अतः उसने साम्यवाद-दल और साम्यवादि-दलके पत्रका सम्पादन भी छोड़ दिया एवम् एक नये पत्रको जन्म दिया, जिसका नाम 'Popolod' Italia' था। अब उसने बड़े जोरसे इटलीको संयुक्त शक्तियोंके साथ सहयोग करनेका आन्दोलन उठाया। जैसे महात्मा गांधीका 'young India' भारतमें प्रभावशाली हो गया था, वैसे ही मुसोलिनीका 'Popolod, Italia'। १९१४ में इटलीको संयुक्त शक्तियोंका साथ देना पड़ा। मुसोलिनी भी सेनामें भर्ती हो गया। १९१७ में घायल होकर वह पुनः अपने पत्रका सम्पादन करने लगा। कैपॅरेटोके स्थानपर इटलीकी लज्जाजनक हार हुई। तब भी मुसोलिनीने कोशिश की कि इटली युद्धसे विरत न हो। सन १९१९में जब संयुक्त शक्तियोंकी जीत होनेपर भी इटलीका अभीष्ट सिद्ध न हुआ, तब वह निराश हो गयी। इटली चाहती थी कि उसके विजेता मित्र राष्ट्र उसकी सेनाओंको उचित पुरस्कार दें; किन्तु राजनीति शास्त्रमें सच्ची उदारताकी कल्पना कोरी मूर्खता है। इटलीकी आशा-लता मुरझा गयी। नौकरीसे पृथक् किये गये सैनिक अब बेकार हो गये। सरकारको आर्थिक दशा सुधारनेमें पूरी सफलता न मिली। इसी शोचनीय परिस्थितिमें मुसोलिनीने सन् १९१९में फैसिस्ट दल (Fascism)की नींव डाली। तत्कालीन फैसिज्म साम्यवादसे ओतप्रोत था। फैसिज्मकी उत्पत्ति निम्नाङ्कित विधिसे हुई है—प्राचीन कालमें शासकका प्रधान सहकारी 'आसा-सोटा' आदि साथ ले जाया करता था। इसीको फैसिस कहते थे। जो लोग शासकके सहायक होते थे, उन्हें फैसिस्ट कहते थे। इसी आधारपर उपर्युक्त 'फैसिज्म'का जन्म हुआ। जब फैसिज्मका श्रीगणेश हुआ, तब उसमें अधिकांश सैनिक ही थे। पीछेसे वह व्यवसायियों एवम् अन्य व्यक्तियोंके प्रवेश करनेसे भानुमतीका पिटारा बन गया। कुछ लोग साम्यवादी होनेका डंका पीटते तो कुछ प्रजातन्त्रकी भेरी बजाते। उस समय इस दलने प्रजा-सत्तात्मक शासनकी, जिससे सर्वसाधारणको वोटका अधिकार मिले, घोषणा की। एक इतिहासकारने लिखा है कि—"It proclaimed the doctrine of popular sovereignty exercised by the universal aud equal and direct suffrage of both sexes together with the right of referendumand popular veto." इस व्यापक सिद्धान्त और आधुनिक "फैसिज्म"में आकाश-पातालका अन्तर है। कुछ काल पर्यन्त मुसोलिनीका दल एवम् साम्यवादि-दल दोनों सहयोगी रहे; पर दोनोंका साथ भला कब तक निभता? तत्पश्चात् साम्यवादि दलकी अव्यावहारिक नीतिसे अवनति होने लगी। उधर मुसोलिनीने अपने फैसिज्मको समयकी गतिके अनुसार परिवर्तित किया। "फैसिज्म दर्शन" की स्थापना फैसिस्ट दलके बाद हुई। प्रायः अनेक मत-मतान्तरोंका दर्शन उनके स्थापनके पीछे बनता है। सन् १९१९में डी०ऐनमजिओने फ्यूम (Fiume) पर अधिकार कर लिया। बस, अब क्या था, सारी इटली दहल उठी। राष्ट्रिय भावना जाग उठी। विवश हो फ्यूम वापस कर दी गयी। पर इटलीकी घृणा संयुक्त राष्ट्रों एवम् उसके सभापति विल्सनके प्रति दिनानुदिन बढ़ती ही गयी। उधर डी०ऐनमजिओके छुड़ाये सैनिक फैसिज्म दलमें आ मिले। नवम्बर १९२१में

मुसोलिनीने फैसिज्मको पुनर्जन्म (Reorganize) देनेका निश्चय किया। फैसिस्ट दलको इटली मानता थी। १९१० में इस दलने रोमपर धावा बोला। इटली-सरकार दब गयी। राजाने उसको अपनाया। पोपके विरुद्ध जो नियम थे, वे भी फैसिज्मसे निकाल दिये गये। अभी हालमें पोपने मुसोलिनीसे सन्धि कर ली है।

आज १९३५ में मुसोलिनी इटलीका सर्वेसर्वा है। सारा विश्व इसोकी ओर सशंक होकर देख रहा है। १९२८ में जो शासनकी नयी रीति जारी हुई, वही आज इटलीका शासन कर रही है। पार्लमेंट आज भी है; पर वह डिक्टेटर मुसोलिनीकी चेरी है। फैसिज्म महती सभा (Grand council) के हाथमें शासनकी लगाम है। फैसिस्ट दल 'जनराष्ट्र' (Co operative state) का पक्षपाती है। वह राष्ट्रके लिये व्यक्तिगत स्वार्थ-त्यागकी आवश्यकता समझता है। फैसिज्म राजनीतिक नियमोंमें हेर-फेर कर सर्वसाधारणको यथोचित सहायता देना चाहता है। पर मार्क्सका साम्यवादि-दल इसके सिद्धान्तसे सहमत नहीं है। वह राजनीतिक एकताको सारहीन समझ कर सारे संसारमें साम्पत्तिक समता करना चाहता है। समाजमें विभाग नहीं चाहता। रूसमें साम्यवादकी विजय अवश्य हुई है और उसका क्षेत्र भी व्यापक है; परन्तु फैसिस्ट दलका क्षेत्र संकुचित है—अपने राष्ट्र तक ही सीमित है। वह साम्यवादको असम्भव समझता है और "संसारके मजदूर एक हों" इस बातको कल्पना मात्र समझता है। फैसिज्मने सारे संसारको साम्यवादके झंझावातसे बचाया है। इसका श्रेय मुसोलिनीको है। हम मुसोलिनीके समालोचकोंका यहाँ खंडन-मंडन नहीं करना चाहते। पर यह कह देना नितान्त आवश्यक है कि वर्तमान फैसिज्म एक ही व्यक्तिपर निर्भर है। उसके ढह जानेकी आशंका है। इतिहासका विद्यार्थ ज्योतिषका छात्र नहीं है; पर उसे यह कहीं देना आवश्यक है कि आधुनिक इटलीको गौरव एक लोहारके लड़के—मुसोलिनीके द्वारा हुआ है। वह पहले साधारण विद्यार्थी था, फिर एक मामूली अध्यापक बना; किन्तु आज इटलीके इतिहासमें उसकी सेवाएं स्वर्णाक्षरोंमें अंकित हो रही है।

मुस्तफा कमाल

श्रीयुत जयमंगल सिंह, शास्त्री

मुस्तफा कमालका जन्म सन् १८८० ई० में, सलोनिका नगरमें, हुआ था। इनके पिता एक समय सरकारी कर्मचारी थे; पर बादमें लकड़ीका व्यापार करने लगे थे। बचपनमें ही उनकी मृत्यु हो गयी थी, इस कारण कमालके भरण-पोषणका सारा भार माँपर ही पड़ा। इनकी प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा सलोनिकामें ही हुई। बालपनमें इन्होंने अपनी तीक्ष्ण बुद्धिका विलक्षण परिचय दिया, जिससे प्रसन्न होकर इनके शिक्षकने इन्हें 'कमाल'की उपाधि दी, जो आजतक इनके नामके साथ लगायी जाती है।

कमालकी मनोवृत्ति सैनिक शिक्षाकी ओर अधिक थी। इसी कारण बादमें यह सैनिक शिक्षणालयमें भर्ती हुए। १९०४, ई०में यह वहाँसे 'ग्रेजुएट' हुए और कप्तानकी उपाधि प्राप्त की। इन्हें प्रारम्भसे ही उस समयके बादशाह अब्दुल-हमीदके शासनसे बड़ी घृणा थी। राजनीतिक मामलोंमें यह बड़ी दिलचस्पी लेते थे; और, बादमें, नवयुवक-तुर्क-दलकी गुप्त समितिके कामोंमें भी भाग लेने लगे थे, जिसका उद्देश्य अब्दुल हमीदके निरंकुश शासनको उलट देना था।

कुछ दिनों बाद यह गिरफ्तार करके जेलमें बन्द कर दिये गये। इसके बाद दमिश्कमें निर्वासित किये गये। वहाँ इन्होंने 'वतन' नामकी गुप्त-समिति स्थापित की। तदनन्तर यह जाफासे मिश्र होते हुए यूनानके रास्ते सलोनिका गये और अपने सहकारियोंके साथ मिलकर 'ऐक्य एवं प्रगतिशील समिति'की स्थापना की। इनकी नियुक्ति एक सहकारी कर्मचारीके पदपर कुछ दिनों बाद जाफामें हुई।

जब १९०८की राज्यक्रान्तिसे विधानकी घोषणा की गयी, तब मुस्तफा कमाल कुस्तुनतुनिया आये। यहाँ आनेपर 'ऐक्य एवं प्रगतिशील समिति'की जो कांग्रेस विधानकी घोषणाके बाद सलोनिका नगरमें हुई थी, उसमें इनका ऐक्य एवं प्रगतिशील समितिके नेताओंसे कई बातोंमें मतभेद हुआ। इनमें सबसे प्रधान अनवर बे थे। कमालके राजनीतिक विचार उन लोगोंकी अपेक्षा अधिक उग्र थे। वह यह नहीं चाहते थे कि सेनाका हाथ राजनीतिक मामलोंमें रहे। वह चाहते थे कि देशमें प्रजातंत्रकी स्थापना हो और सुलतानके अत्याचारसे देशको मुक्त किया जाय।

इटली-तुर्की-युद्धके समय, १९११ में कमाल ट्रिपोलीमें इटलीवालोंके विरुद्ध लड़नेको भेजे गये और वहाँ बड़ी बहादुरीसे अन्ततक लड़ते रहे। बालकन-युद्धके समय, १९१२ में, यह गैलीपोलीमें बलगारियनोंकी प्रगति रोकनेके लिये भेजे गये और वहाँ भी इन्होंने अपनी वीरताका अभूतपूर्व परिचय दिया। पर अन्तमें सन्धि होनेपर यह सोफियामें सैनिक दूतके पदपर नियुक्त हुए और महायुद्धका प्रारम्भ होनेतक उसी पदपर रहे।

कमाल कभी जर्मन, युद्ध-विद्याके प्रशंसक नहीं रहे। १९१४ के महायुद्धमें तुर्कीके शामिल होनेका उन्होंने बड़ा विरोध किया था; पर जब तुर्की युद्धमें शामिल हो गया, तब कमालने भी अपने कर्तव्यका

पूरा पालन किया और जहाँ-जहाँ युद्धमें भेजे गये बड़ी बहादुरीसे लड़ते रहे। गैलीपोली तथा दर्रे दानियालमें इन्होंने अपनी वीरताका अभूतपूर्व परिचय दिया था। इन लड़ाइयोंमें कमालने जो कमाल किया वह इनकी युद्ध-विद्याकी प्रवीणताका परिचायक कहा जा सकता है।

इसके बाद कमाल गैलीपोलीसे काकेशसकी ओर भेजे गये। वहाँ जाकर इन्होंने रूससे मश तथा बिटलीस स्थानोंको पुनः अपने अधिकारमें कर लिया। इससे मित्र-राष्ट्रोंपर तुर्कोंका आतंक छा गया। सीरियाके युद्धमें इनका जर्मनीके सेना-नायक वनफल्केनहेनसे कई बातोंमें मतभेद हो गया; अतः इन्होंने नये सुलतान मुहम्मद छठेके आग्रहपर सीरियाकी सातवीं सेनाका भार अपने ऊपर लिया। पर उस समयतक आक्रमण करनेका मौका जा चुका था।

जब तुर्कोंने ३० अक्तूबर १९१८ को मुद्रोसका युद्धावसान किया, तब उस समय कमाल इसके एकदम विरुद्ध थे; पर युद्धावसानपर तुर्कोंके हस्ताक्षर हो जानेके बाद इन्होंने अपना त्यागपत्र दे दिया और कुस्तुन्तुनिया आये। यहाँ आनेपर इन्हें लोगोंमें बड़ी उदासीनता दिखाई पड़ी। इतना ही नहीं, उस समयके राष्ट्रवादियोंको भी इन्होंने उत्साहहीन होते देखा; पर इतनेपर भी यह हतोत्साह न हुए। इस समय भी इनका यही विश्वास था कि अपने बलपर ही तुर्कोंकी रक्षा हो सकती है, दूसरे तथा बाहर वालोंके भरोसेपर नहीं।

इसके पश्चात् स्मर्नाके यूनानवालों द्वारा जीते जानेके बाद देशमें राष्ट्रियताकी लहर फैल गयी। लोगोंके हृदयमें विदेशियोंके प्रति घृणा हो गयी। ऐसे समय कमाल उत्तर-पूर्वीय अनातोलियामें सेना-निरीक्षक बनाकर भेजे गये। वहाँ यह गुप्त-रीतिसे अपना नया आन्दोलन करने लगे। बादमें जब सुलतानको इस बातका पता चला, तब यह वहाँसे बुला लिये गये। इन्होंने अपना त्यागपत्र दे दिया। इनकी इच्छा अनातोलियामें एक राष्ट्रिय दल संगठित करनेकी थी। इस कारण रऊफ़ बे एक राष्ट्रिय दल संगठित करनेके लिये स्मर्ना भेजे गये और कमाल स्वयं इसी कार्यके लिये सांसून गये। इनकी यह इच्छा पूरी हुई और दोनों जगह एक-एक राष्ट्रिय तथा एक-एक फ़ौजी दल इनके निरीक्षणमें संगठित हुए।

स्मर्ना तथा सांसूनमें अपने कार्य्योंकी सफलता देखकर कमालने २३ जुलाई सन् १९१९ इरज़रममें सारे राष्ट्रवादियोंको संगठित करनेके लिये एक कांग्रेस की। इस कांग्रेसमें भविष्यके कार्य-क्रमपर विचार किया गया। दो महीने बाद, दूसरी कांग्रेस सिवासमें बुलायी गयी और राष्ट्रिय समझौतेके मुख्य सिद्धान्तोंपर विचार किया गया। इस कांग्रेसमें एक स्थायी समिति भी बनी, जिसके सभापति मुस्तफा कमाल ही बनाये गये। इनमें इनके चिरसंगी रउफ बेभी सम्मिलित थे।

देशमें राष्ट्रवादियोंका प्रभाव बढ़ता ही जा रहा था। बढ़ते हुए प्रभावके कारण ५ अक्तूबरको, सन् १९१९ को, कस्तुनतुनियामें दामाद फरीद पाशाके मन्त्रि-मण्डलको त्यागपत्र देनेको मजबूर होना पड़ा। इसके बाद अलीरजाबेके अधीन नये मन्त्रि-मण्डलकी सृष्टि हुई। सुलतानने नया चुनाव करनेकी आज्ञा दी। इस चुनावमें राष्ट्र-वादियोंका बहुमत रहा और प्रधान मन्त्रीकी भी सहानुभूति राष्ट्रवादियोंके साथ रही।

इसके बाद राष्ट्रवादियोंकी ओरसे राष्ट्रिय समझौता तैयार किया गया। यह २८ जनवरी १९२० को पार्लामेंटमें पेश किया गया। और स्वीकृत

हुआ। वास्तवमें राष्ट्रिय आन्दोलनकी यह शानदार विजय थी। इसके बाद १५ मार्चको मित्र-राष्ट्रोंकी सेनाने कुस्तुनतुनियापर आक्रमण किया और करीब ४० राष्ट्रवादियोंको पकड़कर माल्टा-द्वीपमें नजरबन्द कर दिया। यह सब राष्ट्रिय समझौतेके विरोधमें किया गया था। मित्र-राष्ट्र चाहते थे कि दामद फ़रीद पाशाका ही मन्त्रि-मण्डल बना रहे; क्योंकि उस मन्त्रि-मण्डलकी नीति राष्ट्रवादियोंके सम्बन्धमें वही थी, जो मित्र-राष्ट्रोंकी थी।

मित्र-राष्ट्रोंकी इस कार्रवाईसे तुर्कीमें एक बार राष्ट्रियताकी लहर पुनः जोरोंसे उठी। अपनी राजधानीको विदेशीयोंके हाथमें देखकर तथा अपने सुलतानको मित्र-राष्ट्रोंके हाथकी कठपुतली समझ कर तुर्कोंको बड़ा क्रोध आया। इसका परिणाम यह भी हुआ कि सुलतानके प्रति तुर्कोंकी श्रद्धा तथा भक्ति कम हो गयी। सुलतान तो मित्र-राष्ट्रका खेलौना ही था, अतः उसने पुनः राष्ट्रवादियोंको राज्य-रक्षासे रहित करार दिया। बहुतसे प्रतिनिधि, कुस्तुनतुनियापर राष्ट्रोंका क़ब्ज़ा होनेपर भाग खड़े हुए थे, अंगोरा आकर छिन्न-भिन्न पार्लामेंटको संगठित करने लगे। इस समय दो पार्लामेंटें तुर्कीमें हो गयीं—एक दामद फ़रीद पाशाके अधीन तथा मित्र-राष्ट्रोंके निरीक्षणमें कुस्तुनतुनियामें, तथा दूसरी राष्ट्रिय विचारवाले तुर्कोंके अधीन अंगोरामें। इनमें प्रथम तो एक प्रकारसे खेलवाड़-सी ही थी, दूसरी तुर्कोंकी वास्तविक पार्लामेंट थी।

अंगोराकी पार्लामेंटकी बैठक २३ अप्रैलको हुई और तबसे यह बड़ी राष्ट्रिय असेम्बली कही जाने लगी। इस असेम्बलीने राष्ट्रिय समझौतेके प्रति अपना पूर्ण विश्वास प्रदर्शित किया और इसने यह भी घोषित किया कि सुलतान तथा उसकी सरकारका आस्तित्व अब तुर्कीमें नहीं है। इस समयसे राष्ट्रिय असेम्बलीकी ही सत्ता सारे देशमें मानी जाने लगी।

सन् १९१८ से यूनानियोंका स्मर्नापर अधिकार करना ही यूनान-तुर्की-युद्धका वास्तविक कारण कहा जा सकता है। इंग्लैंडने यूनानका पक्ष ग्रहण किया। यूनानियोंको मुस्तफ़ा कमालने रोका। यह देखकर यूनानवालोंको इंग्लैण्डने खाने-पीने तथा और चीज़ोंकी सहायता दी, जिससे इन लोगोंको बराबर अंगोरा तक चढ़ाई करनेका मौक़ा मिला। इनके इस बढ़नेकी प्रगतिको रोकनेमें मुस्तफ़ा कमालने जिस वीरता एवम् साहसका परिचय दिया, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। तुर्कोंके पास न तो खाने-पीनेकी ही अच्छी सामग्री थी और न शत्रुके मुक़ाबिलेमें अच्छी सेना। इस समय सारे समुद्रपर मित्र-राष्ट्रका अधिकार था, जिसके कारण बाहरसे किसी प्रकारकी युद्ध-सामग्री भी न आ सकती थी।

सन् १९२२ की २५ अगस्तको कमालने राष्ट्रिय असेम्बलीको सूचना दी कि हम यूनानकी सेनापर आक्रमण करना चाहते हैं। यूनानवालोंकी सबसे सुरक्षित युद्ध रेखापर आक्रमण किया गया। कमालने उस रेखाको तोड़ कर और यूनानकी सेनाको दो भागोंमें विभक्त करके उसे २४ घंटे तक परेशान किया। फिर ३० अगस्तको यूनानवालोंको एक दूसरी लड़ाईमें हराकर यूनानकी सेनाको तितर-बितर कर दिया। इसी प्रकार ९ अक्तूबर—को इनकी सेनाने स्मर्नापर अधिकार कर लिया। बस, फिर क्या था, मित्र-राष्ट्रोंने युद्धावसानके लिये प्रार्थना की और उसके अनुसार तुर्कोंका क़ब्ज़ा मरित्ज़ा नदी तक हो गया।

२६ अक्टूबर १९२३ को तुर्कीमें प्रजातंत्रकी घोषणा की गयी। जिस देशको यूरोपके बलशाली राष्ट्रोंने हड़प लेने तथा यूरोपके नक्शेसे निकाल बाहर करनेका सतत प्रयत्न किया था, उसे फिरसे मुस्तफा कमालने यूरोपके नक्शेमें स्थान दिया। जिस तुर्की-को यूरोपके राष्ट्र 'यूरोपका रोगी' कह कर पुकारते थे, उसे कमालने मजबूत बना दिया।



मुस्तफा कमाल

नवीन तुर्कीके राजनीतिज्ञोंमें सर्वप्रथम मुस्तफा कमालने ही यह देखा कि अगर देशकी किसी बातसे उन्नति हो सकती है, तो वह है पुरानी परम्पराको दूर कर देश-कालके अनुसार नवीन परम्पराकी सृष्टि करना। इन्होंने यह भी देखा कि पुराने रीति-रिवाजोंके कारण लोगोंमें एक विशेष प्रकारकी कमजोरी आ गयी। अतः बिना इसको दूर किये रोगका निदान अच्छी तरह नहीं हो सकता। इन्होंने यह भी देखा कि बिना पश्चिमी देशोंके प्रगतिशील एवम् उन्नत नवीन विचारोंका तुर्कीमें प्रचार किये देशका उन्नति-पथपर अग्रसर होना असम्भव है। इन्होंने यह भी देखा कि मुस्लिम कानूनसे तुर्कीके लिये यह असम्भव है कि वह पश्चिमीय राष्ट्रोंका मुकाबिला कर सके।



मुस्तफा कमाल

इस निर्णयपर पहुँचकर कमालने सबसे पहले सुलतानका पद तोड़ दिया; क्योंकि इसी सुलतानके कारण तुर्कोंको बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा था। इसके बाद खिलाफतकी बारी आयी और इसका भी खात्मा कर दिया गया।

तुर्कीमें प्रजातंत्र राज्य स्थापित हो जानेपर कमालकी चिरसंचित इच्छाकी पूर्ति हुई। जिस दिन प्रजातंत्रकी घोषणा की गयी थी, राष्ट्रिय असेम्बलीने मुस्तफा कमालको उसका सभापति चुना। इनका प्रजातंत्रका सभापति होना इनकी उन सेवाओंका पुरस्कार है, जो कि इन्होंने देशके गाढ़े मौकेपर की थीं और जिनसे इन्होंने अपने देश वासियोंके हृदयपर अधिकार कर लिया है।

यहींसे कमालकी जिन्दगीका दूसरा पट-परिवर्तन होता है।

मैक्सिम गोर्की

श्रीयुत कामेश्वर शर्मा 'कमल' साहित्यभूषण

शहरकी उस सुनसान और गंदी कोठरीमें बैठकर तीन रूबल मासिकपर मजदूरी करनेवाला वही कंगाल विद्यार्थी आज दुनियामें "मैक्सिम गोर्की"के नामसे प्रख्यात है। 'गोर्की' उसका जन्मका नाम नहीं है, केवल तखल्लुस है। उसका असल नाम है—एलेक्सी मैक्सिमोविच पेशकाफ। 'गोर्की' शब्दका रूसी भाषामें अर्थ होता है—'कटुतम'। गोर्की संसारमें आकर बचपनसे ही जीवनका कड़ुआ घूँट पी रहा है; इसी लिये गोर्की नाम इसे खूब फबता।

❀ ❀ ❀

शहरसे कोसों दूर—'नीजनी नौगोराड' में १८६८ ई० को १४ वीं मार्चको एक गरीब माता-पिताके घर इस मानव-धर्मी कलाकारका अवतार हुआ। चार ही वर्षकी उम्रमें इसे कम्पलीकी बीमारीने दबोचना चाहा; परन्तु जब इस पर उसकी लकड़ी न चली, तब वह इसके पिताको ही ले भागी। अब इसके भरण-पोषणका भार इसकी मातापर पड़ा। वह इसे लेकर अपने पिताके घर गयी। गोर्कीका नाना पुराने विचारोंका पुतला था। सदा क्रोधमें जलता रहता था। वह गोर्कीको दैत्यकी तरह मालूम पड़ता था। छोटी-सी-छोटी बातपर भी खीझ उठना उसके स्वभावमें शामिल था। अपनी पत्नी (गोर्कीकी नानी) को वह इतना पीटता था कि वह बेचारी कई बार बेहोश हो जाती थी। उसकी माँने शीघ्र ही दूसरी शादी की। गोर्कीका सौतेला बाप भी उसकी माँके ऊपर खूब डंडे तोड़ता था। गोर्की खड़ा है और उसकी माँ लहूलुहान हो रही है।

❀ ❀ ❀

सात वर्षकी अवस्थामें गोर्की पढ़नेके लिये स्कूल भेजा गया; लेकिन इस बालकको न तो अध्यापक पसन्द आये और न छात्र। इसी समय उसकी माता भी परलोक सिधारी और इधर नानाकी छोटी-सी गृहस्थी भी मिट्टीमें मिल गयी। अतः अब लाचार अपने छोटे पेटके लिये वह बाहर निकला। सर्वप्रथम एक मोचीके यहाँ जूता गाँठना सीखने लगा; पर जब वहाँ तबीयत न लगी, तब मकानोंमें रंग करनेवालोंके पास चाकरी की। पर वहाँ भी खटपट लगी ही रही, अतः वहाँसे भी वह भागा और एक जहाजमें बर्तन माँजनेका काम करने लगा। जहाजका रसोइया भला आदमी था। उसने गोर्कीको पुस्तक पढ़नेके लिये प्रोत्साहित किया। तबसे उसे पढ़नेकी ऐसी चाट लगी कि वह बिना पढ़े चैन नहीं पाता। वह लिखता है—"१५ वर्षकी उम्रमें मुझे पढ़ने-लिखनेका सख्त सवार हुआ। अतः मैं इस विश्वासके साथ काजानको चल पड़ा कि ज्ञानके पिपासुओंको बिना मूल्य ज्ञान मिलता होगा; पर वहाँ मालूम हुआ, संसारमें ऐसा नहीं होता। इसीलिये मुझे अपना खर्च चलानेके लिये तीन रूबल मासिकपर एक नानबाईकी दूकानमें काम करना पड़ा। ऐसी कड़ी मेहनत मैंने इस जीवनमें नहीं की। एक तंग और अँधेरी कोठरीमें १४, १५ घंटे घोर परिश्रम करना पड़ता था।" गोर्कीके साथ वहाँ और बीस मजदूर काम करते थे। इसने उन सबको उभाड़ना शुरू किया। अतः इसपर मार पड़ी और असह्य यातनाएँ दी गयीं। इसे जीवनसे घृणा हो गयी और इसने एक दिन चुपकेसे अपनी छातीमें रिवाल्वर दाग दी। गोली फेफड़ेके एक बाजूको छूती हुई निकल गयी। जख्म हुआ; पर कलेजा बच गया। अस्पतालमें इलाज हुआ और धीरे-धीरे वह चंगा हो गया।

काजानमें गोर्कीका सम्बन्ध विप्लववादी तरुणोंसे हुआ। वहाँ उसे पढ़नेको पुस्तकें भी मिलीं। उसे तत्कालिक

शासन पसन्द न था। अतः स्वयं भी विप्लववादी बन गया। अपने परिचित नवयुवकको साथ लेकर वह एक गाँवमें बस गया और किसानोंको जमींदारका अत्याचार सुझाने लगा। इन छोटे जमींदारोंको जब यह बात मालूम हुई, तब वे हाथ धोकर उसके पीछे पड़ गये। फिर तो गोर्कीको, जान बचाना मुश्किल होगा। वह वहाँसे भागा और रूसका चक्कर काटने लगा। अपनी इस आवारा-गर्दीमें उसे उन मनुष्योंके साथ रहना पड़ा, जिनके लिये इस दुनियामें न ठिकाना है न आसरा। जिन्हें भूखकी ज्वालासे लाचार होकर उन कार्मोंको करनेके लिये विवश होना पड़ता है, जिन्हें स्वार्थी संसार गुनाह समझता है। गोर्कीने उस निराली दुनियामें झाँक कर देखा और उसे उसके हाहाकारमें, उसकी छीना-झपटीमें, उसके सहस्र नर-कंकालों और उनके अनन्त छिन्नान्वित चिथड़ोंमें मानव-जीवनका सत्य स्वरूप दृग्गोचर हुआ। उसी क्षणसे उस जगत्में उसने अपना अड्डा स्थापित कर दिया। भिखारी और कंगाल, खूनी और डाकू, गुंडे और बदमाशोंकी टोलीने अब उसके लिये समाजका स्थान लिया और समाजकी आत्मामें—उसके अन्तराल में, उसकी भीतरी सतहमें बैठकर उसने देखा किस तरह भूखकी नग्न ज्वालाएँ वहाँ अपना ताण्डव कर रही हैं।

\+ \+ \+

तिफलिस आनेपर गोर्कीके साहित्यिक जीवनका सूत्रपात हुआ। घूमता-घामता जब वह यहाँ आया, तब निर्वासित क्रान्तिकारी काल्यूशिनसे उसकी भेंट हुई। गोर्कीने अपने जीवनके सारे उपर्युक्त अनुभव इससे कहे। इसने उसे अपने कमरेमें बन्द कर दिया और कहा—"अपने इन अनगिनत अनुभवोंपर कुछ लिखो, नहीं तो इस कमरेसे बाहर न जाने दूँगा। मेरी बात दिल्लगी मत समझना।" गोर्की अब लाचार हुआ कि कुछ लिखे। उसने जिप्सी-जीवनपर एक कहानी लिखी! उसकी यह कहानी तिफलिसके 'काफकाल'-नामक पत्रमें प्रकाशित हुई। इसके विषयमें, अपनी आत्मकथामें, गोर्कीने लिखा है—

"लिखनेकी क्षमता नहीं रहनेपर भी मुझे उस समय लिखनेके लिये बाध्य होना पड़ा। मैंने उसी विषयपर अपनी कलम उठायी, जो मेरे मनमें तत्काल अधिक असर रहा था। मैंने उसी दम कोई १० पृष्ठोंकी एक लम्बी-सी कहानी लिख डाली; यद्यपि वह कहानी कलाकी नजरसे बिल्कुल निम्नतर थी; तथापि अपनी अविकसित बुद्धिके प्रथम प्रयासमें मुझे खूब आनन्द मिला। इतना ही नहीं तबसे मुझे एक आदत-सी लग गयी। वह यह कि कोई कथा या कहानी जो मुझे भली लगती, उसे मैं अपनी कापीमें नोट कर डालता।



मैक्सिम गोर्की

"इसी उम्रमें मैं कभी-कभी कविता भी कर लिया करता था। और, सत्य तो यह है कि कविताके प्रति मेरा प्रेम बाल्यकालसे ही था। बिल्कुल नन्हेंपनमें मांके मुँहसे सुना हुआ Lullaby के सारे पद्य मुझे आज भी कण्ठस्थ हैं।"

× × ×

कुछ दिनोंके बाद गोर्कीका परिचय प्रसिद्ध रूसी लेखक कोरोलेंकोके साथ हुआ। इसीने उसकी साहित्यिक त्रुटियाँ बतलायीं और उसे ठीक रास्ता सुझाया। इसी समय गोर्कीकी कई कहानियाँ 'वोल्गा वेस्टनिक' पत्रमें भी छपीं। जब कोरोलेंकोने उन कहानियोंको देखा, तब वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने गोर्कीको अपने घर निमन्त्रित किया और कहा—"अच्छा, अब तो तुम्हारी कहानियाँ प्रसिद्ध पत्रोंमें छपने लगी हैं। मैं हृदयसे तुम्हें बधाई देता हूँ; पर तुम बड़े हठी हो। सदा रूपक ही लिखते हो। परवाह नहीं। रूपक भी क्या बुरा है। हाँ, उसमें हास्य भी चाहिये। × × × यद्यपि तुम्हारी कहानियाँ असम्बद्ध और असंगत प्रतीत होती हैं। फिर भी उनमें बहुत रस है।"

बात यह है गोर्कीने जो लिखा सब अपनी आत्मानुभूतिके आधारपर; किन्तु उसकी भाषा मँजी नहीं होती थी। उसने स्वयं लिखा है—

"शुरू-शुरू पत्रोंमें मैं कहानियाँ ही लिखता रहा। उन कहानियोंकी गुरुताके विषयमें मैंने कभी भी चिन्ता नहीं की। × × × जिस तरह अन्यान्य काहिनी-कारोंने अपनी अपनी कहानियाँ केवल कहानी कहो जानेके लिये लिखी हैं, मैंने भी उसी लिये नहीं लिखी ? मैं स्वयंको कभी कहानी कहनेवालोंमें गिनती भी कराना नहीं चाहता। चिन्ता और अनुभूतिसे जिस वस्तुकी रचना नहीं हुई है, वह चाहे कितनी भी मनोहारिणी क्यों न हो, मुझे अच्छी नहीं लगती; और, एक बात यह कि कहानी या उपन्यासमें "ममत्व" नामक किसी चीजका प्रवर्तन मैं पसन्द नहीं करता। पाठकोंके हृदयको मैं अपनी ओरसे तर्क या युक्ति द्वारा बरबस भाराकान्त करनेका पक्षपाती नहीं। प्रिय हो या अप्रिय—सत्यका प्रस्फुरण ही मेरी रचनाओंकी मूल भित्ति है, प्रधान उद्देश्य है। 'व्यक्तित्वसे शून्य कृति कला-विहीन है'—तुर्गनेवके इस सिद्धान्तका मैं पृष्ठ-पोषक नहीं हो सकता है। कलाकी इस दृष्टिसे मैंने अपने उपन्यासोंमें सफलता नहीं पायी हो। लेखक जब लिखते-लिखते अपनेको प्रकाशित करने लगता है—अपनी प्रतिभा और कल्पनापर फूल जाता है—एवम् अपने उपन्यासोंकी नायक-नायिकाओंके मुँहसे जब अपनी बात कहलवाने लगता है, तभी कलाकारके सत्य (Artistic Truth) का विकास पद-पदपर व्याहत और संकुचित हो उठता है।

"अपने रचे सारे चरित्रको मैंने मनुष्यके वास्तविक जीवनसे ही प्राप्त किया है। जिसके साथ मेरी भावना एक दम घुलमिल गयी है। जिसे मेरी बुद्धिने अच्छी तरह आँच लिया है, उपन्यासके पात्रोंमें मैंने उसीको रूप दिया है। किसी एक व्यक्ति-विशेषके चरित्र-चित्रणके लिये वैसे ही बीसियों व्यक्तिकी अच्छी तरह मैंने जाँच-पड़ताल की है।"

गोर्कीके उपर्युक्त कथनोंका सजीव उदाहरण उसकी रचना—माँ (Mother) है। उसकी कृतियोंके अधिकांश पात्र यद्यपि निकृष्ट श्रेणीके हैं; तथापि उसके चरित्र-चित्रणमें मानव-जीवनकी नैसर्गिक प्रवृत्तियोंका एक सुन्दर विश्लेषण है।

❀ ❀ ❀

गोर्कीपर जारशाही पुलिसकी नजर भी बहुत जल्द पड़ी। कुछ सन्दिग्ध पुरुषोंके साथ आने-जानेके कारण वह बीस वर्षकी आयुमें ही जेल भेजा गया। १९०१ में जब वह मोचीं-मजदूरोंमें राजनीतिक विचारोंका प्रचार करने लगा, तब वह फिर आर्सामासको निर्वासित कर दिया गया। पर साल भर बाद ही वह छोड़ दिया गया और पीटर्सबुर्ग पहुँचकर लेनिनके दलमें जा मिला। शीघ्र ही वह फिर पीटर्सपालके किलेमें कैद किया गया। पर इस समय उसका साहित्यिक नाम संसार-भरमें हो चुका था। इसलिये सारे जगत्में हलचल मच गयी और जारकी सरकारको उसे बाध्य होकर जेलसे मुक्त करना पड़ा।

१९०६ में, वह रूससे बाहर देशाटन करने तथा लोगोंमें ज़ारके विरुद्ध मतका प्रचार करनेके लिये निकला। बर्लिन, पेरिस और न्यूयार्क गया। इस समय उसके साथ इसकी पत्नी भी थी। दोनोंका विवाह गान्धर्व रीतिसे हुआ। वह महान् 'सुधारवादी धर्मात्मा'—अमेरिकाको खटका और वहाँ से इसे भगानेका उपाय होने लगा। अन्तमें वह इटलीके पास 'केप्री' टापूमें आ बसा और वहाँ उसने फिरसे लिखने-पढ़नेका काम शुरू किया। सन् १९०७ में, रूसी साम्यवादी दलकी जो कांग्रेस लंदनमें हुई, गोर्की इसमें पहुँचा। वहीं लेनिनसे उसका प्रथम साक्षात्कार हुआ। लेनिन उससे बोला—"तुम भले आये। तुम लड़ाका हो और मुझे ऐसोंकी जरूरत है।" इसके बादसे तो फिर दोनोंमें आजीवन मित्र-भाव बना रहा। केप्रीमें गोर्कीने रूसी मजदूरों तथा पेशेवर क्रान्तिकारियोंके लिये एक स्कूल भी खोला और यहींसे श्रमिक आन्दोलनको उसने बहुत मदद पहुँचायी।

१९१३ में, गोर्की रूस लौटा। क्रान्तिके बाद उसने 'प्रोलेटेरियट' में सभ्यता और संस्कार फैलानेका कार्य उठाया। यहाँ सब साहित्यिकोंने इसका सम्मान किया। लियोनिड आन्द्रियेव उसका लंगोटिया यार था। चोखेव इसकी इज्जत करता था। टालस्टायके विचार इससे कुछ भी नहीं मिलते थे। क्योंकि वह नीति और सदाचारका बोझ उठाये हुए था और गोर्की अपने अनुभवसे जानता था कि मनुष्य नीतिका पाठ पढ़कर देवता नहीं बन सकता। फिर भी दोनोंमें मित्रता थी और एक दूसरेका सम्मान करते थे। आज ये सब दिग्गज इस संसारमें नहीं हैं; पर गोर्की है। इसके साहित्यका वह काम अब भी जारी है। अलेक्जेंडर द्वितीयके समयसे सन् १९११ ई० की क्रान्ति तकके सम्बन्धमें वह तीन जिल्दोंमें एक पुस्तक लिख रहा है। पहली पुस्तक १९३० और दूसरी १९३१ में प्रकाशित भी हो चुकी है; इधर तीसरा खण्ड भी निकल गया।

❀ ❀ ❀

गोर्कीका स्वास्थ्य कभी बहुत अच्छा नहीं रहा है। वह क्षय रोगसे ग्रस्त है; पर जिस लगनके साथ वह काम करता है, उसे देखकर चकित होना पड़ता है। सवेरे नौसे लेकर एक तक और रातमें आठसे बारह तक इसका बराबर लिखते-पढ़ते रहनेका नियम है। कभी-कभी यह अविश्रान्त रात-दिन भी काम करता रहता है। अपनी The birth of the man नामक पुस्तक लगातार लिखते रहनेपर सिर्फ चार घंटेमें समाप्त कर डाली थी।

लिखनेके पूर्व वह कभी प्लाटकी चिन्ता नहीं करता। कहता है—"लिखते-लिखते गल्पांश आप-से-आप दुरुस्त होता चलता है। पात्रोंके चरित्र स्वतः ही गठित हो जाते हैं और स्वतः ही स्वाभाविक गतिसे प्रस्फुटित भी। मैं यदि पहले ही प्लाटकी कल्पना करके लिखने बैठूँ, तो कहानीका चरित्र अस्वाभाविक एवम् कृत्रिम हो जाय—ऐसा मेरा खयाल है।'

गोर्कीकी छोटी-छोटी कहानियाँ बेमिसाल होती हैं—अन्तस्तलको छूनेवालीं। वहाँकी जनताका इस कलाकारके प्रति अगाध श्रद्धा है और सोवियट रूसने भी इसका बड़ा सम्मान किया है।

महात्मा कनफुसियस

पं० विन्ध्येश्वर मिश्र बी० ए०, डिप० एड०

प्रायः देखा जाता है कि जब किसी देशका सामाजिक, राजनीतिक तथा आध्यात्मिक पतन हो जाता है, तब वहाँ किसी एक महान् आत्माका प्रादुर्भाव होता है, जो उस देशका सुधार करता है। ईसा मसीहसे छः सौ पूर्व चीनमें चाउ या चू वंश का राज्य था। उसकी दशा बड़ी शोचनीय हो रही थी। शासन-चक्र ढीला पड़ गया था। सामन्तों, राजाओं तथा उनके अधीनस्थ सरदारोंमें निरन्तर लड़ाई–झगड़ेके कारण देश कष्ट तथा दुर्भिक्षोंका शिकार बना हुआ था। स्त्रियोंकी दशा भी अत्यन्त शोचनीय हो रही थी। पुरुषोंमें बहु–विवाह-व्याधि बेतरह फैली हुई थी। देशमें कोई निश्चित तथा प्रभावशाली आध्यात्मिक संगठन नहीं था। स्वर्ग तथा नरकका लोगोंको ज्ञान न था; इसलिये वे इसकी कामना ही नहीं रखते थे।

ठीक इसी समय महात्मा कनफुसियस या कनफुची (confucius) का जन्म ईस्वी सन्से ५५० या ५५१ वर्षपूर्व हुआ। इनके पिताका नाम Shahbang Heih और माताका नाम इचेल-शिङ्ग-सार्ड था। ये एक बड़ा वीर योद्धा और एक प्रसिद्ध प्राचीन राज्य कुलका वंशज था। कनफुचीका जन्म ल्यू राज्य दो (जो वर्तमान शान्तुंग प्रदेशके अन्तर्गत है) के विभिन्न स्थानोंमें माना जाता है। पीछेके इतिहाससे इनके जन्मके बारेमें, जैसे कृष्णके जन्मके सम्बन्धमें हमारे शास्त्रोंमें कथाएँ पाई जाती हैं, वैसे ही बहुतसी आश्चर्य-जनक बातें मिलती हैं। एक स्थानपर लिखा है कि, इनके जन्मके पूर्व इनकी माताको स्वप्न हुआ। तदनुसार इनकी माता एक गुफामें गयीं जहाँ दैत्योंने उन्हें घेर लिया और उनके भावी पुत्रकी महिमा भी उन्हें सुनायी। इसके बाद कनफुचीका जन्म हुआ। ये अपने माता-पिताके बुढ़ापेके पुत्र थे और जब इनके पिता इस लोकको छोड़ गये। तब कनफुची केवल तीन वर्षके शिशु थे। इनका बचपन दरिद्रतामें बीता और इनकी प्रारम्भिक शिक्षा भी अनियमित रही।

उन्नीस वर्षकी अवस्थामें इनका विवाह हुआ। इन्हें ली नामका एक लड़का तथा दो लड़कियाँ भी हुईं। विवाहके कुछ ही दिन बाद ये अपने जिलेके अधीन अन्नके भाण्डारी नियुक्त हुए और साधारण भूमि और पशुके संरक्षणका भार भी इन्हें मिला। इन कामोंको इन्होंने बड़ी उत्तमता तथा कर्त्तव्य–निष्ठाके साथ सम्पन्न किया।

नौकरी करते रहनेपर भी इन्होंने अध्ययन नहीं छोड़ा। अपने सतत परिश्रमसे इन्होंने कई विषयोंमें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। बाईस वर्षकी अवस्थामें कनफुचीने अध्ययनका कार्य प्रारम्भ किया, इनकी हार्दिक अभिलाषा थी कि लड़के प्रतिभाशाली और परिश्रम-शील हों। इसके दो वर्ष बाद ही इनकी माता भी इस दुनियासे विदा हो गयीं। माताकी मृत्युसे इनके हृदयको बड़ा आघात पहुँचा। उसी समय कनफुचीको अपनी प्रतिभाका आभास हुआ। इन्होंने लिखा भी है कि मैं एक आदमी हूँ जिसपर सबका समान अधिकार है। ईस्वी सन्से ५१७ वर्ष पूर्व इनकी ख्याति इतनी बढ़ी कि ल्यूके प्रधान आफिसरने जो अपनी मृत्यु-शय्यापर पड़ा था अपने

लड़के तथा भाईको कनफुचीसे ही पढ़नेका आदेश दिया। इससे इनकी प्रतिष्ठा और बढ़ चली। लो शहर पहुँचकर इन्होंने राज-पुस्तकालय, मन्दिर तथा समाधि-स्थलोंका निरीक्षण किया। यहीं इनका लाअट्‌ज़ेसे साक्षात्कार हुआ।

ल्यू लौट आनेपर इनकी ख्याति और बढ़ी। इनके अनुयायियोंकी संख्या बढ़कर एक हजार हो गयी। ल्यूके राजाने इनके गुणोंपर मोहित होकर इन्हें न्यायाधीशके पदपर नियुक्त किया। ल्यू-राज्यमें कुछ ऐसे प्रधान सरदार थे, जो बराबर ल्यूके राजासे लड़ा करते थे। अन्तमें सबने मिल-कर राजाको राज्यसे भगा दिया। राजा भागकर राज्यमें चला गया। कनफुची भी उसके साथ ही गये।

शिके राजाने कनफुचीका बड़ा सत्कार किया और लिन-क्यु राज्य उन्हें भेंट करना चाहा; पर इस महात्माने यह कहकर राज्य लेनेसे इनकार कर दिया कि, "उच्च कोटिके मनुष्य बिना कोई-कार्य किये पुरस्कार ग्रहण नहीं करते।"

राजाने उन्हें और कई प्रलोभन दिये; पर महात्मा कनफुची राजाको अपने उपदेशानुसार चलते न देखकर शि-राज्यको छोड़कर फिर ल्यू-राज्यको लौट आये।

ल्यू लौटकर कनफुचीने अपना समय अध्य-यनमें ही बिताया। इसी समय इन्होंने "Book of ades" नीतिकला तथा "Book of offices" (व्यवहार-शास्त्र) नामकी दो पुस्तकें लिखीं। इस समयकी, उनके पुत्र लीके सम्बन्धमें, घटना उल्लेखनीय है। एक दिन कनफुचीके एक शिष्यने लीसे पूछा—"क्या पिता तुम्हें उतनी ही शिक्षा देते हैं, जितनी और शिष्योंको अथवा कुछ अधिक? लीने उत्तर दिया केवल एक दिन (जब वे अकेले खड़े थे) उन्होंने मुझसे पूछा—'क्या तुमने "नीति-कला" पढ़ी है?" मेरे इनकार करनेपर उन्होंने फिर कहा, 'यदि यह पुस्तक नहीं पढ़ोगे तो किसीसे बात-चीत कैसे कर सकोगे?' फिर दूसरे दिन उन्होंने पूछा कि, 'क्या तुमने व्यवहार-शास्त्र पढ़ा है?' मेरे 'नहीं' कहनेपर उन्होंने कहा कि, 'बिना इसपुस्तकके पढ़े तुम्हारा चरित्र ठीक नहीं हो सकता।'

बहुत दिनोंतक राज्य-कार्यके झंझटसे अलग रहनेपर ईस्वी सन्‌से लगभग ५०० वर्ष पूर्व ये चेमत् (Chemgt o) के प्रधान जिलाधीशके पद-पर नियुक्त किये गये। यहाँ इन्होंने ऐसी खूबी और कार्य-पटुतासे काम किया कि, क्रमशः एक पदसे दूसरे पदपर बढ़ते गये और अन्तमें ये अपराध-सचिव (Minister of crimes) बना दिये गये। इनके इस पदपर आनेसे देशमें अप-राधियोंकी संख्या नहींके बराबर हो गयी और बहुत लोग तो यहाँतक कहते हैं कि, इनके सम-यमें अपराध देशसे विदा हो गये थे।

कनफुचीके आचार-विचार तथा चाल-चल-नका दिग्दर्शन इनकी पुस्तक (Analeets) के दसवें भागमें हो जाता है। इनका मत है कि, मनुष्यका आचार-व्यवहार ही उसका सर्वस्व है। वे यह भी कहा करते थे कि कोई भी काम आदर्शके रूपमें किया जाना चाहिये।

पर समयने पलटा खाया और इनके अभ्यु-दयका समय भी समाप्त हो चला। निकटस्थ शि राज्यका राजा ल्यू राज्यके अभ्युदयको देखकर इस भयमें पड़ गया कि, कहीं ल्यू-राज्यकी शक्ति इतनी न बढ़ जाय कि शि राज्यको भी उसका वशवर्ती बनना पड़े। इसलिये अपने एक मन्त्रीकी सलाहसे उसने ल्यूके राजाके पास उपहार-स्वरूप,

८० सुन्दरी युवतियाँ (जो नृत्य-गानमें प्रवीण थीं) भेजीं। इनके साथ १२५ घोड़े भी भेजे। फल यह हुआ कि राजा भोग-विलासमें लीन हो गया और राज-कार्य ढीला पड़ गया। कनफुचीके उचित परामर्शका तिरस्कार होने लगा। अन्तमें कनफुचीने दुःखके साथ नौकरी छोड़ दी और स्वतन्त्र भ्रमण करना आरम्भ कर दिया। अब भी कनफुचीको आशा थी कि किसी निकट-वर्ती राज्यमें उनकी योग्यताके अनुकूल कोई पद मिल जायगा। उनका कहना था कि यदि कोई राजा मेरे कथनानुसार बारह महीनोंतक चले, तो मैं बहुत अधिक उन्नति करके दिखा सकता हूँ और तीन वर्षोंमें तो जो-जो मैं आशाएँ रखता हूँ, सबको पूरी करके दिखा सकता हूँ। उन्हें विश्वास था कि वे राजाको सिखला सकते थे कि उसे कैसा बर्त्ताव करना चाहिये, किस काममें प्रोत्साहन देना चाहिये और किस कामको रोकना चाहिये। उनका कहना था कि शासन अच्छा तभी हो सकता है, जब शासक शासक हों, मन्त्री मन्त्री हों, पिता पिता हों, और पुत्र पुत्र हों।

यद्यपि कनफुचीका, भ्रमणके समय, बहुत सत्कार हुआ था; तथापि इन्हें कहा कोई नौकरी नहीं मिल सकी। भ्रमणके समय इन्हें तथा इनके साथियोंको कभी-कभी बहुत दुख झेलना पड़ा। यहाँ तक कि किसी-किसी मौकेपर तो इनको जानपर बीतने लगी थी।

अन्तको ये वुई (wei) राज्यको लौटे और बहुत वर्षों तक किताबें लिखने तथा शिक्षा देनेका काम करते रहे। इन्हीं दिनों इनका प्रिय शिष्य येन ह्युई (Yen Hwuy) मर गया, जिससे इन्हें असह्य दुःख हुआ। कहा जाता है कि, इनकी पत्नी ईस्वी सन्से ४८४ वर्ष पहले मरी। तत्पश्चात् ४८३ बी०सी० में कियांगने इन्हें ल्यू राज्यमें बुला लिया। यहाँ आनेपर भी इनकी कोई विशेष प्रतिष्ठा नहीं हुई। इन्हें किसी भी राज्य-कार्यमें भाग नहीं लेने दिया गया। फलतः इन्होंने सब काम छोड़कर अपना सारा समय अपने ग्रन्थोंको पूरा करनेमें ही लगाया। कहा जाता है कि इन्हीं दिनों इन्होंने अपने देशके प्राचीन इतिहास "शुकिंगकी" भूमिका लिखी; पुराने रस्म-रिवाजोंका एक संक्षिप्त विवरण लिखा, प्राचीन पद्योंका संग्रह किया तथा गान-विद्याकी उन्नतिका यथासाध्य प्रयत्न किया। ४८२ बी० सी० में इनका लड़का ली मर गया। ४८१ बी० सी० मे इनके एक और प्रसिद्ध शिष्य जेलू (Tz-loo) की मृत्यु हुई।

ईस्वी सन्से ४७८ वर्ष पूर्व एक दिन प्रातःकाल महात्मा कनफुची अपने पलंगसे उठे और यह कहते हुए घरके दरवाजेपर घूमने लगे—"बड़े-बड़े पहाड़ चूरचूर हो जाते हैं। मजबूतसे मजबूत कड़ियाँ भी टूट जाती तथा ज्ञानवान् मनुष्य भी पौधेकी तरह मुरझा जाते हैं।" बादको ये घरके अन्दर आकर दरवाजेके सम्मुख बैठ गये। इनकी यह हालत सुनकर इनका एक शिष्य दौड़कर आया, जिससे इन्होंने कहा—"मैंने स्वप्न देखा है—समस्त साम्राज्यमें कोई भी ऐसा समझदार राजा नहीं है, जो मुझे अपना उपदेशक बनावे। मेरे मरनेका समय आ गया।" यह कहकर ये शय्यापर पड़ गये और सात दिनों बाद ४७८ बी०सी० में ७३ या ७४ वर्षकी आयुमें, इस संसारसे चल बसे। इनका शव सी (sze) नदीके किनारे ल्यूके प्रधान शहरसे उत्तर दफनाया गया। इनके शिष्य, इनकी मृत्युके बाद, तीन वर्षतक शोक मनाते रहे।

महात्मा कनफुचीके सिद्धान्त—ये पुरातनताके पक्षपाती थे और स्वयं कहा करते थे कि, मैं कोई खास ज्ञान लेकर पैदा नहीं हुआ हूँ। केवल इन्होंने पुरानी बातोंका संग्रह करके लोगोंके सामने उन्हें नियमित रूपसे रखा। ये कभी भी सृष्टिके प्रारम्भ अथवा अन्तकी बातें नहीं करते थे और न मनुष्यके भविष्य या वर्त्तमानकी बातें ही इनके लिये वक्तव्य थीं। ईश्वरके प्रति इनका कुछ ढीला विश्वास था, परन्तु Heaven (स्वर्ग) को ये मानते थे। पूर्वजों तथा दूसरे प्रेतोंकी पूजाको इन्होंने बहुत बढ़ा दिया, यद्यपि इन्होंने कभी यह नहीं बतलाया कि, मरनेके बाद मनुष्यकी आत्मा जीवित रहती है। इनकी कुछ कहावतें मशहूर थीं। इनका कहना था कि मनुष्य स्वर्गका प्रतिनिधि है; इसलिये वह सबसे बड़ा है। स्त्री उसकी आज्ञानुवर्तिनी है और पुरुषोंके सिद्धान्तोंको कार्य रूपमें परिणत करनेमें सहायता करती है। बचपनमें स्त्रीको अपने पिता अथवा बड़े भाईकी आज्ञा माननी चाहिये, विवाह होनेपर स्वामीकी और स्वामीकी मृत्युके बाद अपने पुत्रकी आज्ञा माननी चाहिये। स्त्री दूसरी शादीकी बात ही नहीं सोच सकती। स्त्री न कोई सलाह दे सकती है और न कोई हुकूमत ही कर सकती है। स्त्रीका काम केवल भोजन तथा मदिरा तैयार करना और पुरुषकी सेवामें लगी रहना है।

स्त्री वह वस्तु है, जिसे दरवाजेके बाहर कोई देख न सके। पाँच तरहकी स्त्रियोंसे विवाह नहीं करना चाहिये—बागी घरकी लड़की, अव्यवस्थित घरकी लड़की, उस घरकी लड़की, जिसके कुलमें वंश-परम्परासे अपराधी हुए हों, जिसके वंशमें, कुष्ठकी व्याधि हो तथा जिसका पिता या बड़ा भाई मर गया हो। सात कारणोंसे स्त्रीका परित्याग किया जा सकता है—स्वामीके माता-पिताकी आज्ञाका पालन नहीं करना, बुरी चाल-चलन, ईर्ष्या-द्वेष, वाचालता, चोरी तथा पुत्र पैदा करनेमें असमर्थता। पर इनसे कोई दोष रहनेपर भी स्त्रीका परित्याग नहीं किया जा सकता यदि नीचे लिखी तीन बातोंमें से कोई हो—यदि उसके पिताका घर नष्ट हो गया हो, यदि स्त्रीने अपने स्वामीके साथ उनके माता-पिताकी मृत्युके बाद तीन वर्षों तक शोक प्रकट किया हो, यदि पति दरिद्र न होकर अधिक धनी हो गया हो।

सबसे अच्छी बात, जो कनफुचीने बतलायी है, वह यह है कि मनुष्यका आचार नियमित होना चाहिये। तथा कोई भी काम किया जाय, वह इस तरह किया जाय कि दूसरोंके लिये वह आदर्श हो।

इन्होंने यह भी बतलाया है कि, बड़े और छोटेमें वायु और घासका सा सम्बन्ध होना चाहिये। जैसे वायु चलनेपर घास झुक जाती है, उसी तरह बड़ोंके सामने छोटोंको नम्र हो जाना चाहिये।

एक शिष्यके पूछनेपर कि कोई एक ऐसा शब्द है, जो दैनिक व्यवहारमें नियमका काम करे, कनफुचीने कहा कि, ऐसा शब्द बदला (veipro-City) है और बतलाया कि, दूसरेके साथ वैसा व्यवहार न करो, जैसा व्यवहार तुम अपने साथ नहीं पसन्द करते। बहुत दिनोंके बाद यही उपदेश ईसा मसीह द्वारा प्रचारित हुआ।

मोहम्मद साहब

श्रीयुत माहेश्वरी सिंह "महेश" बी० ए०

मोहम्मद साहब इस्लाम धर्मके प्रवर्तक थे। इनकी मृत्यु सन् ६२२ में, जून मासमें हुई थी। मृत्युके समय इनकी अवस्था अनुमानतः ६२ या ६५ की थी। इनके पिताका नाम अब्दुल्ला था और माताका नाम था अमीना। इनका जन्म पिताकी मृत्युके बाद हुआ था। ये पितामह तथा चाचा द्वारा पाले-पोसे गये थे।

युवावस्थामें मोहम्मद साहबने काफी भ्रमण किया था। इनका बहुतेरा समय मरुभूमिमें वेडविनकी भाषा सीखनेमें बीता था। इसके अलाव ये मक्केके व्यापारियोंके साथ सीरिया, दक्षिण अफ्रीका तथा मेसोपोटामियामें भी खूब घूमे थे। इस यात्रासे इन्होंने पर्याप्त अनुभव लाभ किया था।

इनका विवाह खदीजाके साथ हुआ था। विवाहके समय खदीजाकी अवस्था ४० वर्षकी थी। मोहम्मद साहब उससे १५ वर्ष छोटे थे। कहा जाता है कि विवाहके बाद ये मक्केकी एक दूकानके हिस्सेदार बने।

यद्यपि इनकी शिक्षा नहींके बराबर थी, तथापि इन्हें अपने अनुपम व्यावहारिक ज्ञानके कारण काफी ख्याति मिली थी। कुरान शरीफमें इन्हें 'उम्मी' कहा गया है। जिसका अर्थ है, जो न लिख सके और न पढ़ सके। किन्तु इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है, जो लिख-पढ़ सके, किन्तु खूब ठिकानेसे नहीं। साधारण बुद्धिके अनुसार दूसरा अर्थ ही मानना विशेष उपयुक्त होगा।

हम जिस समयकी बात कह रहे हैं, उस समय क्रिश्चियन, यहूदी तथा अबिसीनिया निवासियोंका काफी दौर-दौरा था। वहाँ वालोंपर उनका प्रभाव कम नहीं था। कुरानको देखनेसे पता चलता है कि मोहम्मद साहबने अब्राहमके रिलीजन (धर्म) को अपनाया था। अब्राहम या इस्माइल कोई नया नाम न था; वरन् वह मोहम्मद साहबके बहुत पूर्वसे ही प्रचलित था। लोगोंपर इसका प्रभाव जोरोंका था। अतएव यह नितान्त सम्भव है कि यात्रा-कालमें इसका काफी असर युवा मोहम्मदपर पड़ा हो।

प्रारम्भमें मोहम्मद साहब अपना प्रचार चुपके-चुपके करते रहे। इनके अनुगामियोंकी एक जबर्दस्त गुप्त संस्था थी। ये लगातार तीन वर्षों तक मक्केके पास, हीरा पर्वतपर, एकान्त जीवन व्यतीत करते रहे। इस समय एक दिन उनके हृदयमें धर्मका दिव्य प्रकाश देख पड़ा। यह प्रकाश मानव-समाजका कल्याण-प्रदर्शक था।

कुरानशरीफकी बातोंको मानकर यह मजेमें कहा जा सकता है कि यह प्रारम्भिक ज्ञानज्योति खुदाकी देन थी। प्रारम्भमें पैगम्बर मोहम्मद साहबने अपने सन्देश अपने सम्बन्धियोंको सुनाये। ये सन्देश मौखिक थे। आगे चलकर इनके अनुगामियोंने इन्हें लिख रखा। यों तो सिद्धान्त एवं व्यावहारिकताके इन सन्देशोंका जीवनके भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंसे काफी सम्बन्ध था; किन्तु महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त खुदाकी एकता तथा भावी जीवनकी कल्पना है।

मोहम्मद साहबके सर्वप्रथम अनुगामियोंमें, उनकी स्त्री, इनके चाचा तथा अबूबेकर, जो आगे चलकर इनके उत्तराधिकारी भी हुए, उल्लेखनीय हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि प्रारम्भमें ये अपना प्रचार चुपचाप करते रहे और इनके अनुगामियोंकी एक जबर्दस्त गुप्त संस्था थी; फलतः ६१६ के करीब, जब वे सार्वजनिक जीवनमें खुल्लम-खुल्ला उतरे, विशाल जनसमूह उनका अनुगामी बन गया।

जिन्होंने इनके विरोधमें आवाज उठायी। फलतः संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। शुरुमें यह संघर्ष बातोंका था, बादमें कूटनीतिपर पहुँचा और अन्तमें युद्धकी नौबत आयी। किन्तु हर्षका विषय यह था कि इन संघर्षोंमें दिनानुदिन इनकी विजय होती गयी। अतएव इन्होंने अपना कार्य बढ़ाया एवम् निम्नश्रेणीके लोगोंकी भी रक्षाका भार अपने माथे लिया। यह काम खतरेसे खाली न था। किन्तु खुदाकी दुआ थी, इन्हें जफर



मोहम्मद साहब

यदि हम इन प्रारम्भिक बातोंको छोड़ दें, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि उनके उत्साही एवम् लगनशील अनुगामियोंने ही उन्हें आगे बढ़नेको बाध्य किया हो, बहुतेरे ऐसे भी थे

जैसा साथी था एवम् अबिसीनियाके राजा जैसा प्रबल सहायक।

मक्केके नेता मोहम्मद साहबकी इस उन्नति एवं विजयको फूटी आँख भी नहीं देख सकते थे। उन

लोगोंने मक्केको घेर लिया और मोहम्मद साहब तथा इनके साथियोंको भूखों मारनेको विचारा। सचमुच यह घेरा बड़ा मुश्किल हो चला। किन्तु इसी समय इनके हृदयमें पुनः दिव्य ज्योति जग उठी। उसके सामने उनका टिकना मुश्किल-सा हो गया। किन्तु, अन्तिम निर्णयपर पहुँचनेके पूर्व ही परिस्थिति एक बार फिर संगीन हो गयी। इसी समय दुर्भाग्यवश इनके नामी सहायक मर गये। फलतः पैगम्बर अरक्षित एवं अकेले बच रहे। ये वहाँसे किसी प्रकार भाग निकले और तईफमें जा रहे। वहींसे इन्होंने सन्धि-चर्चा छेड़ी, जो अन्तमें पूरी हुई।

जिस समय मक्केमें गड़बड़ी चल रही थी, मदीनेवालोंने इन्हें अपना नेता स्वीकार किया और वहाँ प्रचार तथा शान्तिके लिये इन्हें बुला भेजा। वे चुपकेसे मदीने जा पहुँचे। इनका यह समय हिजराके नामसे प्रसिद्ध है। वहाँ इनका काम गुप्त रूपसे चलता रहा। फिर भी कुछ दिनोंके बाद बात प्रकट हो गयी। फलतः संघर्ष फिर शुरू हो गया। इस बार यह इस हदतक पहुँचा कि एक बार कुछ लोग इनकी हत्या करनेको पहुँच गये। किन्तु भाग्यवश ये पहले ही अपनी जगह अलीको रख उस स्थानको छोड़ चुके थे। ये वहाँसे भागकर भूखे-प्यासे अबूबेकरके साथ पर्वतकी गुफामें जा छिपे। बात यहीं तक समाप्त न थी। इनके अन्य विरोधी भी भरे पड़े थे। इनमें एक यहूदी थे, दूसरे क्रिश्चियन। इन लोगोंके साथ भी इनका काफी संघर्ष चला, किन्तु अन्तमें सफलता इन्हींके साथ रही। फलतः हम देखते हैं कि एक पिछड़े देशमें जन्म लेकर, शिक्षासे दूर रहकर, विषय-परिस्थितिमें पलकर, संघर्षोंकी ठोकर खा एवं कंटकपूर्ण पथपर विचरण करते हुए मोहम्मद साहबने विश्वको प्रेम और समानताका स्वर्गीय संदेश सुना कर मानव-समाजके कल्याणमें अपना जीवन लगाया।

मोहम्मद साहबकी जीवन-सम्बन्धी कुछ मुख्य तिथियाँ—५७० ई०में जन्म, ५९५ ई० में विवाह, ६१० ई०में ज्ञानका दर्शन, ६१३ ई०में सार्वजनिक जीवनमें प्रवेश, ६१६ ई० में फारस विजय, ६१७ ई०में साथियोंका अबिसीनिया भाग जाना, ६१८-१९ ई०में मक्केका घेरा एवम् सन्धिचर्चा, ६२० ई०में तईफको भागना, ६२२ ई०में मुस्लिम संवत्‌का प्रारम्भ, ६३२ ई०में (जनवरी, पुत्रकी मृत्यु) जून, मृत्यु।

मुहम्मद साहबके शासन नियमशील थे। ये नियम विधायक, शासन-कर्त्ता, युद्ध संचालक एवं न्याय-कर्त्ता थे। इन्होंने मानव जीवनको एक नये साँचेमें ढालना चाहा था। इनके सिद्धान्तमें मानवोचित अधिकारकी पूरी रक्षा की गयी है। इसके अनुसार महिलाओंको भी वही अधिकार प्राप्त है जो पुरुषोंको है।

एंड्रू कारनेगी

प० हंसकुमार तिवारी

चिंउद नामक एक बौद्ध भिक्षु भगवान् बुद्धके लिये भीख माँगने आया था। राजा थाली भर सोना देने गये, सेठ-साहूकार तथा अन्यान्य धनी-मानी लोग रत्न-जटित वस्तु, आभूषणादि लेकर दौड़े; किन्तु भिक्षु उन्हें ले तो क्या? उनकी ओर मुड़कर उसने देखा भी नहीं! एक भिखारिन, जिसे पहने हुए चिथड़के सिवाय और कुछ भी नहीं था; पेड़की आड़में रह कर नंगी हो चिथड़ेको भिक्षुकी ओर बढ़ा दिया! भिक्षुने चिथड़ा ले लिया और भगवान् बुद्धके चरणोंमें अर्पित करनेके लिये आनन्दित होकर चलता हुआ।



एंड्रू कारनेगी

एंड्रू कारनेगीने अपनी अपूर्व दान-वीरताके ही कारण संसारके हृदयमें अपने लिये एक बड़े भारी सम्मानका स्थान बना लिया है। बचपनमें उन्हें दाने-दानेका मुहताज होना पड़ा था। उन्हें अच्छी शिक्षा भी नहीं मिली थी। फिर भी उन्होंने असमान्य अर्थोपार्जन किया। कारनेगीने अपने अथक परिश्रमसे लोगोंको दिखला दिया कि उद्योगीके आगे सफलता आठों पहर हाथ बाँधे खड़ी रहती है।

एंड्रू कारनेगी आज मरकर भी अमर हैं। विपुल धनके स्वामी होते हुए भी, उन्हें धनका अभिमान छूतक नहीं गया था। दीन-दुःखियोंके दुःख दूर करनेकी उन्हें उत्कट अभिलाषा थी, जो प्रायः धनियोंमें नहीं पायी जाती। कारनेगीके विचारकी महत्ता उन्हींके शब्दोंमें सुनिये—"अपनेको स्वाधीन तथा समर्थ कर लेना ही मनुष्यके जीवनका सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है; लेकिन यहीं उसके सारे कर्त्तव्य समाप्त नहीं हो जाते। अपने दरिद्र भाइयोंके मार्गकी कठिनाइयोंको कुछ सुगम कर देना उसका कर्त्तव्य है। पृथ्वीको उन्नतिके मार्गमें अग्रसर करानेका आदर्श भी जीवनका एक बहुत बड़ा उद्देश्य है।... ..करोड़पति प्रायः अर्थके ही दास हो जाते हैं। वे स्वयं रुपया नहीं पाते, रुपया ही उन्हें पा बैठता है!"

कारनेगीने अपने जीवनमें अर्जित किये १५० करोड़ रुपयेमें साढ़े बेरासी करोड़ रुपये स्कूल, लाइब्रेरी, पेन्शन फंड आदि-आदि धार्मिक कार्योंमें दिये। प्रायः साठ करोड़ रुपये पार्क और भवन-निर्माण आदिमें लगे। मृत्युके बाद केवल साढ़े सात करोड़ रुपये ही उनके निकले।

दानमें लोग पात्रापात्रके विचारको भी अत्या-

कष्टप्रद समझते हैं; परन्तु कारनेगीने समान रूपसे सबको दान दिया। जिससे एक बहुत बड़ी जन-संख्याका कल्याण हुआ। इसलिये उनके विचार सूर्य-सरीखे ही मालूम होते हैं, जो छोटे-बड़े, भले-बुरे सबके लिये एक समान ही प्रकाश फैलाते हैं। किन्तु कारनेगी आँखें मूँद कर ही रुपये छोट देते थे, यह बात भी नहीं कही जा सकती। वे दान देते समय अवश्य ही हानि-लाभ सोच लिया करते थे।

बुकर वाशिंगटन नामक एक नीग्रोने नीग्रो जातिकी शिक्षाके आयोजनके लिये एक बार उनसे अनुरोध किया। कारनेगी साफ इनकार कर गये। बुकरका हृदय दुःखसे भर गया। उफ् उस महान् पुरुषके हृदयमें यह जाति-विद्वेष, जिसने दूसरोंके लिये ही प्रायः सब कुछ लुटा दिया! लेकिन बुकर हिम्मत हारनेवाला न था। सत्तू बाँधकर उनके पीछे पड़ा रहा। आखिर कारनेगीका हृदय कुछ पसीजा। कुछ रुपये उन्होंने दिये। बुकरकी आशालता लह-लहा उठी। कारनेगीकी दातव्य-वृत्तिके सदुपयोगका सुयोग पाकर उसका हृदय बाँसों उछल पड़ा। बुक-रने अर्थका सद्व्यवहार किया और कौड़ी-कौड़ीका हिसाब लिखकर उन्हें दिखलाया। फिर तो कारनेगीने सूपके-सूप रुपये उँड़ेल दिये। कारनेगीके दान-यज्ञका पूरा विवरण देनेके लिये शायद एक बड़ा पोथा भी पर्याप्त नहीं। इस छोटेसे लेखमें कहाँ तक सम्भव है, हमारे विज्ञ पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं। १६०३ सालमें हेगके Palace of peace निर्माणके लिये ४५०००००) रुपये देकर उन्हें बहुत आनन्द मिला था। लेकिन जीवनके सब दानोंसे बढ़ कर आनन्द मिला था, तृप्ति मिली थी उन्हें स्वदेश (स्काटलैंड) में अपने प्रतिवेशियोंके लिये पिटेन-क्रीफ ग्लेन (तराई) खरीद कर। आजकल वह पार्क रूपमें व्यवहृत हो रहा है।

सन् १८३५ सालके २५ नवंबरको, स्काटलैंडमें डन-फार्मलिन काटेजमें, कारनेगीका जन्म हुआ। उनका परिवार अत्यन्त ही दरिद्र था। दिनकी रोटी किसी तरहसे चलती तो रातका ठिकाना नहीं और रातकी चलती तो दिनका ठिकाना नहीं। पिता हाथसे कपड़ा बुनते थे। किन्तु उस समय तक मशीन द्वारा कपड़े काफी संख्यामें बुने जाने लगे थे। अन्य श्रमजीवियोंकी तरह उनके पिता भी मशीनकी प्रतियोगितामें नहीं टिक सके।

बालक कारनेगीने जब होश सम्हाला, तब पारिवारिक जीवनकी सारी कठिनाइयाँ एक-एक कर उसकी आँखोंसे गुजरने लगीं तथा उसके नन्हेसे कलेजेपर उन्हें दूर करनेकी एक प्रबल इच्छाका बोझ लदने लगा। उन्हें यह चिन्ता काट खाने लगी कि जिस किसी भी प्रकारसे अर्थोपार्जन कर अपने माँ-बापकी कठिनाइयोंका अन्त कर दिया जाय। इसी सोचमें उन्हें भोजन नहीं भाता, रातकी नींद तक हराम हो गयी। उन्होंने पहली बार जब माँके हाथमें कुछ रुपये दिये, तब उन्हें अपार आनन्द हुआ था, असीम तृप्ति मिली थी। उन्होंने स्वयं कहा है कि, "इस आनन्दके सामने उनके जीवनके बड़े-से-बड़े आनन्द तुच्छ थे।" उन्होंने जन्म भर इसे याद रखा। तेरहसे भी कम ही उम्रमें कमानेके लिये संसारके कार्यक्षेत्रमें वे कूदे। कुछ रोज तो लड़कोंपर कवि-ताएँ पढ़-पढ़ कर कुछ कमाया; फिर ५ आने रोजपर मजदूरी करने लगे।

उन दिनों अमेरिकाका उपनिवेश तैयार हो रहा था। लोग वहाँके सुखोंको सपनाते थे। कारनेगीके मनमें भी वहाँ जानेकी इच्छा होने लगी। लेकिन वह गरीब था। उसके पास वहाँ पहुँचने लायक पैसे नहीं थे। ऐसी दशामें इस

देखते हैं, बहुधा लोग निराश हो जाया करते हैं; परन्तु कारनेगी अपना नसीब ठोंककर बैठा नहीं। खर्चके लायक रुपये जुटानेमें उसने जान लड़ा दी। अन्तमें एक दिन उसकी कामना पूरी हुई। वह सपरिवार देश छोड़कर चला गया।

वहाँ आकर कारनेगीको अनुभव हुआ कि जबतक आदमीकी कल्पना खतम नहीं हो जाती, तबतक किसी भी वस्तुका यथार्थ स्वरूप पाना कठिन ही नहीं, असम्भव है। हम किसी दूरकी सोच कर मनमें हवाई किला तैयार करने लगते हैं, यह बुरा है। यहाँ भी आकर कारनेगीकी वही दशा रही—गलियोंकी ठोंकरें खाने लगा। अन्तमें एक दिन उसे टेलिग्राम बाँटनेकी एक छोटीसी नौकरी मिली। किन्तु इसी छोटीसी नौकरीके अन्दर उसकी असाधारण उन्नतिका बीज पल रहा था।

नौकरी छोटी तो थी ही, साथ-ही-साथ बड़ी टेढ़ी भी थी। टेलिग्रामपर पानेवालोंके नामके अतिरिक्त और कोई ठिकाना नहीं रहता था। डाकिया खुद उसकी खबर रखे। तिसपर ठीक समयपर न मिलनेसे अथवा भूलसे दूसरेके हाथमें पड़ जानेपर जवाबदेहीका पहाड़! इधर कामका गुरुभार और लड़केकी उम्र कुल चौदह वर्ष! भला उसे संसारका क्या ज्ञान? लेकिन कारनेगीने न तो उसे छोटी जान कर उसकी अवहेलना की न उसे पेंचीली जानकर छोड़ा ही अपने दायित्वको समझ कर भी उसने नौकरी कर ली। आफिसके समयके बाद साँझ-सबेरे वह अपनी परेशानीकी फिक्र न कर घरसे निकल पड़ता। घर-घर घूमता और सबके पते नोट करता। रातमें भी शहरकी दूकानोंका पता संग्रह करता। इस प्रकार काम करनेकी अद्भुत शक्तिका परिचय देकर इस विभागके आफिसरोंको विस्मित और मुग्ध कर दिया। कुछ ही दिनोंमें वह सबका प्रिय पात्र बन बैठा। गाँव, घर, नगरके सभी उसे बहुत मानने लगे।

सप्ताह-सप्ताह वेतन वह पा लेता। एक दिन जब वह और हरकारोंके बीच वेतनकी आशामें खड़ा था, तब आफिसरने कारनेगीको दलसे अलग होकर खड़े रहनेकी आज्ञा दी।

कारनेगी तो भयसे थर-थर काँपने लगा। जैसे कोई लोहेका पंजा बड़ी बेरहमीसे उसके कोमल हृदयका मसलने लगा हो! न मालूम कौन-सी आफत आनेवाली है। हो-न-हो मुझसे कोई चूक अवश्य हो गयी है। नहीं तो इस नयी रीतिकी जरूरत?

सबको बिदा करनेके उपरान्त मैनेजर साहबने कारनेगीको बुलाकर कहा—इन सभी लड़कोंके काम मिलकर तुम्हारे अकेलेकी बराबरी नहीं कर सकते। लो, तुम्हें २ डालर २५ सेंट (६।) रुपये) पुरस्कार मिले। कारनेगीके आनन्दकी सीमा नहीं रही।

होते-हवाते कारनेगी आफिसके सारे कामोंका ज्ञाता हो गया। एक दिन ऐसा भी आया कि उसके बिना आफिसका काम चलनेको ही नहीं।

एक दिन आफिसके सभी कर्मचारियोंके वेतन बाँटनेका भार कारनेगीको मिला। यह काम कितना कठिन होता है, प्रायः सभी अन्दाजा लगा सकते हैं। चेकका बंडल लेकर उसे एक दूसरे स्टेशनपर जाना पड़ा। मगर ट्रेन जो मिली, तो जगह ही नहीं। निदान उसने इंजिनके फुट बोर्डपर खड़े रह कर जानेकी सोची। गाड़ी चलने लगी। इंजिनके कल-पुर्जोंको देखनेमें वह अपनेको भूल-सा गया। जब उसे अपना खयाल आया, तब पता चला कि

नोटोंका बण्डल कहीं गिर गया है! अब क्या हो? आजीवन बिना वेतनके खटनेपर भी कम्पनीके रुपये नहीं चुकाये जा सकते। लेकिन ऐसी अवस्थामें भी उसने धीरजसे काम लिया, जो किसी परिपक्व बुद्धिवालेके लिये भी असम्भव है, बालकोंकी तो बातही क्या! ड्राइवरसे कहकर उसने गाड़ी खड़ी करा ली और जमीनमें आँखे गड़ाकर आगे बढ़ा। अन्तमें दो-तीन मील जानेपर बण्डल मिला।

एक दिनकी बात है, सबेरे आफिस पहुँचकर कारनेगीने जाना कि रातमें एक जगह रेल-दुर्घटना हुई है। जिसकी वजहसे गाड़ीका यातायात बन्द है। और स्काट (प्रधान कर्मचारी) के बिना आये नयी व्यवस्था हो ही नहीं सकती। स्काट स्वभावके आलसी थे। उन्हें आनेमें बहुत विलम्ब है, अतएव उनकी अपेक्षा करनेसे कम्पनीको काफी क्षति उठानी पड़ेगी। कारनेगीने भली प्रकारसे सोच-समझकर गाड़ी चलानेकी आज्ञा, तार द्वारा, दे दी।

जब बेला चढ़ आनेपर स्काट आये, तब उनके कपालपर चिन्ताकी रेखा खिंची हुई थी। आते ही उन्होंने कारनेगीसे कहा—'एण्ड्रू, मेरे आलस्यसे कम्पनीको बड़ी क्षति हुई।'

एंड्रूने हलकी हँसी बिखराकर उत्तर दिया—'आप घबरायें नहीं। कम्पनीको क्षति हुई ही नहीं, सब प्रबन्ध हो चुका है।'

विस्मयसे स्काटकी आँखे कपालपर चढ़ गयीं। कारनेगीकी दृढ़-चित्तताको देख वे अत्यन्त आनन्दित हुए।

उपर्युक्त घटनाने तो कारनेगीके भविष्यमें चार चाँद लगा दिये! कम्पनीकी प्रायः सारी ही जिम्मेदारी मि॰ स्काटपर रहती थी। किन्तु सारी रात आँखोंमें बीत कर कारनेगी ही उनके सारे काम कर दिया करते थे।

जीवनको जगानेके लिये कैसे श्रम और दृढ़-चित्तताकी आवश्यकता है, अपने जीवनमें कारनेगी-ने इसके अनेकों दृष्टान्त दिये। उन्होंने अपने जीवनको जगाकर एक बहुत ही बड़े महत्वकी बात बतायी है। वह यह कि, विधाताने अदृश्य प्रतिभा प्रायः सभी व्यक्तियोंके भीतर भर दी है। कोई उसे असामान्य श्रम एवं अध्यवसायसे उज्ज्वल कर लेते हैं और कोई आलस्य एवम् अकर्मण्यताके फलस्वरूप उसे विकसित नहीं होने देते।

एक दिन एक आदमीने कारनेगीको स्लीपिंग कार (Sleeping Car) का एक सुन्दर मोडल दिखाकर उदासीसे कहा कि उसके पास पूंजी ही नहीं कि वह आगे बढ़नेकी हिम्मत कर सके। नमूना देखकर ही कारनेगीका हृदय किसी दूरकी आशासे उछल उठा। अमेरिकामें इसीको तो जरूरत है। कल्पनाके आईनेमें उन्होंने अपनी उन्नतिकी उज्ज्वल परछाँई देखी और नौकरीको लात मार कर तन-मन-धनसे इस कार्यमें लग गये। एक कम्पनी खड़ी की गयी, जो पेनसिलभेनिया रेलके लिये इंजिन प्रस्तुत करके देने लगी। पूँजी बढ़ानेके लिये कारनेगीने अपने पूर्वपरिचित किसी बैंकके एक मैनेजरको पकड़ा। वे कारनेगीकी दृढ़ता और साधुतासे भलीभाँति परिचित थे। अतएव उन्होंने जी जानसे कारनेगीकी सहायता की। कम्पनी चल निकली। रेलके प्रायः सारे कल-पुर्जे प्रस्तुत किये जाने लगे।

इसी बीच कारनेगीने स्वयं इस्पातकी परीक्षा शुरू कर दी थी। धीरे-धीरे रेलमें लोहेकी जगह इस्पातका प्रयोग उन्होंने शुरू कर दिया।

इसी इस्पातके कारोबारने कारनेगीके भाग्यको चमका दिया। लेकिन खनिज तेलके व्यवसायसे भी वे आशातीत धन उपार्जन कर पाये थे।

एक सालके तेलके व्यवसायसे उन्हें डेढ़ करोड़से भी अधिक रुपये मिले थे ! अन्तमें सन् १९११ में धन कमानेसे हाथ समेट उन्होंने विराम लिया। उस समय उनके पास १५० करोड़ रुपये मौजूद थे !

उनकी अद्भुत दानवीरताकी जितनी भी तारीफ की जाय, थोड़ी है। सचमुच उनके हृदयकी महत्ताके आगे सारी दुनिया सिर झुकाये है। उनकी बुद्धि और कार्य करनेकी अद्भुत क्षमताके विषयमें और कुछ कहना फिजूल है। वह दृष्टान्त स्वरूप उनके जीवनमें उस भाँति चिमटा रहा, जैसे सूर्यमें प्रकाश।

सन् १९१९ में वे चल बसे और संसारके आगे महान् आदर्श छोड़ कर अपनेको अमर कर गये।

डा० अल्बर्ट आइनस्टाइन

श्रीमती राजकुमारी मिश्रा 'रमा'

प्रोफेसर अल्बर्ट आइनस्टाइनको नये ओवर-कोटकी आवश्यकता है; पर प्रोफेसरको नये वस्त्रोंकी आवश्यकता मालूम नहीं होती, "यह जो मैं पहने हुआ हूँ यह ओवरकोट अच्छा है।" प्रोफेसरने कहा। परन्तु मिसेस आइनस्टाइन इस प्रकार मान जायँ यह कैसे हो ? वे तो नये कोटके लिये हठ पकड़े हुई थीं। आखिर प्रोफेसरको स्वीकार करना पड़ा।

प्रोफेसर आइनस्टाइन नयी-नयी वस्तुओंका शोध करते हैं। इनका मन आकाश-पतालमें खूब ही उड़ा करता है। प्रकृतिके तत्त्वोंपर प्रोफेसर साहब अच्छा अधिकार जमाये हुए हैं; पर इनके ऊपर इनकी चतुर पत्नीका ही अधिकार है।

ओवरकोट तैयार होकर आया। यह सुन्दर कपड़ेका सिला हुआ है। मिसेस आइनस्टाइन इस बातका खास ख्याल रखती हैं कि प्रोफेसर साहबकी पोशाक सुन्दर और मजबूत हो। इतना ध्यान मिसेस आइनस्टाइन न रखें तो विनोदी प्रोफेसरकी लोग हँसी करने लग जायँ। आइनस्टाइन स्वयम् विचित्र पोशाकमें रहते हैं। वे रहते तो इसी दुनियामें हैं; परन्तु उनका मन प्रकृतिकी विशाल सृष्टिमें ही विचरण करता रहता है। इस दुनियाके साथ प्रोफेसर साहबका कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। दुनियाके व्यवहारोंमें प्रोफेसर साहबको जरा भी आनन्द नहीं आता। रुपया-पैसा तो छूते ही नहीं। किसी भी वस्तुके भावोंकी उन्हें बिलकुल खबर नहीं है। बैंकका खाता मिसेस आइनस्टाइनके नामसे है।

खान-पानके विषयमें भी प्रोफेसर साहब कुछ विशेष शौक नहीं रखते हैं। चाय-काफी आदि पीते हैं। पाइप भी कभी पी लेते हैं। इनका जीवन शान्तिमय है।

* * *

स्वभावसे ही प्रोफेसर आइनस्टाइन शान्त व्यक्ति हैं। परन्तु अनजान व्यक्ति या अखबार-वाले इनके प्राइवेट जीवनकी बातें जानें, यह इन्हें पसन्द नहीं। "ये सब अपनी कुतूहल-वृत्तिको सन्तुष्ट करनेके ही लिये मुझे कष्ट देते हैं।" ऐसा ये समझते हैं। "यह लोग क्यों मेरे विषयमें जाननेके लिये कोशिश करते हैं ? मैं चाहता हूँ, यह लोग मुझे न सतायें, मुझे निश्चिन्त मेरा काम करने दें।" यही इनकी इच्छा है।

प्रोफेसर आइनस्टाइनको यदि किसी बातसे चिढ़ है तो शीघ्रतासे। विशाल सृष्टिमें, आसमान में, ग्रहों और तारोंके उस पार भी ये मस्तिष्कको दौड़ाते रहते हैं। आज या कल क्या होगा इसकी इन्हें चिन्ता नहीं। इनके सामने कोई प्रोग्राम रखना बिलकुल व्यर्थ है। इनसे कुछ भी काम कराना हो तो इन्हें कहकर सीधे कार्य-स्थलपर ले जानेमें ही कुशल है।

* * *

बर्लिनवाले* अपने मकानके ऊपरी भागमें यह एक अच्छे कलाकारकी तरह उत्साहपूर्वक काम करते रहते हैं। इस रूममें इनका सादा फरनीचर रखा है। न्यूटन, फेरे, मेक्सवेल् जैसे वैज्ञानिकोंकी तस्वीरें टँगी हैं। इनके अभ्यास रूममें पुस्तकालय नहीं है। ये अपने मस्तिष्कको ही पुस्तकालय समझते हैं। अपने रूममें बैठकर ही ये दूर-दूरकी दृष्टि फेंकते हैं। इनका मन आकाशको भी बेधकर बड़ी दूरकी गणना करता है, स्वप्न-सृष्टिकी रचना करता है। इनके मुखपर सुर्खी आ जाती है। नाड़ी गर्म होकर चलने लगती है। परन्तु ये कामोंमें दीवाने नहीं बन जाते।

विज्ञानक्षेत्रके बाहर यदि कहीं इनका मन लगता है, तो अपनी यहूदी-जातिमें। फिर भी संकुचित राष्ट्र-वाद इन्हें पसन्द नहीं, इनकी ऐसी इच्छा है कि प्रत्येक देशके यहूदी एकत्र होकर एक विशाल संयुक्त यहूदी-समाज बने।

प्रोफेसर आइनस्टाइन वैज्ञानिक हैं; पर साथ ही-साथ आदर्शवादी भी हैं। समस्त मानव-समाजके ये शुभ चिन्तक हैं।

वैज्ञानिक विषयके अतिरिक्त संगीत-विद्यामें भी प्रोफेसर साहबका मन रमता है। ये 'वायोलिन' अच्छा बजाते हैं और बेक, रेडीन, मोजार्ट और बीथोविनकी चीजें फीडलपर भी छेड़ सकते हैं। शिल्पकला भी इन्हें पसन्द है। शिल्पकलाको ये जमा हुआ संगीत समझते हैं। नौका-विहारमें भी इन्हें आनन्द आता है। नौकामें बैठ कर छोटे बच्चोंकी तरह ये खुश हो जाते हैं।

प्रोफेसर आइनस्टाइनके नवीन विचारोंसे समस्त संसार डगमगा उठा है। परन्तु स्वयं ये अपनी घर-गृहस्थीके सम्बन्धमें पुराने विचारके हैं। इनका विचार है कि स्त्रियोंका घरमें ही स्थान है। इनका प्रथम विवाह प्रकृति-विज्ञान (Physics) में प्रवीण एक कन्याके साथ हुआ था; परन्तु इन्हें थोड़े ही समयमें यह ज्ञान हुआ कि दो बुद्धिमान् व्यक्तियोंकी गृहस्थीमें दो मत नहीं हो सकते। दूसरी पत्नीसे भी प्रोफेसर साहबको हर तरहसे सन्तोष है।

मिसेस आइनस्टाइन अपने जगद्विख्यात पतिके लिये गर्व करती हैं। बाह्य जगत्से सदा उनका रक्षण करती हैं। कभी-कभी वे मजाकमें कहती हैं कि आइनस्टाइन तो घरमें मेहमान जैसे हैं, ये रहते तो इस दुनियामें हैं, पर इनका मन सदा आकाश-पातालका चक्कर काटता रहता है।

आइनस्टाइनके विचार इतने गंभीर होते हैं कि, अन्य विद्वानोंको समझानेके लिए बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखनी पड़ती है। +

* हिटलरकी कृपा से प्रोफेसर साहब भी जर्मनीसे निर्वासित हुए हैं। —लेखक

+ "गङ्गा" के 'विज्ञानाङ्क' में "आइनस्टाइनका अपेक्षावाद" शीर्षक लेख पढ़िये।—सम्पादक

नेपोलियन

श्रीयुत क्षमानाथ ठाकुर

फ्रांससे लगभग सौ मीलकी दूरीपर, भूमध्य-सागरके बीच, कार्सिका नामका एक टापू है। यहाँका रीति-रवाज इटलीके ही समान है। नेपोलियन यहींके वासी थे। इनके पूर्वज १३ वीं शताब्दीमें फ्लोरेंस शहरको छोड़कर यहाँ आ बसे थे। इनके पिताका नाम चार्ल्स बोनापार्ट और माताका नाम लोरेशिया रैमिलिनो था। इनके पिता अपने समयमें एक अच्छे वकील थे।

नेपोलियनका जन्म १७६६ ई० के अगस्त महीनेमें हुआ था। अभाग्यवश इनके जन्मके कुछ ही वर्ष बाद इनके पिताका देहान्त हो गया। इनका पालन-पोषण माताके ही द्वारा हुआ।

नेपोलियनने अपने बचपनको तितली उड़ानेमें, नालीके पानीमें खेलनेमें और कुत्तोंपर सवार होकर इधर-उधर घूमनेमें बिताया।

इन्होंने अक्षरका ज्ञान घरपर प्राप्त किया था। जब ये दस वर्षके हुए, तभी पढ़नेके लिये परदेश भेज दिये गये। वहाँ इनके सहपाठी इन्हें "परदेशी" कह कर पुकारते थे। इन्हें विज्ञान, इतिहास तथा भूगोलके अध्ययनसे अधिक प्रेम था। वहाँ ये शीघ्र ही सबसे तेज विद्यार्थी कहे जाने लगे। पढ़नेके साथ-ही-साथ ये खेल-कूदसे भी प्रेम करते थे। ये स्वयं किला बनाते थे—बात की-बातमें बर्फका किला बना लेना इनके बायें हाथका खेल था। संग्रामसे इन्हें अत्यधिक प्रेम था। ये अपने साथियोंको दो दलमें बाँटते थे और उनमें एकको किलेके बचावका और दूसरेको आक्रमण करनेका भार देते थे एवम् स्वयम् उसका अध्यक्ष बनकर हफ्तों तक लड़ाई जारी रखते थे।

स्कूली शिक्षा खतम कर लेनेके बाद ये तोपखानेमें एक ऊँचे पदपर काम करने लगे। उसी समयसे परिवारका भार इनके उपर पड़ा। ये दिनमें एक बार भोजन करते थे। अपने परिश्रमके बल ये १७९४ ई० में ब्रिगेडके जेनरल हो गये। वहाँपर इनके तुल्य अन्य आफिसरोंने जनताको अपनी तरफ मिला कर, इन्हें उभाड़ा, जिससे इनका टिकना असम्भव हो गया। इन्होंने अपनेको स्वतन्त्रमतावलम्बी समझ कर पराधीन रहना ठीक नहीं समझा। २६ वर्षमें ये इटलीके सेनाध्यक्ष बन गये। यहाँपर इन्होंने अपनी सफलताके लिये जनतासे खूब मदद पायी। यहाँ इनकी बहादुरी पर सैनिक भी अपनी जान हथेलीपर रख कर लड़ा करते थे।

इसके बाद इन्होंने मिश्र देशकी लड़ाईमें अपने प्रसिद्धिको चारो तरफ फैलाया। नेपोलियनको उन्नतिकी ओर अग्रसर होते देख इनके विरोधी इनसे डाह करने लगे; लेकिन इनका किसीके द्वारा अनिष्ट न हो सका। ये १८०४ ई० में फ्रांस देशके सम्राट् हो गये। उस समय इनकी उम्र ३५ वर्षकी थी। सम्राट्के पदको प्राप्त करके भी इन्होंने अपने भाई, बहनों, शुभचिन्तकों, सैनिकों और आफिसरोंको अपने खयालसे नहीं उतारा। इसीलिये इनसे इनके अधीनस्थ प्रसन्न रहा करते थे। इन्होंने अपने जीवनमें जितनी लड़ाइयाँ लड़ीं, सबमें रेटिजबनकी (!) लड़ाई अत्यन्त विख्यात है। यहीं पर नेपोलियनको सर्वप्रथम चोट लगी पड़ी थी। उस स्थितिमें भी नेपोलियन अपने अधीनस्थ

सिपाहियोंकी जान बचानेके लिये पुनः घोड़े-पर चढ़कर रण-क्षेत्रमें उतरे। आखिर रेटिजवन-को अपने अधीन करके ही छोड़ा।

इनका पहला विवाह जोसेफिनसे हुआ। सन्तान न होनेके ही कारण इन्हें पहली स्त्रीको तलाक देना पड़ा। दूसरी शादी आस्ट्रियाके सम्राट्-की लड़की मेरिया लूईसासे हुई। ठीक वर्ष रोज बाद इन्हें एक लड़का उत्पन्न हुआ। यह 'रोमके बादशाह'के नामसे विख्यात हुआ। कुछ वर्षोंके बाद फ्रांसके सिनेटने अयोग्यताकी लाञ्छना लगा नेपो-लियनके हाथसे देशका शासन-भार हटा लेना चाहा। नेपोलियनने यह सुननेके पहले ही १८१४ की ४ थी अप्रेलको राजगद्दीको त्याग कर स्वभूमि जानेका निश्चय कर लिया। विदा होते समय इनके विरोधियोंने आपसमें यह सलाह की, कि इन्हें एल्बाका द्वीप दे दिया जाय, जहाँ वे बादशाहकी नाईं अपना अन्तिम जीवन सुखपूर्वक बितावें।

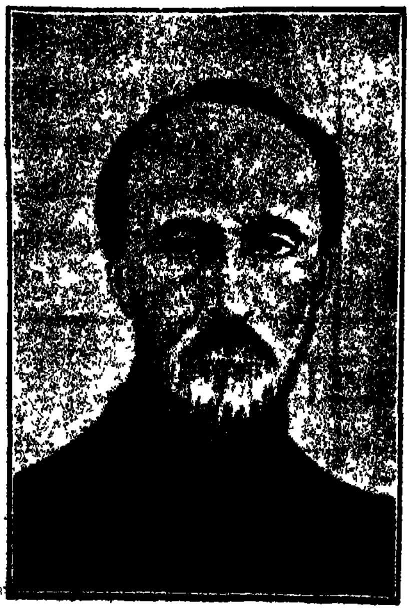
उनके फ्रांससे जानेके समय आफिसरसे लेकर सिपाही तकके आँखोंसे आँसूकी धारा बह रही थी। ठीक महीने रोज बाद नेपोलियन एल्बा द्वीपमें पहुँचे। समुचित प्रबन्ध करके वे वहीं रहने लगे। दूसरे वर्ष फिर नेपोलियन छिपे वेषमें फ्रांस पहुँचे। पेरिसकी जनताने उनका स्वागत खुले दिलसे किया। लेकिन इस बार फ्रांस जाना उनके लिये अशुभ था। एक समय ऐसा था, जब वे वहाँका सम्राट् थे। अब वहाँके लिये साधारण मनुष्य बन गये। अपनी पहली स्त्रीके भवनमें उनका वास था। उनके पहुँचनेके पहले ही स्त्रीकी मृत्यु हो गयी। इस बार नेपोलियनको फ्रांसमें रहना अत्यन्त कष्टमय जान पड़ा। इस परिस्थितिमें भी वह अपनी उदार प्रकृतिको न भूल सके। "वसुधैव कुटुम्बकम्" नामक कहावत उनके लिये सोलहो आने सही थी। ब्रिटिश सरकार-ने उन्हें हर तरहसे सतानेका विचार कर लिया था। एक समय ब्रिटिश सरकारकी बदौलत नेपोलियन जैसे वीरको अस्तबलमें भी आश्रय लेना पड़ा था। शयन-कालमें भी उनके ऊपर नजर रखी जाती थी।

वे बच्चोंको बहुत प्यार करते थे। बच्चे भी उन्हें जी-जानसे चाहते थे। जीवनके अन्तकालमें उन्हें एक बीमारी हो गयी, जो दिनानुदिन बढ़ती ही गयी। १८२१ ई० की ५ वीं मईकी संध्याको उनका देहावसान हो गया। उनकी मृत्युके दिन दिन भर जारोंका तूफान था; किन्तु संध्या समय प्रकृति देवी तक शान्त हो गयी। मानों उनके लिये दुःख प्रकट करने लगी।

मेजिनी

विज्ञानकुमार ठाकुर शारदाप्रसाद सिंह बी०एस०सी०

जोज़ेफ मेजिनी उस समय प्रादुर्भूत हुआ था, जब सारी इटली पतनके गर्तमें पूर्ण रूपसे, गिर चुकी थी। जिस युगमें मेजिनी, इस संसारमें अवतीर्ण हुआ था, वह महान् क्रान्तिका युग था। समस्त यूरोपके राष्ट्र राजतन्त्रकी होलिकाका दाह कर उसी चितापर प्रजातन्त्रका प्रह्लाद दिखाना चाहते थे। स्वयं इटलीपर एक ओर पोपकी तूती बज रही थी और दूसरी ओर आस्ट्रिया अपना विकराल मुँह खोले खड़ा था। ऐसे ही कठिन समयमें, सन् १८०५ के २२ जूनको, मेजिनीने, इटलीके जिनेवा नगरमें, एक प्रसिद्ध डाक्टरके घर जन्म-ग्रहण किया।



मेजिनी

शरीर-दौर्बल्य तथा स्वास्थ्य-हीनताके कारण मेजिनीको बाल्यकालमें शिक्षा देनेसे उसके पिता भय खाते थे; पर उन्हें मालूम न था कि मेजिनी की प्रतिभा-सरोजिनी सुयोग-सूर्यकी रश्मियोंको पाकर विकसित होने लग जायगी। अस्वस्थ और असमर्थ मेजिनी, अपनी चारपाईपरसे ही अपनी बहनोंके पाठ सुनकर, उन्हें स्मरण कर लेता। उसकी चारपाई ही उसकी प्रथम पाठशाला थी और स्वयं भगवती शारदा असाधारण प्रतिभाके रूपमें अध्यापिकाका काम करती थी।

बालक मेजिनी विचारशीलताका आदर्श और गम्भीरताका सागर था; उसके मस्तिष्कमें कभी भी उच्छृङ्खलताका ज्वार-भाटा नहीं आता था। पुस्तक ही उसका खेलौना, पुस्तक ही उसका भोजन और पुस्तक ही उसके जीवनका, आनन्द थी। मेजिनीने जब अपनी शिशु-शय्या छोड़ी, तब, पूरे छ वर्ष बीत चुके थे। अब उसने नियमानुकुल अपनी शिक्षाका श्रीगणेश एक वृद्ध पादड़ीके पास किया। पादड़ी लैटिन-भाषाका अच्छा विद्वान् था; इसलिये मेजिनीने लैटिन-भाषाकी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। मेजिनीकी ज्ञान-पिपासा इतनी प्रबल थी कि वह अध्ययनसे कभी सन्तुष्ट ही नहीं होता था। विश्वविद्यालयमें आनेके पहले ही उसने अपने पिताके पुस्तकालयकी, फ्रांसकी राज्य-क्रान्ति-सम्बन्धिनी, समस्त पुस्तकोंको पढ़ डाला था।

इस समयतक मेजिनी अपने बारहवें वर्ष-गाँठको पूरा कर किशोरावस्थामें पैर रख चुका था और उसके साथ-ही-साथ जिनेवा-विश्वविद्यालयमें भी। विश्वविद्यालयमें उसने शरीर-विज्ञान (Anotomy)

का अध्ययन आरम्भ किया। मेजिनीकी प्रतिभा ही ऐसी थी कि वह जिस विद्याका अध्ययन करता, उसीमें निपुणता प्राप्त कर लेता था। शरीर-विज्ञानका भी वह एक अद्वितीय विद्वान् हुआ, पर प्राणियोंके शरीरको चीरने-फाड़नेके समय वह दर्दनाक दृश्यको देख नहीं सकता था। अन्तमें विवश होकर उसे अपने जीवनकी धाराको दूसरी ओर ले जाना पड़ा।

जब मेजिनीका शरीर-विज्ञानका अध्ययन अपने जीवन-साफल्यका सच्चा साधन प्रतीत नहीं हुआ, तब वह कानून पढ़ने लगा। पाँच वर्ष कानून पढ़नेके बाद मेजिनीने वकालतकी उपाधि प्राप्त की और उसे वकालत करनेकी आज्ञा भी मिल गयी। देशके प्रचलित कानूनके अनुसार मेजिनी-को एक वर्षतक बिना कुछ लिये ही गरीबों और दुखियोंकी वकालत करनी पड़ी। इस अवधिमें उसने जो ख्याति पायी, उसका परिणाम यही हुआ कि अब अधिकतर लोग अपने मुक-दमोंमें उसीको वकील बनाने लगे। पर पैसेका प्रयोजन और ख्यातिकी आकांक्षा मेजिनीके जीव-नका लक्ष्य नहीं था वह किसी दूसरे ही संसारमें चक्कर मार रहा था। अनन्तर उसने वकालतको भी तिलाञ्जलि दे दी

स्वदेशकी अत्यन्त शोचनीय दशा मेजिनीको क्षुब्ध कर रही थी। वह निरन्तर देशोद्धारकी चिन्तामें निमग्न रहता था। वह किसी कार्य-क्षेत्रकी खोजमें दिन-रात फिरने लगा। निदान वह तत्कालीन "कार्बोनरी" नामक एक गुप्त संस्थाका सदस्य बन गया।

सन् १८३० के जून महीनेमें मेजिनीके ऊपर संस्थाने एक विशेष कार्य-भार सौंपा, परन्तु दुर्भा-ग्यसे संस्थाके इस रहस्यका भेद पुलिसको मालूम हो गया और मेजिनी पकड़ लिया गया।

कुछ दिनों बाद मेजिनी जेलसे छूटा। अब उसे एक नये तरीकेसे जनताको ले चलनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। वह घूम-घूमकर लोगोंको यही सिखाता कि हम सब एक परमा-त्माके पुत्र हैं; किसीको भी यह अधिकार नहीं कि वह दूसरेपर शासन अथवा जोर जुल्म करे। ईश्वरने हमें इस संसारमें जालिमोंकी ताकत नष्ट-भ्रष्ट करने तथा उनके शासनको छिन्न-भिन्न करनेके लिये ही भेजा है और यदि हम काममें पीछे रहें, तो हम ईश्वरके विधानोंकी अवहेलना करेंगे। ईश्वरकी इच्छाकी पूर्ति करना प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य है। अपने लेखों तथा व्याख्यानोंमें भी मेजिनी इन्हीं मन्त्रोंको फूँकने लगा। लोगोंपर इसका असर जादूकासा पड़ा और लाखोंकी संख्यामें वे उसका साथ देने लगे। इधर शासकोंका भी इन्द्रासन डोलने लगा। दमन-चक्र वेगसे चलने लगा, प्रतिबन्धों, यन्त्र-णाओं तथा उत्पीड़नोंका दौर-दौरा होने लगा।

शासकोंकी प्रथम शनि-दृष्टि उन पत्र-पत्रि-काओंपर पड़ी, जिनमें मेजिनीके लेख अथवा व्याख्यान छपा करते थे। साथ ही मेजिनीने यह भी देखा कि देशका उद्धार जितना नवयुवकोंसे हो सकता है, उतना वृद्धोंसे नहीं। निदान मेजिनीने नवयुवकोंकी एक संस्था स्थापित की, जिसका नाम उसने रखा "तरुण इटली" (young Italy)।

जिस समय मेजिनी पकड़ा गया था, उस समय फ्रांसमें क्रान्तिकी लहरें उठ रही थीं और सारा यूरोप उन्हीं लहरोंके झोंकोंसे ओत-प्रोत हो रहा था। छ महीनोंतक कारागारमें रख कर शासकोंने मेजिनीको निर्वासित कर देना ही निरापद समझा। मेजिनीने भी इस दण्डको सहर्ष

स्वीकार किया और फ्रांसकी शरण ली। जिनेवा नगरको छोड़ वह मार्सेल्स पहुँचा और नवयुवकोंकी एक सुसंगठित संस्था स्थापित कर कार्य करना आरम्भ किया। उस समय मेजिनी तथा उसके साथियोंको कैसी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा था, उसका दिग्दर्शन उसीके पत्रसे होता है। उसने लिखा था—शुभ कार्योंके प्रारम्भमें जैसी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, हमारे सामने भी वैसी ही कठिनाइयाँ थीं। उस समय हमें न कोई आफिस था और न कार्य करनेकी कोई सुदृढ़ व्यवस्था ही। हम ही लोगोंमें कोई लेख लिख लेता, कोई पत्र तैयार करता, कोई यात्रियोंसे मिलकर समाचार-संग्रह करता, कोई अक्षर बैठाता और कोई समाचार छापता। अर्थाभावके कारण हमलोग कभी-कभी बड़ी कठिनाइयोंमें पड़ जाते; पर भविष्यकी उज्ज्वल आशा हमारी सब कठिनाइयोंको दूर भगा देती। यथार्थमें "तरुण इटली"को सच्चा रूप यहींसे मिला। मेजिनीने इसी नामका एक पत्र भी यहाँसे निकाला और उसमें अपनी लेखमालाको छापना शुरू किया।

मेजिनीकी इस लेख—मालाका समस्त-यूरोपने एक स्वरसे स्वागत किया। परन्तु मेजिनीके सामने सारे यूरोपका प्रश्न न था। वह केवल इटलीकी समस्याको हल करना चाहता था। वह प्रकट तथा गुप्त रीतिसे इटलीमें 'तरुण इटली"का प्रचार करने लगा। देशमें बहुतसी शाखाएँ खुल गयीं और लोग हजारोंकी संख्यामें उसके सदस्य होने लगे। अब मेजिनीको एक नेताकी आवश्यकता सूझ पड़ी और उसने पीडमाण्टके स्वतन्त्रता-प्रिय शासक चार्ल्स आलबर्टको नेतृत्व-भार स्वीकार करनेके लिये एक पत्र लिखा। उसमें उसने लिखा था—"पीडमाण्टके मुकुटसे भी अधिक प्रतिष्ठाका एक मुकुट है और वह उसीको प्राप्त होगा, जो शौर्य और साहसके साथ स्वतन्त्रताकी प्राप्तिके लिये, एकता, स्वाधीनता तथा समताके नामपर आगे बढ़ेगा। आप राष्ट्रिय दलका नेता बनिये, तलवार खींचिये। हम इटलकी छोटी-मोटी सभी रियासतोंको आपके झण्डेके नीचे खड़ा कर देंगे। यह समय खोनेका नहीं है। स्मरण रखिये यदि आप इस अवसरको हाथसे जाने देंगे, तो दूसरा कोई विरुद्ध खड़ा हो जायगा।"

परन्तु परिणाम इसका बिलकुल विपरीत निकला। मेजिनीका पत्र पाकर चार्ल्स पीडमाण्ट वाले द्रोहियोंपर बेतरह दमन—चक्र चलाने लगा। कितने ही द्रोहियोंने तो आत्म-हत्या कर ली। यह दुःखद सवाद जब मेजिनीके कानोंमें पहुँचा, तब वह दुःखसे उद्विग्न हो उठा और फ्रांस छोड़ स्वीट्जरलैंड चला गया। वहाँ उसने डाकुओंका एक दल बनाया जो लुक-छिपकर प्रदेशोंपर धावा मारा करते थे। पर यह दल भी विश्वास—घातक प्रमाणित हुआ। अब तो मेजिनी और भी व्याकुल हो उठा, सुख, शान्ति, साधन सबके सब उससे बिदा ले, चुके थे। उसी अवस्थामें उसने अपने एक मित्रको लिखा था —"मैंने देशकी भलाई करना चाहा था; पर फल विपरीत ही हुआ। यह भाव मेरे हृदयमें इतना प्रबल हुआ जाता है कि कहीं मैं पागल न हो जाऊँ।"

स्वीट्जरलैंडमें मेजनीने एक और संस्था स्थापित की, जिसका नाम रखा "तरुण यूरोप" (Young Europe)। इस संस्थाका उद्देश्य समूचे यूरोपसे राजतन्त्रको मिटा देना था। इसमें समस्त यूरोपके निर्वासित विद्रोही सम्मिलित थे। अब लगभग सारे यूरोपके शासक मेजिनीको पकड़

कर कैद करनेके लिये स्वीट्ज़रलैंडकी सरकारको दबाव डालने लगे। फ्रांस तथा इटलीकी ओरसे इस बातपर अधिक ज़ोर लगाया जा रहा था। मेजिनीपर एक मिथ्या अभियोग लगाया गया कि वह इटली तथा फ्रांसके बादशाहोंकी हत्या करनेकी चेष्टामें लगा है। कुछ गुप्तचरोंने इसकी सत्यता प्रमाणित करनेके लिये कुछ झूठी कहानी भी गढ़ ली; पर संयोगसे कुछ निर्वासित युवकोंने इन गुप्तचरोंको पकड़ लिया और बहुतसे पत्र उससे ले लिये, जिससे सारा पोल खुल गया। फिर भी स्वीटज़रलैंडकी प्रधान राज-सभाने मेजिनीको स्वीट्ज़रलैंड छोड़ देनेकी आज्ञा दे दी। इतनेपर भी मेजिनी दृढ़ था और स्विट्ज़रलैंड छोड़ना नहीं चाहता था; पर अपने दो मित्रोंकी सलाहसे वह स्विट्ज़रलैंड छोड़ इंगलैंड जानेको प्रस्तुत हुआ।

सन् १८३६ में मेजिनी लण्डन पहुँचा। अबतक उसे जितनी कठिनाइयाँ और असफलता हुई थीं, वे किसी साधारण व्यक्तिको कर्त्तव्य-च्युत कर देनेको यथेष्ट थीं; पर मेजिनी इन कठिनाइयों और असफलताओंकी कुछ भी परवाह न कर लण्डनमें भी अपनी धुनमें लगा रहा। इटलीके जितने निर्वासित नवयुवक लण्डनमें थे, मेजिनीने सबका संगठन किया और "तरुण इटली"का कार्य फिरसे प्रारम्भ किया। दिन भर वह लडनके अजायबघरमें नौकरी करता और रातको जब सारा लंडन नींदमें पड़ा रहता, तब मेजिनी सारी रात जागकर अपने भावों और विचारोंको लेखबद्ध करता। यहीं महा कवि-कारलाइलसे उसका परिचय हो गया। कारलाइल उसका अभिन्न-हृदय मित्र था। कभी-कभी कारलाइल मेजिनीको वाद-विवादमें कह डालता कि "तुम्हारी असफलताका प्रधान कारण यही है कि तुम बड़े बकवादी हो।" कारलाइल तथा अन्यान्य अँगरेज लेखकोंसे मैत्री करनेसे मेजिनीको बहुत लाभ हुआ। सबसे बड़ा लाभ तो यह था कि उनकी सहायतासे मेजिनीके लेखोंको वहाँके पत्रोंमें स्थान मिलने लगा। लण्डनमें मेजिनीने इटलीके लड़कोंके लिये एक स्कूल खोल दिया तथा "तरुण इटली"की शाखा सारे यूरोपमें खोली।

जिस समय मेजिनी लण्डन पहुँचा था, उस समय उसके साथ तीन और निर्वासित नवयुवक थे। लण्डन पहुँचनेपर मेजिनीको कितने ही दिन बिना भोजनके बिताने पड़े। जब कभी एक-आध रोटी मिल जाती, तब चार बराबर भागोंमें बाँट कर वह खाता। मेजिनीकी माता जिनेवासे प्रायः हर छठे महीने उसे कुछ रुपये और वस्त्र भेज दिया करती थी। जब उसे मालूम हुआ कि मेजिनी अपने भोजन-अच्छादनमें बिना चार भाग किये ग्रहण नहीं करता, तब वह स्वयं वहाँसे उसके तीनों मित्रोंके लिये भी अलग भेजा करती थी। पर मेजिनी तो अपने मार्गपर अटल था, अविचलित था। अपनी गरीबीका उल्लेख करते हुए मेजिनीने कहा था—"जो रुपया मेरे माता-पिता मुझे भेजते थे, उसे परोपकार तथा जातीय सेवामें व्यय करनेसे मेरी धन-सम्बन्धिनी अवस्था ऐसी खराब हो गयी थी कि प्रायः भिक्षा माँगनेकी नौबततक पहुँच जाती थी। सन् १८३७ से १८३८ के जून तक यही अवस्था रही।"

इसके बाद ही सन् १८४८ ई०का क्रान्तिकारी युग आ धमका। फ्रांसने एक बार फिर राजतन्त्रपर भीषण आक्रमण किया और उसे समूल नष्ट

कर ही छोड़ा। उसी क्रान्तिकी और तज्जनित स्वतन्त्रताकी एक लहर सारे यूरोपमें फैल गयी। और इटली भी इससे वञ्चित नहीं रही। वहाँके नवयुवकोंका भी हृदय आशासे खिल उठा और उन्होंने एक बार राजतन्त्रको भस्मीभूत करनेके लिये विप्लवकी आग फूँकी। इटलीमें अब यही मालूम होता था कि आष्ट्रियाकी शृङ्खलासे उसे मुक्ति हो गयी। सिसिली, नेपल्स, पीडमाण्ड, टस्कनी, लेगहार्न तथा टूसेको तथा रोम आदिमें प्रजातन्त्रवादियोंको पूर्ण सफलता मिली। उत्तरी प्रदेशोंमें भी ध्वंस-कारी राग गूँज उठा। जब यह संवाद मेजिनीको लण्डनमें मिला, तब वह शीघ्र मिलनके लिये रवाना हो गया। मिलनेवालोंने उसका देवोचित स्वागत किया। उधर रोमवालोंने भी पोप-वादका अन्त कर पञ्चायती राज्य स्थापित कर दिया था और मेजिनीके लिये व्यग्र हो रहे थे। मेजिनी भी सफल प्रान्तोंमें चक्कर काटता हुआ रोम पहुँचा। सन् १८४६ की फरवरीमें रोमवालोंने उसे वहाँका सर्वाधिकारी बना दिया

मेजिनी रोमका शासक तो बना दिया गया; पर आजतक उसने अपने हाथमें लेखनीके अतिरिक्त राजदण्ड कभी नहीं लिया था। अपने लेखों द्वारा वह भले ही नवयुवकोंके बीच आग फूँक सकता था; परन्तु उसने आजतक शासनव्यवस्थापर कभी विचार तक न किया था और न उसने कभी कूट-नीतिके चक्र-व्यूहमें प्रवेश ही किया था। फलतः मेजिनीको शासक बनानेका बड़ा कटु परिणाम रोमवालोंको भोगना पड़ा। यही उनकी पराजयका कारण हुआ। मेजिनी लूई नेपोलियनको कूटनीतिमें फँस गया। नेपोलियनने उसे सन्धिका प्रलोभन दे रोमपर आक्रमण कर दिया और अन्तमें मेजिनीको पराजित हो इटली छोड़ स्विट्जरलैण्डको शरण लेनी पड़ी। स्विट्जरलैण्डमें भी उसने दो षड्यन्त्र रचे, पर सफल न हो सका। उसके सब साथी एक-एक कर पकड़ लिये गये। पुलिस मेजिनीके पीछे भी बराबर घूमा करती थी; पर उसका पता न पा सकी। मेजिनी तो स्विट्जरलैंडसे भाग कर लण्डन पहुँच गया था।

इधर गैरीबाल्डीने सिसिलीपर आक्रमण किया और विजय पायी। यह खबर पाते ही मेजिनी फिर जिनेवा लौटा और वहाँसे नेपल्स पहुँच कर लोगोंको उभाड़ना चाहा; पर सफल न हो सका। इतना होते हुए भी युद्ध जारी रहा; पर इटलीवाले बराबर पराजित होते रहे। मेजिनी अब समझने लगा कि जीवनमें उसे सफलता नहीं मिलेगी। पर इससे निराश हो उसने अपना कर्त्तव्य नहीं छोड़ा। वह समस्त इटलीमें घूम-घूम कर क्रान्तिकी योजना करने लगा। इसी भ्रमणमें जब वह सिसिलीकी ओर जा रहा था कि पलारमोंमें पकड़ लिया गया।

अन्तमें १८७० ई० में विक्टर इमेनुअलके उद्योगसे इटलीका उद्धार हुआ और साथ ही मेजिनी भी कारागार-जीवनसे मुक्त हुआ। वहाँ से वह जिनेवा चला गया जहाँ वह संक्रामक रोगसे आक्रान्त हो गया। उसका रोग दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया और अन्तमें १८७२ ई० में अपने एक मित्रके घर उसने स्वतन्त्र इटलीमें अन्तिम साँस ली। मरते समय मेजिनी सन्तुष्ट और आनन्दित था क्योंकि उसने अपना कर्त्तव्य संसारके समक्ष कर दिखाया था।

मिल्टन

विद्यालङ्कार श्रीयुत जगन्नाथ मिश्र गौड़ "कमल"

अंगरेजी इतिहासके अनुसार इंगलैंडमें १६वीं शताब्दी युगान्तरका समय था। इस अभूतपूर्व अवसरमें वहाँ अनेक महापुरुषोंके चारु चरितका प्रस्फुटन हुआ था। जीवन-चरित्रके लेखकोंको उस समय प्रर्याप्त परिमाणमें उल्लेखनीय सामग्रियाँ मिली थीं। उस समयके प्रायः सभी चरित-नायक कीर्ति-स्तम्भके शिखरपर चढ़ चुके थे। उनकी गुणावली एवं ख्याति इतनी व्यापक बन गयी थी कि उनकी अनुपस्थितिमें भी उनके उज्ज्वल चरित्र का संस्मरण समस्त संसारमें निरन्तर जीवित है। उस समयके कुछ महापुरुषोंके नाम इस प्रकार हैं—सर टामस मूर, सर फिलिफ सिडनी, सर वालटर रेले, एडमंड स्पेंसर, फ्रांसिस बेकन, शेक्सपियर आदि।

शेक्सपियर अंग्रेजी-साहित्यका लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक और कवि था। उसकी नाटिकाएँ तथा कविताओंसे उसके समयके कवि और लेखकोंकी रचनाएँ होड़ नहीं कर सकती थीं। प्रायः सभी दृष्टिसे वह अपने साहित्यका प्राण था।

शेक्सपियरका जन्म १५६४ ई० में हुआ था तथा मृत्यु ५२ वर्षकी अवस्थामें, १६१६ ई० में, हुई थी। उनकी मृत्युके बादसे लगभग ४० या ५० वर्ष तक अँग्रेजी साहित्यकी भयानक अधोगति होती रही। साहित्यका क्षेत्र अचानक पतनकी कालिमासे आवृत हो गया। इस कालिमामें भी किसी-न-किसी रूपमें सूर्य्यका अस्तित्व था; किन्तु किरणोंमें अभी वैसी तीक्ष्ण ज्योति न थी कि कालिमाकी सृष्टिका विनाश कर सके।

शेक्सपियरके जीवन-कालमें ही मिल्टनका जन्म हो चुका था। उनके जन्मके आठ वर्ष बाद शेक्सपियरकी मृत्यु हुई थी। शेक्सपियरके बाद स्वनाम-धन्य अँग्रेजी-साहित्य-महारथियोंमें मिल्टनका ही नाम लिया जाता है। शेक्सपियरके समयमें मिल्टन था; पर उसकी प्रतिभाके विकासपर समयका आवरण पड़ा हुआ था।

❀ ❀ ❀

लण्डनके अन्तर्गत चीपसाइड एक कस्बा है। इसी कस्बेके ब्रेड स्ट्रीटमें ९ दिसम्बर १६०८ ई० में महाकवि मिल्टनका जन्म हुआ था। उसके पिता एक कट्टर रोमन कैथोलिक थे। उनके पूर्व वंशज प्रोटेस्टेंट धर्मको मानते थे; इसीलिये वे वंशजाधिकारसे वञ्चित कर दिये गये थे। इस युक्तिपर विचार कर उन्होंने भी पीछे आक्सफोर्डमें आकर अपनेको प्रोटेस्टेंट-धर्ममें परिवर्तित कर लिया था। वे लन्दनमें रहकर अपनी जीविका किस प्रकार चलाते थे, यह बात अबतक अज्ञात है। सम्भवतः उस समय उनकी जीविकाका साधन संगीत-कला थी; क्योंकि संगीत विद्यामें वे निपुण थे। सन् १६०० में जब वे ३७ वर्षके हुए, तबसे उनकी जीविकाके प्रत्यक्ष साधनका पता चलता है। यह साधन सूदपर रुपये चलानेका व्यवसाय था। जीविकाका प्रबन्ध हो जानेपर वे चीपसाइड कस्बेके स्प्रेड ईगल नामक स्थानमें आकर रहने लगे। यहीं उन्होंने सराह जेफरी (Sarah Jeffery) नामक महिलासे विवाह किया।

कुछ सयाना हो जानेपर मिल्टनके पिताने मिल्टनको पढ़नेके लिये बैठाया। टामस यंग (Thomas young) पढ़ानेके लिये शिक्षक रखे गये। १६२२ ई० तक वे मिल्टनको घरपर पढ़ाते रहे। कुछ दिनोंके बाद मिल्टन सेंट पाल्स स्कूलमें भर्ती हो गया। यह स्कूल चीपसाइड ग्रामके समीप ही था। स्कूली जीवनमें मिल्टन बड़ा ही चतुर एवं कुशाग्र-बुद्धि

छात्र था । यद्यपि उसकी अवस्था अधिक न थी; तथापि उसकी अँग्रेजी तथा अन्य भाषाओंकी गद्य-पद्य रचनाएँ सुन्दर और प्रौढ़ होती थीं। इस छोटी अवस्थामें भी अध्यापकोंके द्वारा दिये गये प्रश्नोंका उत्तर वह इतने ठोस शब्दोंमें लिखता था कि उसकी लेखन-शैली देखकर लोग मुग्ध होने लगे थे । वह जन्म-जात कवि था । काव्यपर वह जो कुछ लिखता था, वह विशेष गम्भीर होता था। संगीत उसके घरका विषय था। उसके पिता इस विषयमें काफी दखल रखते थे ।

मिल्टन अब स्कूलकी पढ़ाई समाप्त कर चुका; अतएव उसने १६ वर्षकी अवस्थामें कैम्ब्रिजके क्राइस्ट कालेजमें प्रवेश किया। वह १६२५ ई० की ६ अप्रेलको प्रवेशिका परीक्षामें उत्तीर्ण हुआ। इसके बाद जनवरी १६२८-२६ ई० से पूर्व ही २० वर्षकी अवस्थामें बी०ए० तथा १६३२ ई० में एम० ए० की डिगरी उसने प्राप्त की ।

कालेजमें पढ़ते समय उसका रूप ठीक बालिकाओंके रूपसे मिलता-जुलता था । सिरमें गुच्छेदार लम्बे भूरे केश थे। चेहरा देखनेमें कोमल तथा प्रतिभावान् था। कान्ति एवं सुन्दरता स्त्रियोंके उचित थी। व्यवहार बड़ा ही नम्र था। इन्हीं कारणोंसे उसे क्राइस्ट कालेज या अन्य कालेजोंके विद्यार्थी "कालेजकी नायिका" (Lady of the College) के नामसे पुकारने लगे थे। विद्यार्थियोंके इस व्यवहारसे वह असन्तुष्ट था या नहीं यह उसके निम्नलिखित वाक्योंसे समझा जा सकता है—

"When I was yet a child no childish play.
To me was pleasing, all my mind was set.
Serious to learn and know and thence to do.
What might be public good, myself I thought.
Born to that end born to promote all truth all righteous things."

कालेजमें मिल्टन, व्याख्याता, कवि तथा लेखक तीनों रूपमें, अपनी योग्यताका अच्छा परिचय दे सका। व्याख्याताके रूपमें उसकी "Prolusions quaedam oratorial" नामक रचना आज भी उसके जीवनकी याद दिलाती है। इस छोटी-सी पुस्तकमें उसके लैटिन भाषाके उन सात लेखोंका संग्रह है, जो व्याख्यानके रूपमें क्राइस्ट कालेज हाल या यूनिवर्सिटी स्कूलोंमें जन-साधारणके सामने दिये गये थे। कालेज-जीवनमें जिन सुन्दर पद्योंकी उसने रचना की थी, उनके नाम रचना-कालके साथ इस प्रकार हैं—

1. "On the death of a fair infant" (१६२५-१६२६), 2. "At a vacation exercise in the College" (१६२८), 3. "On the morning of christ's nativity" (१६२६), 4. "The Passion" १६३०), 5. "Song on May morning" (१६३०), 6. "On Shakespeare" (१६३०), 7. 'The Epitaph on the Marchioness of Winchester" (१६३१) इन पद्योंमेंसे पहला पद्य मिल्टनने अपनी बहन एनी फिलिपसके प्रथम पुत्रके देहान्तकी घटनासे प्रेरित होकर लिखा था।

मिल्टनके कालेज परित्याग करनेसे कुछ दिन पहले उसके पिता अतिशय वृद्ध होकर ७० वर्षकी अवस्थामें अपना शेष जीवन व्यतीत करनेके लिये चीपसाइडसे हट कर हार्टन बरकिंघमशायरमें चले आये थे। यहाँ मिल्टन अपने पिताके साथ छः वर्षोंतक रहा। यहाँ रहकर मिल्टनने जिन कविताओंकी मन्दाकिनी बहायी, उनमेंसे पाँच विशेष विख्यात, महत्त्वपूर्ण एवं स्वाभाविक हैं। उन पाँचों कविताओंके नाम 'Allegro', 'Penseroso', 'Arcades', 'Comus,' 'Lycidas' हैं। Allegro में हृदयकी सुखप्रद भावनाओंसे प्रेरित होकर

स्वर्णिम प्रभातसे लेकर धूमिल गोधूलितकके दृश्योंका सजीव चित्र खींचा गया है। Penserose में हृदयकी वेदनाके मन्त्रोंसे प्रेरित होकर रात्रिकालका अर्थात् धूमिल संध्यासे दूसरे दिनके प्रातःकाल तकके दृश्य चित्रित किये गये हैं। जहाँ एकको कल्पना आनन्दकी वाणीको प्रकट करती है, वहाँ दूसरेका संगीत वेदनाकी लहरोंमें विलीन होनेको बढ़ता है। प्रातःकालका वर्णन करते हुए उसने जीवनको संगीतके प्रवाहमें बहाया है—

"But let my due feet never fail
To walk the studious cloister's pale,
And love the high embowed roof
with antique pillars massy-proof,
And storied windows richtly dight
"Casting a dim religious light.

* * *

"Dissolve me into ecstasics
And bring all heaven before mine eyes."

Arcades तथा Comus दोनों अभिनयकाव्य हैं। Comus मिल्टनकी अन्य छोटी-छोटी पद्य-रचनाओंमें सर्वश्रेष्ठ है। Comus नाम संसार भरमें आज विख्यात है; किन्तु यह नाम मिल्टनका रखा हुआ नहीं है। मिल्टनका यह नाटक मञ्चपर दिखलानेके लिये उत्तम समझा गया। उसमें मंचके योग्य बनानेके लिये जहाँ-तहाँ संगीत देनेकी आवश्यकता थी। अतएव लेविसने उस नाटकके लिये संगीत-योजना की और वह नाटक सन् १६३४ की २९ सितम्बरको लुडलोकासलमें अनेक गण्य-मान्य नागरिकोंके सामने मञ्चपर दिखलाया गया। इस नाटकका यही सार था कि लज्जा, नम्रता, पातिव्रत्य तथा साहस बुराइयोंसे रक्षा करनेके लिये इच्छित अस्त्र हैं—

"Mortals that would follow me
Love virtue, she alone is free,
She can teach ye how to climb
Higher then the sprey chime,
Or, if virtue feeble were
Heaven itself would stoop to her."

ई०सन् १६३४ से ई० सन् १६३७ के प्रारम्भ तक मिल्टनके जीवनमें न तो कोई वैसी उल्लेखनीय घटना हुई और न कोई उसकी प्रशंसनीय रचना। केवल उसने Psalem CXIV का ग्रीक भाषामें अनुवाद किया तथा १६३५ में उसने एक बार आक्सफोर्डकी यात्रा की। सन् १६३६ के आरम्भमें सर टामस काटन नामक एक सज्जनने उसके पिताके विरुद्ध रुपये खा जानेके लिये नालिश की थी। मुकदमा चल ही रहा था कि १६३७ की तीसरी अप्रेलको उसकी माता, ४५ वर्षकी अवस्थामें, स्वर्ग सिधार गयी। उसी साल उसका नाटक 'कामस' जो तीन वर्षोंसे अप्रकाशित पड़ा था प्रकाशित हुआ।

एक लेखक और कविकी हैसियतसे मिल्टन विदेशमें जाकर भ्रमण करनेके लिये बहुत दिनोंसे लालायित था; किन्तु परिस्थिति अनुकूल न होती थी। अन्तमें वह एक दिन भ्रमणके लिये चल पड़ा। वह पेरिस, इटली, जिनेवा आदि नगरोंसे होता हुआ फ्लोरेंसमें आया। इस नगरकी सुन्दरता तथा सामाजिक व्यवहारपर मुग्ध होकर वह यहाँ दो मास रह गया। वहाँसे वह रोम पहुँचा। यहाँ भी दो मास रहा। रोमसे नेपल्सके लिये रवाना हुआ। फिर वहाँसे लन्दन आया।

इधर लन्दनमें 'शासक चार्ल्स स्टूवर्ट'के एकाधिपत्यके विरुद्ध जनतामें हलचलका स्फुरण हो गया था। यह स्फुरण स्वतन्त्रताका संघर्ष था। यहीं उसके जीवनमें राजनीतिक प्रभातका उदय हुआ।

स्वतंत्रता-संघर्षके समय मिल्टनकी काव्य-धारा नितान्त अवरुद्ध थी। उस समय उसकी सारी रचनाएँ गद्यमें होती थीं। उस समयकी उसकी Areopasiticia नामक गद्य-रचना बड़ी ही गवेषणापूर्ण है।

मिल्टनकी दूसरी ओघीकी गद्य-रचना वह थी, जिसमें उसने चार्ल्स प्रथमकी फांसीके विरुद्ध आवाज उठायी थी। प्युरिटन सरकार (Puritan g vernment) ने इस, ग्रन्थका पर्याप्त आदर किया। इसी ग्रन्थकी बदौलत वह सरकारकी काउंसिलमें लैटिन भाषा विभागका मंत्री निर्वाचित हो गया।

स्वतंत्रता-संघर्षके आरम्भमें मिल्टनका उससे विशेष सम्बन्ध न था, फिर भी वह संघर्षके पक्षमें था। वह अल्डरगेट स्ट्रीटमें अपनी बहन तथा भांजोंके साथ रहता था। वहांसे वह १६४३ के ग्रीष्म कालमें एक बार ग्रामोंमें घूमनेके लिये, बिना किसीसे कुछ कहे-सुने, चला गया और जब वहांसे लौटा, तब उसके साथ उसकी नवयुवती स्त्री थी। युवतीका नाम मेरी पावेल था। वह रिचार्ड पावेलकी ज्येष्ठा कन्या थी। उसके पिता आक्सफोर्डके समीपवर्ती ग्राम फोरेस्ट हिल्के निवासी थे।

मिल्टन वास्तवमें एक साहित्यिक पुरुष था। प्रत्येक घटनाके साथ उसके साहित्यिक जीवनका ही विकास हुआ है।

मिल्टनका सर्वश्रेष्ठ कविता-ग्रन्थ उसका Paradise lost है। इस ग्रन्थके लिये वह आजीवन प्रयत्न करता रहा था। वह अँग्रेजी भाषाका अद्वितीय मौलिक ग्रन्थ प्रमाणित हुआ है। मिल्टनकी अन्य कविताओंपर दृष्टिपात करनेसे यह सभी मानेंगे कि वह उन कविताओंके द्वारा अमरत्व प्राप्त कर गया है। उसका विश्वास था कि वह संसारमें लिखनेके लिये आया है और उसकी लेखन-कलाकी समीक्षा कोई अज्ञात समीक्षक करता रहता है। उसकी कविताओंके भाव अब अधिकतर धार्मिक होते थे। वह एक धार्मिक विचारका व्यक्ति था। इस दृष्टिसे उसकी प्रतिभा अद्भुत शक्ति-शालिनी थी। पापों और कुकर्मोंसे वह सदा दूर रहता था। उसके धार्मिक भावका परिचय उसके एक प्रार्थना-गीतमें मिलता है--

"Say, Heavenly muse, shall not thy sacred vein.
Afford a present to the Infant god?
Hast thou no verse, no hymn or solemn strain
To welcome him to his new abode.
Now while the heaven, by the sun's team untrod,
Hath took no print of the approaching light.
And all the sprangled host keep watch in squadrons bright ?"

१६५३ ई० में मिल्टनकी पत्नी तीन बालिकाओंको छोड़कर संसारसे चल बसी। मिल्टनकी आंखें बचपनसे ही रोगयुक्त हो रही थीं। १६५४ में दोनों आँखोंका प्रकाश जाता रहा और वह एकदम अन्धा बन गया।

१६७४ ई० की ८ नवम्बरको वनहिल नगरमें, अपने घरपर, मिल्टनका देहावसान हुआ। उस समय उसकी अवस्था ६५ वर्ष ११ मासकी थी। क्रिपेल गेटके सेंट गाइल्स गिर्जेमें ठीक उसके मृत पिताकी समाधिके पास ही उसे भी समाधि दी गयी।

महात्मा टाल्सटाय

श्रीयुत माहेश्वरी सिंह 'महेश' बी० ए०

महात्मा टालसटाय जिस समय स्कूलमें थे कोई भी ऐसा लक्षण न था, जिससे उन्हें एक होनहार विद्यार्थी कहा जा सके। कालेज आनेपर भी उनकी दशा वही बनी रही। कालेजमें सर्व-प्रथम उन्होंने पूर्वीय साहित्यका अध्ययन शुरू किया; किन्तु कुछ दिनोंके बाद उसे छोड़ दे कानून

पढ़ने लगे । इसमें भी वे असफल ही रहे । तात्पर्य यह है कि जीवनके इन प्रथम वर्षोंमें उनमें युगपरिवर्तनकारी महापुरुष होनेके कोई लक्षण न थे।



महात्मा टाल्सटाय

उनके स्वभावमें शक्ति, उत्सुकता तथा भावुकता मिली थीं । अपनी इस तुनुक भावुकताके कारण वे प्राय: शोचनीय परिस्थितिके शिकार बन जाते थे। इसका प्रभाव इस हदतक हुआ कि वे शराबी तथा जुआड़ी बन गये । किन्तु बादमें ही उन्हें खयाल आया और बड़ी मुस्तैदीके साथ दोनोंसे पिण्ड छुड़ाया । अपने इस आदर्श प्रयत्नमें उन्हें किन-किन अड़चनोंका सामना करना पड़ा यह उनकी आत्मकथामें स्पष्ट रूपसे वर्णित है ।

विश्वविद्यालयका परित्याग कर वे अपने भाईके साथ काकेशस प्रान्तोंमें लड़ाईपर गये । वहाँके प्रकृति-सौन्दर्यने उनके भावुक-हृदयपर बड़ी गहरी चोट पहुँचायी । वे यह कदापि नहीं देख सकते थे कि उनके हाथोंसे गरीबों, स्त्रियों, बच्चों तथा किसानोंकी क्रूर हत्या हो । इतना ही नहीं वे चोरी, ठगी, खून और बर्बरताके पुतला बने रहें । फिर भी उन्होंने जीवनके दस वर्ष लड़ाईमें बिताये और जब यह जीवन उन्हें असह्य हो उठा, तब वे मानव-समाजसे नाता जोड़ने चल पड़े ।

सेनाका परित्याग कर वे पिटर्सबर्ग लौट आये । उन दिनों यह स्थान सामाजिक तथा राजनीतिक क्रान्तिका अड्डा हो रहा था । चूँकि टाल्सटायका हृदय पूर्वीय विचारोंसे लबालब था । फलतः आन्दोलनकी नीति अर्थात् पश्चिमीय साधनोंपर सफलता उन्हें कतई पसन्द नहीं थी; किन्तु उनके ये विचार उन दिनों मान्य न हो सके। फलतः वे १८५७ में यूरोपकी यात्राको निकल पड़े। किन्तु कुछ ही सप्ताहोंमें वे निराश हो कर लौट आये तथा तीन वर्षोंतक मास्कोमें यों ही पड़े रहे। फिर भी उनके ये तीन वर्ष बड़े ही महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुए; क्योंकि इन वर्षोंमें उन्हें रूसके किसान-जीवनका अध्ययन करनेका बड़ा अच्छा मौका लगा । बादमें वे फिर यूरोपीय किसानोंकी अवस्था जाननेके लिये निकले। वहाँसे लौटनेपर उन्हें एक पद मिला जिससे वे आम जनताकी वास्तविकताको खूब जान सके ।

३४ वर्षकी अवस्थामें, १८६२ में, उन्होंने सोनिया नामक महिलासे विवाह किया। तबसे करीब १५ वर्षतक उनका पारिवारिक जीवन बड़ी खुसीके साथ कटा। उन्होंने छ दिनोंतक अपने सिद्धान्तों एवं सार्वजनिक जीवनको किनारे रख पारिवारिक जीवनको मधुर बनानेका प्रयत्न किया। इन्हीं दिनों 'अन्नाकरेनिया' तथा 'युद्ध और शान्ति' नामक दो विश्व-विश्रुत पुस्तकोंकी रचना की । इस

रचनाओंका फल यह हुआ कि वे रूसके सर्वश्रेष्ठ लेखक समझे जाने लगे। इसके अलावा उन्होंने इसी बीच यूनानी तथा जर्मन-भाषा भी सीख ली।

५० वर्षकी अवस्थामें भावुकता पुनः जोर मारने लगी। उन्होंने देखा समाज, पाप, दोष, असमानता तथा तकलीफकी ज्वालासे भस्मीभूत हो रहा है। वह इनसे पीड़ित हो कराह रहा है। इस ज्वलन्त समस्याको हल करनेके लिये उनकी आत्मा द्रवीभूत हो उठी। उन्होंने विश्वधर्मोंको छान डाला। विश्वसाहित्यको मथ डाला एवं समस्त संभाव्य उपायोंसे इसे सुधारनेमें लीन हो गये। उन्होंने शक्ति, धन एवं सुखकी जगह दरिद्रता, मानवता एवं बलिदानको दी एवं इन विचारोंके बलपर चर्चका सुधार करना ठाना। किन्तु इसमें तीव्र विरोध हुआ। वे १९०१ में जाति-च्युत कर दिये गये।

दीक्षाके बाद टाल्सटाय दुनियावी झंझटोंसे मुक्त हो गये। फल यह हुआ कि उनकी आमदनी दिनानुदिन गिरने लगी। फिर भी वह समझते थे कि अपने आदर्शकी ओर तेजीसे बढ़ रहे हैं। १८८५ में तो वे पूरे साधु हो गये। मांसाहारको एकदम छोड़ दिया, विलासकी जगह तपस्याने ले ली तथा शिकार और धूम्रपानका आमूल परित्याग कर दिया गया। उन्होंने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि वे किसानों जैसा जीवन बितायेंगे। १८९१ में अपनी सम्पत्तिसे अलग हो गये तथा पुस्तकोंकी कापीराइटका भी परित्याग करने लगे, किन्तु उनकी चतुर स्त्रीने उसे अपने नामसे करा बर्बादीसे बचा लिया।

१८९१ में एक महादुर्भिक्ष आया। उन्होंने इन दिनों बड़ी मुस्तैदीसे सेवाका भार लिया। उनके संगठन तथा प्रबन्धसे मुग्ध हो सारा विश्व एक स्वरसे उन्हें धन्य-धन्य कह उठा। फिर भी उन्होंने देखा कि यह उनके योग्य नहीं हो रहा है। १८९५ से १८९८ तक उन्होंने सरकारकी तीव्र निन्दाके विषयमें कलम उठायी। उन्होंने कहा कि सरकार काकेशसकी बर्बरतापर परदा डाल क्रूर अन्यायका परिचय देती है। इस अवसरपर उन फौजी सिपाहियोंको, जिन्होंने फौजी सर्विस से इस्तीफा दे दिया था, सहायताके लिये उन्होंने अपने सिद्धान्त तककी बलि दे दी। बादमें १९०२ में उनका वह प्रसिद्ध पत्र प्रकाशित हुआ, जिसमें रूसी माँगोंका जिक्र करते हुए निरंकुश जारके प्रति लिखा गया था। यह प्रसिद्ध पत्र रूसी जनताकी राजनीतिक स्वतंत्रताके आन्दोलनका पक्ष-समर्थक था।

१९१० के अक्टूबर महीनेमें संसारने यह सुना कि गरीबों तथा किसानोंके महात्मा टाल्सटाय अपने घरसे गायब हो गये हैं। किन्तु बादमें पता लगा कि वे अपस्टोवो नामक स्थानपर ज्वरसे पीड़ित पड़े हैं। फिर क्या था, सारा परिवार वहीं पहुँच गया। यदि उन्हें ज्वर न होता, तो सम्भव था कि वे रूसकी अन्तिम सीमापर पहुँच जाते। उनके इस प्रकार गायब होनेका कारण था कि वे सरल किसानोंके बीच एकान्त एवं शान्तिका जीवन बिता सकें।

इस अवसरपर उनके पास एक बन्द चीठी पायी गयी, जिसे उन्होंने १८९७ में ही अपनी स्त्रीके नाम लिखा था। उसे स्त्रीको उस समय दी जानेकी बात थी जब वे मृत्युको प्राप्त होंगे; चाहे यह घटना कभी भी हो। पत्रसे यह स्पष्ट है कि वे हिन्दूकी तरह ६० वर्षकी अवस्थासे संन्यासीका जीवन बना एकान्त तथा परमेश्वरकी खोजमें लीन रहेंगे। जो हो, बीमारी धीरे-धीरे उग्र रूप धारण करने लगी एवं १९१० के नवम्बर मासकी २० वीं तारीखके ६ बजे प्रातः काल रूसके महात्मा टाल्सटाय इस लोकसे सदाके लिये उठ गये।

महात्मा गान्धी

प० प्रेमनाथ झा

गान्धीजीका जन्म काठियावाड़ प्रदेश (राजकोट) में सन् १८६९ को दूसरी अक्टूबरको हुआ था। इनके पूर्व-पुरुष वहाँके पोरबन्दर राज्यमें दीवानी किया करते थे। गान्धीजीके पिता भी २५ वर्षोंतक उसी पदपर विद्यमान थे।

गान्धीजीने पहले काठियावाड़में अँग्रेजी शिक्षा पायी; फिर विलायत जाकर बैरिस्टरी पास की। विलायतसे आकर इन्होंने बंबई हाई कोर्टमें बैरिस्टरी शुरू की। मुकद्दमेकी पैरवीके लिये ये १८९५ ई० में दक्षिण अफ्रीका गये और वहीं नेटालके सुप्रीमकोर्टमें बैरिस्टरी करने लगे।

१८९४ ई० में इन्होंने वहाँके प्रवासी भारतीयोंको लेकर एक कांग्रेस खोली। इसके द्वारा इन्होंने भारतीयोंको बड़ी मदद पहुँचायी। वहाँसे ये भारत आये—इसी नीयतसे कि प्रवासी भारतीयोंकी दुरवस्थाका सारा हाल यहाँकी सरकारको बताया जाय; किन्तु यहाँसे लौटनेपर अफ्रीका-निवासी महाप्रभु 'श्वेताङ्ग' इनसे बहुत रुष्ट हो गये और इनकी हत्यातक करनेके लिये उतारू हो गये, परन्तु ये डरे नहीं; निर्भीकतापूर्वक प्रवासी भारतीयोंके लिये सदा लड़ते रहे। अन्तमें इनके चलते वहाँके प्रवासी भारतीयोंको अनन्त लाभ हुए।

भारतवर्षमें आकर गान्धीजीने क्या-क्या किया यह बताना एकदम फिजूल है; क्योंकि गान्धीजीके कार्य-कलापसे भारतका बच्चा—बच्चा परिचित है; और, यदि उनके सारे कार्य एकत्र किये जाँय, तो केवल उनसे ही "चरिताङ्क" जैसे तीन विशेषाङ्क निकल सकते हैं।

गान्धीजीका असहयोग-आन्दोलन, खद्दरका प्रचार, हरिजन-आन्दोलन तथा ग्रामसंगठन एक-एक महान् कार्य है। सत्य और अहिंसाके पुजारी गान्धीजी अभी भारतके प्रत्येक व्यक्तिकी जिह्वापर विराजमान हैं। इनके युगमें इनके समान कोई दूसरा महापुरुष नहीं है।

मैं इन्हें श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

२—पूज्य मालवीयजी

प० कैलासपति त्रिवेदी

मालवासे आकर एक शिक्षित चौबे-परिवार मिर्जापुरमें बस गया। पूज्य पण्डित मदनमोहनजी मालवीय इसी उन्नतम ब्राह्मण-परिवारके एक वंशधर हैं। इनके पितामह प्रेमधर मालवीय और पिता ब्रजनाथ मालवीय इलाहाबादमें पण्डितके नामसे प्रसिद्ध थे। इलाहाबादमें ही पूज्य मालवीयजीका जन्म १८६२ ई० की १८ वीं दिसम्बरको हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर पूज्य मालवीयजीने मेयो कालेजसे १८८४ ई० में बी० ए० की उपाधि प्राप्त की।

इसके बाद मालवीयजी कलकत्ता कांग्रेसमें कार्य करने लगे तथा 'हिन्दुस्तानी' नामक एक दैनिक पत्रका सम्पादन। १८९२ ई० में एल-एल० बी० परीक्षामें उत्तीर्ण हुए। इनकी भाषण-क्षमता अद्वितीय है। संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजीमें इनकी अव्याहत वाग्धारा श्रोताओंके मनको एकबारगी ही वशीभूत कर लेती।

१९०२ ई० में पूज्य मालवीयजीने संयुक्त प्रदेशकी व्यवस्थापक सभामें प्रवेश किया। १९०९में ये लाहोर कांग्रेसके सभापति हुए। फिर १९१० ई० में भारतीय व्यवस्थापक सभाकी नींव डाली। वहाँ इन्होंने प्राथमिक शिक्षाको अनिवार्य कर देनेके लिये जोरदार शब्दोंमें व्याख्यान दिया एवम् हार्डिंजके उस बिलका घोर विरोध किया जिसके द्वारा वे भारतीय श्रमिकोंको बाहर भेजनेके लिये प्रस्तुत थे। अन्तमें वह बिल स्थगित ही होकर रहा।

पूज्य मालवीयजीकी सर्वतः श्रेष्ठ कीर्ति "हिन्दू-विश्वविद्यालय" है। इसकी केवल इमारत बनानेके ही लिये अकेले मालवीयजीने इतना धन इकट्ठा कर लिया, जितना कि भारतके लब्धप्रतिष्ठ नेता लोग एक साथ मिलकर भी नहीं कर सके हैं।

दिल्लीमें जो कांग्रेस हुई थी, उसके सभापति भी मालवीयजी ही थे। १९१६ ई० में भारत गवर्नमेंटने "इंडियन इंडस्ट्रियल कमीशन" स्थापित किया। जिसके सभापति सर टामस हालेंड थे और सदस्योंमें थे एक मालवीयजी भी। रौलट बिलके पास होते समय मालवीयजीने उसका उग्र विरोध किया था। सैनिक-सम्बन्धी सुधारके लिये मालवीयजीने कांग्रेसकी एक छोटी सभा स्थापित की थी। मालवीयजीने व्यवस्थापिका सभामें अँग्रेजी उपनिवेशोंमें रहनेवाले भारतीयोंकी दुर्दीनताको दूर करनेके लिये भी बहुत परिश्रम किया है।

इन्हींकी विशेष चेष्टा और यत्नसे हिन्दू-महासभा विशेष शक्ति-सम्पन्न हुई है। शुद्धि, संगठन और अस्पृश्यता निवारणके लिये मालवीयजी जी-जानसे प्रयत्न करते हैं। ये पक्के देशसेवक और समाज-सुधारक हैं।

भारतीय नेताओंमें मालवीयजी एक श्रेष्ठ नेता हैं और बे-मिसाल व्याख्याता।

३—लोकमान्य तिलक

पं० महादेवप्रसाद मिश्र बी० ए०, बी० एल०

लोकमान्य बाल गङ्गाधरके पिताका नाम रामचन्द्र गङ्गाधर राव और माताका नाम पार्वती बाई था। इनका जन्म १८५६ ई०की २३ जुलाईको,



लोकमान्य तिलक

रत्नागिरिमें, सदोबा गोरेके घरपर, हुआ था। इनके पिता संस्कृत और गणितके प्रकाण्ड पण्डित थे; अतः इन्होंने अपने पुत्रको दोनों विषयोंकी शिक्षा स्वयं दी। तिलकजीकी स्मरणशक्ति अत्यन्त तीव्र थी।

१८७१ ई० में तिलकजीका विवाह सत्यभामा बाईसे हुआ। उसके दूसरे ही साल इनके पिताका स्वर्गवास हो गया और उसी साल इन्होंने इंट्रेंस पास किया। क्रमशः ये बी० ए० और एल-एल० बी० की परीक्षामें भी उत्तीर्ण हुए।

वकालत नहीं करके तिलकजी विष्णुशास्त्री चिपलून करके नये स्कूलमें अध्यापकी करने लगे। कुछ दिनों बाद उस स्कूलका सारा भार इन्हींके सिर आ पड़ा। बहुत परिश्रम करके तिलकजीने फर्ग्युसन कालेज भी खोला। यहाँ ये गणित और संस्कृत स्वयं पढ़ाया करते थे।

"केसरी" और "मराठा" नामक पत्रोंका संचालन करके ये धार्मिक, राजनीतिक और कानून सम्बन्धी लेख लिखने लगे। जनतामें प्रचुर जागृति हुई। तिलकजीके सम्पादकत्वमें 'केसरी' खूब चल निकला। जनताकी भलाईके लिये तिलकजीके लिखे लेख बड़े मार्केके होते थे। अधिकारियोंपर उनका बड़ा प्रभाव पड़ता था। इसी कारण इन्हें कई बार जेल जाना पड़ा और निर्वासनका भी दण्ड भुगतना पड़ा।



लेखक

कांग्रेसके कार्योंमें भी तिलकजीका जबर्दस्त हाथ था। लेकिन ये बड़े हठी थे। अपने सिद्धान्तके सामने किसीको कुछ नहीं समझते थे। सन् १८९५ की पूना-कांग्रेसमें ये स्वागतकारिणी समितिके मन्त्री थे, किन्तु अपने हठीले स्वभावके कारण

इन्होंने इस्तीफा दे दिया, परन्तु उसकी सफलताके लिये सदा प्रयत्न करते ही रहे ।

महाराष्ट्र-केसरी शिवाजीकी समाधि भग्नावस्था में पड़ी थी, उसके उद्धारके लिये तिलकजीने अटूट परिश्रम किया और अन्तमें वहाँ सदाके लिये एक उत्सवका आयोजन करके ही दम लिया।

तिलकजी गरमदलके नेता कहे जाते थे। ये उग्र विचारके थे। इंगलेंड जाकर भी इन्होंने कांग्रेस कमिटीका संगठन और सुधार किया था।

जेलमें ही इन्हें अवकाश मिलता था; अतः इनकी पुस्तकें जेलमें ही लिखी गयी हैं। गीतारहस्य इनकी अद्भुत विद्वत्ताका परिचायक है। इनके वेद-सम्बन्धी लेखोंका संग्रह 'ओरायन' नामसे हुआ है। "वेदोंमें आर्योंका आदि निवासस्थान" नामक ग्रन्थ भी इनका अद्वितीय है। गणित और ज्योतिषके तिलकजी उद्भट विद्वान् थे। कहते हैं, इनके समान कोई विद्वान् इन दो सदियोंमें नहीं हुआ है।

महाराष्ट्रवाले इनका बड़ा आदर करते थे। अन्यायके विरुद्ध सदा मुकदमा लड़ते रहनेके कारण इन्हें ३ लाखका कर्ज हो गया था; पर महाराष्ट्रवालोंने इनके ऋणको चुका दिया।

एक दिन इन्हें मोटरपर सर्दी लग गयी। ज्वर बढ़ने लगा। लाख चेष्टा करनेपर भी ज्वर नहीं कमा। आखिर ३१ जुलाई १९२० ई० को ये परमगतिको प्राप्त हुए।

४—महात्मा ईसा

प० सुरेन्द्र मिश्र

आजसे १९३५ वर्ष पहले महात्मा ईसा, इस धराधाममें, अपने उपदेश-पीयूषकी मधुर वर्षा कर रहे थे। उनकी उपदेश-अमृतकिसीमें गोते लगाकर लाखों-लाख प्राणियोंने सद्गति पायी है। ईसा ईश्वरके पुत्र थे। माता मरियमके गर्भसे उन्होंने बेतलहम् नामक गाँवमें जन्म ग्रहण किया था। मरियमके पतिका नाम योसफ था।

योसफ बढ़ईका काम किया करते थे और ईसा यथाशक्य उनके कार्यमें साहाय्य पहुँचाया करते थे। ये लड़कपनसे ही सुशील, गम्भीर तथा कुशाग्रबुद्धि थे। ईसाको ईश्वरके ऊपर अटूट भक्ति



महात्मा ईसा

थी। दुःखितोंका कष्ट देखकर इनका हृदय भर आता था। ये उनके कष्टोंको दूर करनेके लिये प्राणपनसे चेष्टा किया करते थे। सेवाभाव इनमें कूट-कूटकर भरा हुआ था।

इनकी परीक्षा लेनेके लिये अथवा इन्हें कर्तव्यच्युत करनेके लिये शैतानने कई बार प्रयत्न

किया; पर वह सफल मनोरथ नहीं हो सका। ईसामें महान् आत्मा थी; इसलिये इनके कार्य-कलाप भी लोकोत्तर थे।

ईसाके उपदेश बड़े ही मार्केके हैं। इनका कहना है कि ईश्वरके भजनेसे मुक्ति नहीं मिल सकती। मुक्ति पानेके लिये उसकी बनायी हुई चीजोंकी सेवा चाहिये। अगर मनुष्य अपने किये कुकर्मोंपर पश्चात्ताप करे और फिर कभी उसे नहीं करनेकी प्रतिज्ञा करे, तो ईश्वर उसे अपनी शरणमें ले लेता है, उसके पापोंको क्षमा कर देता है। प्रार्थनाके ऊपर ये बहुत जोर देते थे। इनके विचारसे प्रार्थना अज्ञानान्धकारमें राह दिखाती है। धन-मदसे चूर व्यक्ति कभी भी मोक्षपदके अधिकारी नहीं हो सकते, यह भी इनका मत है। स्वर्गके राज्यमें प्रवेश पानेके लिये सेवा, धर्म, परोपकार, प्रार्थना, पश्चात्ताप और विनम्रताकी आवश्यकता है। इनका कहना था कि अगर कोई तुम्हारे एक गालमें थप्पड़ लगावे, तो तुम अपना दूसरा गाल भी उसके सम्मुख कर दो।

ईसा केवल वचन-शूर नहीं थे। वे अपने वचनके अनुसार स्वयम् कार्य भी किया करते थे। उस समय इनके विरोधियोंकी भी संख्या कम नहीं थी। इनके शत्रुओंने इन्हें भाँति-भाँतिके कष्ट दिये; पर ईसाने सबको मुआफ कर दिया।

पैलेस्टाइनके लोगोंने इनपर झूठा इल्जाम लगा कर इन्हें क्रूस (शूली) पर चढ़वा दिया। हाथ-पैरमें लोहेकी कील ठोकवायी; पर ईसाने आह तक नहीं की। वे अन्त समयमें भी उन हत्यारोंके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करते रहे और हँसते हुए इस पापमय संसारसे विदा हो गये। उनकी वह मुस्कुराहट लोगोंकी आँखोंमें समा गयी।

महात्मा ईसाकी वह प्रेममयी मुस्कुराहट फिर एक बार इस धरित्रीमें मिले यही मेरी अन्तिम प्रार्थना है।

५—गुरु नानक और वृद्ध

महाराज गुरु नानक देवजी धर्मोपदेश करते-करते एक गाँवमें पहुँचे। सायंकालका समय था। ग्रामीण लोग अपनी गौएँ और भैंसे चराकर घरोंको वापिस आ रहे थे। गाँवकी लड़कियाँ कुओंसे पानी भरने जा रही थीं और कुछ भर कर वापिस आ रही थीं। गुरुजीने गाँवसे बाहर एक वृक्षके नीचे डेरा लगाया। उनका नाम तो प्रसिद्ध हो ही चुका था। वह संन्यासियोंकी तरह यात्रा और उपदेश करते भ्रमण कर रहे थे। वह गाँवमें पहुँचे ही थे कि लोग दर्शनोंके लिये एकत्र होने लग गये। सबको विदित हो गया कि महाराज पधारे हैं। सायंकाल तक उनके समीप लोगोंका भारी जमघट लग गया। भेंटोंका कुछ ठिकाना नहीं था। दूधके भरे बर्त्तनों-के-बर्त्तन पहुँच गये। किन्तु गुरुजीको इन पदार्थोंकी क्या आवश्यकता थी? उन्होंने समस्त पदार्थ बच्चोंमें बाँट दिये।

यह स्थान लोगोंके लिये तीर्थ स्थान-सा बन गया। उस गाँवके ही नहीं अपितु आस-पासके गावोंके लोग भी प्रातः-सायं गुरुजीका उपदेश सुनते और लाभ उठाकर स्व-गृहोंको चले जाते।

२

उक्त ग्राममें एक वृद्ध रहता था, जिसकी आयु लगभग ६० वर्षकी थी। उसके पास वैसे रुपया-पैसा तो था नहीं; किन्तु भूमि पर्याप्त थी और वह गाँवके समृद्ध लोगोंकी श्रेणीमें गिना जाता था। गाँवके सर्वसाधारण प्रत्येक बातमें उससे परामर्श लेनेमें गर्व अनुभव करते और उससे सम्बन्ध स्थापित करना अपना अहोभाग्य समझते थे। इस वृद्धकी

४ पत्नियाँ जीवित थीं और तीन मर चुकी थीं। फिर भी प्रत्येक तीसरे-चौथे वर्ष और विवाह करनेका विचार उसे सताने लगता। जागीरका स्वामी था और लोगोंमें सम्मानित भी था। संकेत पाते ही कई लोग उसे अपनी लड़कियाँ देनेको तैयार हो जाते। जिन दिनों गुरु नानकजी उस गाँवमें थे, वह बुड्ढा आठवाँ विवाह रचानेकी तैयारी कर रहा था। समीपके गाँवके एक जमींदारने अपनी बेटीको उसे सौंप देनेका निश्चय कर लिया था। सब कुछ निश्चित हो चुका था। लड़की की आयु १८—१६ वर्षके मध्यकी थी। वह एक आँखसे कानी थी। इसलिये अन्य सम्बन्धियोंमें किसीको उसे स्वीकार करनेका साहस नहीं होता था। लड़कीको अपनी इस कमीका ज्ञान था; पर वह यह भी नहीं चाहती थी कि वह ६० वर्षके बुड्ढेके पल्ले बाँध दी जाय। उसने गुरु नानकजीका नाम सुन रखा था। कई बार दर्शन भी कर चुकी थी। वह स्वयं अपनी आँखों देख चुकी थी कि गुरुजी लोगोंके कष्टोंके परित्राता हैं। उसे अच्छी तरह पता था कि उनके दरबारमें उसकी सुनवाई अवश्य होगी। अतः वह एक दिन प्रातः मुँह-अँधेरे उस वृक्षकी छायामें, शरण लेनेके लिये, चल पड़ी, जिसके नीचे शान्ति-स्वरूप गुरु नानक विराजमान थे।

३

महाराजने कहा—मैंने तेरी दुःख-गाथा सुन ली है। तेरे कष्ट निवृत्त होंगे। बेटी! इस समय अपने घर वापिस जा और कुएँमें गिर कर आत्म-हत्या करनेका विचार छोड़ दे। सात दिन धैर्य धारण कर और देख कि ईश्वर क्या करता है। लड़की रो रही थी। उसके एक अश्रुमें स्त्री-जातिके कष्टोंका समस्त लोक वर्त्तमान था।

प्रातः हुआ। गुरुजी उपदेश देने बैठे। संगतिमें वृद्ध भी उपस्थित था। गुरुजीने संकेतसे उसे अपने समीप बुलाया और कहा—"तेरी आकृतिसे तेरे मनकी विकृतावस्था स्पष्ट दिखाई दे रही है। मालूम पड़ता है तेरी आत्माको शान्ति नहीं।" वृद्धने उत्तर दिया वास्तवमें यह सच है। सुख प्राप्तिके लिये मैं जो नवीन पग उठाता हूँ, वही उलटा मेरे दुःखोंका कारण बन जाता है। विवाहोंसे मेरा मन नहीं भरता। मेरे मनको वास्तवमें शान्ति नहीं। गुरुजीने कहा—केवल एक वाक्य कहा—'मन जीते जग जीत" और वृद्ध उनके चरणोंमें गिर पड़ा उसे उनके चरणोंसे सुख और शान्तिके स्रोत बहते दिखाई पड़ रहे थे और वह उनकी धारामें डूब जाना चाहता था।

❀ ❀ ❀

६—चन्द्रगुप्त और उसकी दासी

चन्द्रगुप्त अपनी जिस रानीसे अत्यधिक प्रेम करता था, एक दिन प्रातः, उसके महलमें गया। रानी स्नान कर रही थी। वह कमरेकी एक खिड़कीमें खड़ा हो गया। नीचे बागीचेकी ओर दृष्टि डाली तो क्या देखा कि एक दासी फूल चुन रही है और रोती जा रही है। चन्द्रगुप्तका ध्यान उस ओर सहसा आकृष्ट हो गया। वह ध्यानसे सुनने लगा, लड़की फूल चुनती जाती थी और किसीका नाम ले-लेकर रोती जाती थी। प्रयत्न करनेपर भी चन्द्रगुप्तको स्पष्ट कुछ समझमें न आया, पर वह लड़कीके रुदनसे इतना प्रभावित हो गया कि उसने बातको साफ-साफ जाननेका निश्चय किया। लड़की अभी पुष्प चुन रही थी कि चन्द्रगुप्त नीचे उतरा और दबे पाँव उसके पास आ पहुँचा। लड़की सहम गयी, परन्तु चन्द्रगुप्त मुस्करा रहा था। उसने लड़कीको अपने

पास बुलाया। कहा—बेटी! तू रोती है। मैं जानता हूँ तुझे किसीसे प्रेम है और मैं यह भी समझता हूँ कि तेरा प्रेम वास्तविक और पवित्र है। मैं इस प्रेमको सफल होते देखना चाहता हूँ। तू उस नवयुवकका नाम बता दे। मैं उसे तेरा और तुझे उसका बना देता हूँ।

कुछ समयोपरान्त चन्द्रगुप्तके भतीजेका विवाह उस लड़कीसे कर दिया गया। वे दोनों अन्तिम समयतक उसका गुण गाते रहे।

—"युगान्तर"से

७—भक्त सूरदास

प० दुलारेलाल मिश्र, राज वैद्य

भक्त सूरदासका जन्म सम्भवतः १५४० विक्रमीयमें हुआ था। किन्हींके विचारसे ये पृथ्वीराजके राजकवि चन्दबरदाईके वंशज थे। किन्तु गुसाईं विट्ठलनाथजीके पुत्र गुसाईं गोकुलनाथजीने "चौरासी वैष्णवोंकी वार्ता"नामक ग्रन्थमें जो इनका जीवनचरित्र लिखा है, उससे ये सारस्वतो ब्राह्मण सिद्ध होते हैं। गोकुलनाथजी सूरदासके समकालीन थे; अतः इनकी ही बात प्रामाणिक मालूम पड़ती है। इनका जन्मस्थान आगरेके समीपका 'रुकनता' नामक ग्राम कहा जाता है।

बहुतोंके विचारसे सूरदासजी जन्मान्ध थे। परिवारके सब लोग इनका निरादर करते थे; किन्तु माताका इनके ऊपर अटूट प्रेम था। जब ये आठ वर्षके हुए, तब इनका यज्ञोपवीत करा दिया गया था। इनके हृदयमें भगवद्भक्तिका स्रोत बचपनमें ही फूट पड़ा था।

अपने बचपनमें ही सूरदासजी एक बार माता-पिताके साथ मथुरा गये थे। वहाँ उनका मन रम गया। लाख कहनेपर भी वे घर लौटनेको तैयार नहीं हुए। माता रोने लगी; पिता डपटने लगे, पर सूरदासजी अपने निश्चयपर अटल रहे। माँने कहा—"बेटा, अभी तुम्हारी उम्र ही क्या हुई है, जो वृन्दावन-वासके लिये ऊधम मचा रहे हो। मैं अगर तुम्हें यहाँ छोड़ भी जाऊँ, तो किसके भरोसेपर?"

सूरदासजीने कहा—"मेरे कृष्णदेव भगवाना।' मैया, तू क्यों चिन्ता करती है। कृष्णचन्द्र मेरे रक्षक होंगे। वे दीनबन्धु हैं। तुम्हारा रोना फिजूल है।"

उनकी अटल भक्तिको देखकर एक साधु उन्हें अपने पास रखनेको तैयार हो गया। माता-पिता रो-पीटकर घर वापिस चले गये। सूरदासजी वृन्दावनमें निवास करने लगे। साधुओंके सत्संगसे उनके पूर्वजन्मकी भगवद्भक्ति विकसित होने लगी। वे यमुना-तटपर विचरने लगे और मुरलीधरके सरस गुणगानमें तल्लीन रहने लगे।

एक दिन वे कुएँमें जा गिरे। वहाँ भी वे राधिका-दुलारेके प्रेम-गानमें निमग्न हो गये। बहुत देरतक वहीं पड़े रहे। उनके प्रेमसे भगवान् खिंच आये। एक सुन्दर बालकका रूप धारण कर भगवान्ने उन्हें कुएँसे निकाला। जब वे जाने लगे, तब सूरदासने उनकी बाँह पकड़ी और कहा—

"बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानिके मोहि।
हिरदयसों जब जाइहो मरद बखानौ तोहि॥"

उनकी दृढ़ भक्तिके वशीभूत होकर भगवान्ने उन्हें दिव्य चक्षु दिया। जी भरकर उन्होंने मुरली-मनोहरके रूपरसका पान किया और भगवान्से प्रार्थना की कि, जिस नेत्र द्वारा मैंने आपके अनुपम रूप-लावण्यको निरखा, नेत्रको सार्थक

किया, उस नेत्रके द्वारा अब मैं सांसारिक वस्तुको फिर नहीं देखूँ। यही मेरी प्रार्थना है। उसी क्षणसे वे फिर नेत्रहीन हो गये।

सूरदास कृष्ण-मुरारिकी मोहिनी मूर्तिके प्रेममें ऐसे पगे कि, उन्हें दीन-दुनियाकी सुध नहीं रही। वे सखाभावसे प्रेम करते थे। देखिये

* * *

सूरदासजीके पदोंमें भक्ति-भावका बाहुल्य तो है ही साथ ही उनके पद हिन्दी-साहित्यकी एक अमूल्य निधि भी हैं। उन्हीं पदोंके कारण सूरदासजी आज हिन्दी-साहित्यके उज्ज्वल रत्न माने जा रहे हैं। सरस शब्दोंकी सुन्दर और लचीली

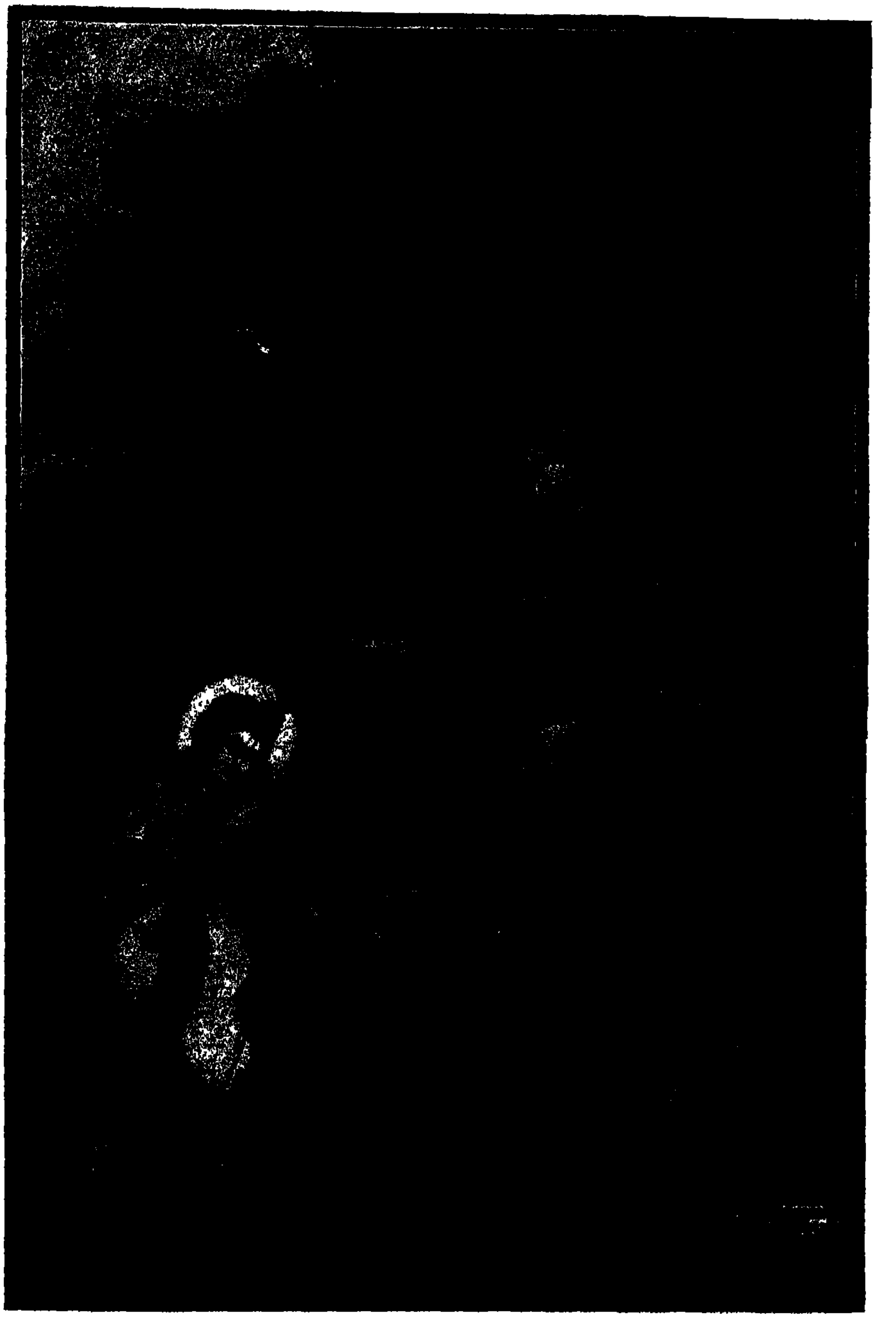


लेखक

इस पद्यमें कितनी नम्रता है—

"प्रभु, मैं सब पतितनको टीको।
और पतित सब दिवस चारको
मैं तो जनमत हीको।"

कड़ियोंमें सूरदासजीने उन भावोंको बाँध रखा है, जिन्हें अब कभी भी फुर्सत मिलनेको नहीं। भक्ति-भावनामें विभोर होकर सूरदासजीने जो कुछ भी कहा है, उसमें एक अद्भुत मिठास है।



भक्त सूरदास

बार-बार पढ़नेपर भी तृप्ति नहीं होती। इस पदको देखिये—

ऊधो उपदेश देनेके लिये व्रजमें आये हैं, पर उनके उपदेशको कौन पूछता ? गोपिकाएँ प्रेमकी भूखी हैं—ज्ञान और वैराग्यसे उन्हें वास्ता ? वे आपसमें बतियाती हैं—

'आयो घोष बड़ो ब्योपारी।
लादि खेप गुनज्ञान जोगकी ब्रजमें आय उतारी
फाटक देकर हाटक माँगत भोरिय निपट सुधारी।
धुरहीते खोटो खायो है लये फिरत सिर भारी॥
इनके कहँ ठहकानौ ऐसी कौन अजानी ?
अपनो दूध छाँड़ि को पीवै खार कूपको पानी॥
ऊधो, जाहु सवार यहाँते बेगि' गहरु जनि लाओ।
मुँह मांगो पैहौ 'सूरज'प्रभु साहहि आनि दिखाओ॥'

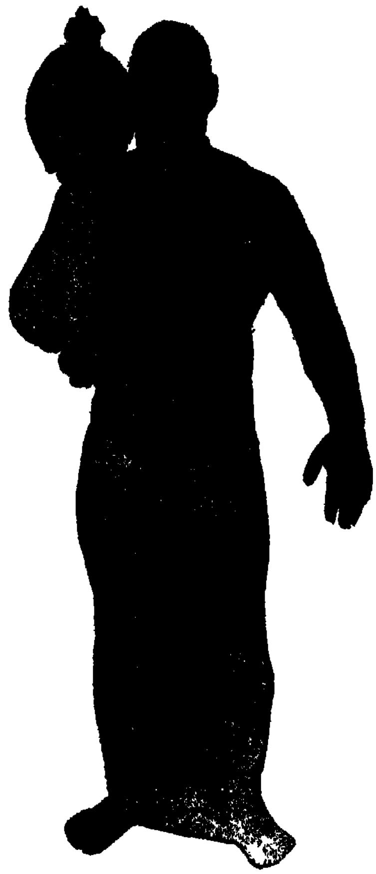
इस पद्यको भी देखिये—

"निर्गुन कौन देसको बासी ?
मधुकर ! हँसि समुझाय सौंह दै बूझति साँच न हाँसी।
को है जनक, जननिको कहियत, कौन नारि, को दासी॥
कैसो बरन, भेष है कैसो केहि रसमें अभिलाषी॥
पावैगो पुनि कियो आपनो जोरे कहैगे गाँसी।
सुनत मौन है रह्यो ठगोसो 'सूर' सबै मति नासी॥

८—गामा

पं० रघुवीरप्रसाद मिश्र सी० टी०

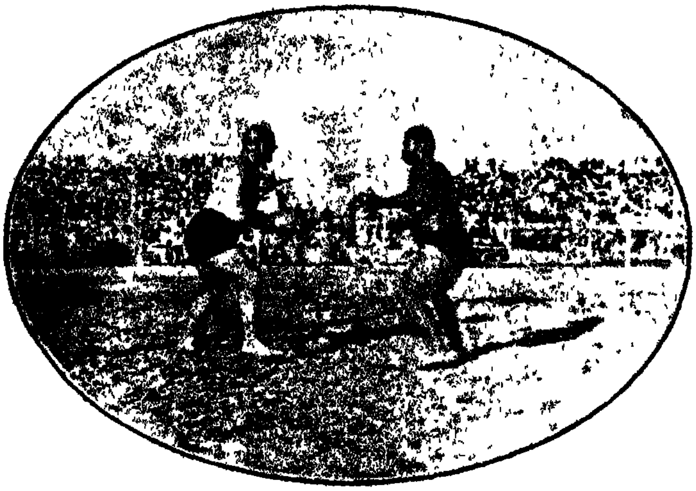
भारतको कल्लू, गुलाम, कक्कर आदि अनेकानेक पहलवान विभूषित कर चुके हैं। अहमद बक्सने तो अनेक यूरोपीय मल्लोंको बात-की-बातमें परास्त कर दिया था। गामाके छोटे भाई इमाम बक्सने गवसे भी कुश्ती न खानेवाले महामल्ल ज़ेनिसको सिर्फ १ मिनिट ८ सेकेण्डोंमें ही पराजित किया था। गुलाम मुहीदिनने गचको भी खूब ललकारा था; परन्तु गच सामने नहीं आया। इमाम बक्सके साथ १९१० में विदेशी मल्लोंसे लड़नेके लिये गामा इङ्गलैण्ड गया था। हेकेन्सके समान बली अमेरिकन पहलवान डा० रोलरसे गामाकी कुश्ती हुई। पाठकोंको सुनकर आश्चर्य होगा कि, जिस रोलरको पराजित



महाराज गामा

करनेमें गचको २६ मिनिट लगे थे, उसे सिर्फ १ मिनिट २ सेकेण्डोंमें ही गामाने पछाड़ा था। पछाड़ खानेके केवल १० ही मिनिट बाद रोलर फिर भिड़ा और इस बार भी २ मिनिट १० सेकेण्डोंमें ही गामाने रोलरको दे पटका। इसी साल सितम्बर मासमें गामाके साथ ज़बिस्को, लण्डनमें, भिड़ा। इस कुश्तीमें २५० पाउण्डकी बाजी थी और एक Championship Belt भी था। परन्तु वह इस तरह भिड़ा, जिस तरह बेल

अभ्यस्त लड़के मास्टरसे भिड़ जाते हैं। जबिस्को हाथीकी तरह ज़मीनपर सो गया। ठीक



गामा और जबिस्को

अढ़ाई घण्टे जबिस्को चट्टानकी तरह अटल पड़ा रहा। जबिस्कोको मालूम था कि, मैं उठा कि, पराभूत हुआ, इसलिये वह इसी तरह अपनी जान बचाता रहा। इसके बाद कुश्ती छुड़वा दी गयी और आनेवाले सोमवारको फिर कुश्ती होनेकी बात ठहरी; परन्तु जबिस्को अपनी इज़्ज़त क्यों बरबाद करने लगा? वह सोमवारके पहले ही लण्डन छोड़ कर चम्पत हो गया। Championship Belt गामाको मिला।

१९२४ की २२ मईको न्यूयार्कमें लूइसको हरा कर जबिस्कोने "विश्व-विजयी" पदवीको प्राप्त किया था; किन्तु बहुतेरे मल्लोंको इसमें आपत्ति थी; क्योंकि वह अबतक गामाको नहीं हरा सका था। जबिस्कोको भी यह बात खटकती थी; इसलिये उसने वर्षों, बड़ी तत्परताके साथ अपने बलको खूब बढ़ाया। अन्तको १९२८ की २९ जनवरीको पटियालेमें आकर गामासे जबिस्को भिड़ ही गया। परन्तु इस बार पलक गिरते न-गिरते गामाने जबिस्कोको दे पटका। विश्वविजयका माल्य गामाने धारण किया। महाराजा पटियालाने पुरस्कारमें ४१ पाउण्डकी रौप्य-निर्मित गदा गामाको दी। इस तरह संसारका सर्वश्रेष्ठ मल्लराज गामा हुआ। परन्तु यह बात विदेशी मल्लोंको सह्य नहीं; इसलिये वे गामासे लड़नेकी हाँक रहे हैं—यद्यपि गामाके सामने कोई आता नहीं।

जबिस्कोका छोटा भाई वेलडेक भी गामासे लड़नेकी डींग मार रहा है। परन्तु जिस ढंगसे, जितने समयमें, गामाने जबिस्कोको पछाड़ा था, उससे तो यही मालूम पड़ता है कि इन पहलवानोंको पछाड़नेमें गामाको तो क्या गामाके किसी शिष्यको भी देर न लगेगी।

९—ईश्वरीप्रसाद वर्मा

श्रीयुत महावीरप्रसाद आचार्य

प्रोफेसर ईश्वरीप्रसादजीका जन्म लगभग



ईश्वरीप्रसाद वर्मा

१८६२ ई० में, पटना सिटीके लोदीकटरा मुहल्लेमें श्रीवास्तव कायस्थ-कुलमें, हुआ था। इनके मातामह

इनके पूर्वपुरुष प्रायः सब-के-सब चित्रकार ही होते आये हैं। इनके पूर्वज 'देवल प्रतापगढ़' जिला मेवाड़के निवासी थे। अकबरने इनके पूर्वजोंको



कालेजमें वर्माजी

राजाके दरबारसे बुलाकर अपने दरबारमें रखा। तबसे ये शाहजहाँके समयतक दिल्लीमें ही शाही चित्रकार बने रहे।



बा० महावीरप्रसाद वर्मा

औरङ्गजेबके समयमें जब चित्रकलाका ह्रास होने लगा, तब ये लोग विवश होकर मुर्शिदाबादकी नवाबीमें आ गये। जब मुर्शिदाबादके नवाबोंने भी चित्रकलाकी ओर उदासीनता दिखायी, तब ये पटनेके नवाबके यहाँ चले आये। यहाँके नवाबने इन्हें बड़े आदरके साथ रखा।

इसी बीच ईस्ट इंडिया कम्पनीका प्रभुत्व जमने लगा। अँग्रेजोंने इनके पूर्वजोंका अच्छा आदर किया। यहीं इनके खानदानमें अँग्रेजी चित्र-कलाका भी प्रवेश हुआ। प्रोफेसर साहबके मातामह बाबू शिवलालजी एक बड़े चित्रकार हुए थे और उन्होंने अँग्रेजी चित्रकलामें अच्छी प्रवीणता प्राप्त की थी। इनके खान-दानमें तीन तरहकी चित्रकलाएँ इकट्ठी हो गयी हैं। भारतीय चित्र-कला, हिन्दुस्तानी तथा पर्शियन



बा० रामेश्वरप्रसाद वर्मा

प्रथम दर्शनमें ही दोनों-दोनोंकी तरफ आकृष्ट हो गये। विवेकानन्दका गला बड़ा ही मधुर था, परमहंसजी विवेकानन्दके संगीतपर मुग्ध हो गये।

परमहंसजीके उपदेशसे आक्षुब्ध होकर विवेकानन्द धर्मप्रचार करने लगे। वे तिब्बत गये और बौद्ध-धर्मका अध्ययन किया। वहाँसे खेतरी-राज्यमें आकर वहाँके राजाको अपने मतमें दीक्षित किया। फिर मद्रासमें रामनादके राजाके विचारको अपनी तरफ खींचा।

अमेरिकामें जो 'पार्लमेंट आफ रिलीजन' नामक एक सभा बैठी थी, वहाँ जाकर विवेकानन्दने हिन्दू-धर्मपर असाधारण व्याख्यान दिया था। सबके सब व्यामुग्ध हो गये थे। वहाँ भी विवेकानन्दने अमेरिकावासी कुछ स्त्री-पुरुषोंको अपना शिष्य बनाया था। अमेरिकामें इनके अनेक भाषण हुए और वहाँ इन्होंने वेदान्तक धर्मका प्रतिष्ठित किया। इंगलैंडकी कितनी ही सभाओंमें भी इनके व्याख्यान हुए थे। मैक्समूलरने इन्हींके अनुरोधसे "Life and sayings of Ramkrishna" नामक पुस्तक लिखी थी। इंगलैंडमें भी Miss Margaret Noble नामकी एक रमणी इनकी शिष्या हुई थी, जो पीछे चलकर सिस्टर निवेदिताके नामसे प्रसिद्ध हुई थी।

वहाँसे भारत आकर इन्होंने अनेक स्थानोंमें Ramkrishna Mission (रामकृष्ण मिशन) नामक कितने ही मठ खोले। इन मठोंके द्वारा सेवाकार्यको खूब प्रोत्साहन मिला है। दुर्भिक्ष-पीड़ितोंके लिये भी इन्होंने Relief works स्थापित किया था।

दूसरी बार भी इन्होंने कुछ दिनोंके लिये इंगलैंड और अमेरिकाकी यात्रा की थी। इसी यात्रामें इन्होंने Sen Francisco नगरमें वेदान्त सोसायटी और शान्ति-आश्रम खोले। उन्नीसवीं सदीके अन्तिम वर्षमें ये पेरिसकी 'कांग्रेस आफ रिलीजन'के द्वारा निमन्त्रित हुए। वहाँ फ्रेंच-भाषामें इनका महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ। वहाँसे लौटनेपर इन्होंने रामकृष्ण-आश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम, रामकृष्ण होम, रामकृष्ण-पाठशाला प्रभृतिको स्थापित करके अतिशय पुण्य प्राप्त किया। इन्हीं दिनों जापानमें एक धार्मिक सभा होनेवाली थी। जापानियोंने इन्हें बुलाना चाहा। खासकर इन्हें बुलानेके लिये एक व्यक्तिको भी भेजा; पर अस्वस्थताके कारण ये नहीं जा सके।

इनका जीवन त्यागमय और धर्ममय था। सेवा इनका व्रत था। वेदान्तसे इन्हें अभिरुचि थी। इन्होंने धर्म और योगपर अनेक किताबें लिखी हैं। सन् १९०२ की चौथी जुलाईको इन्होंने बेलुड़-मठमें विद्यार्थियोंको 'पाणिनि' पढ़ाया, फिर सायाह्नमें कुछ वेदसम्बन्धिनी शिक्षा देकर घूमने निकल गये। लौटकर थोड़ी देरके लिये ध्यान किया फिर स्वस्थ होकर ९ बजे रातमें जो समाधिस्थ हुए, सो फिर कभी नहीं उठे।

५—पृथ्वीवल्लभ मुञ्जदेव

ज्योतिषाचार्य प० सूर्यनारायण व्यास

सु-समृद्ध मालवदेशमें लगभग पाँच सौ वर्षोंतक लगातार साम्राज्यका उपभोग कर परमार-राजवंश इतिहासमें अमर कीर्ति प्राप्त कर चुका है।

परमार-वंशावतंस महापुरुषोंका गुणगान अनेक प्रतिभाशाली कवियोंने अपनी ओजस्विनी कविताओंके द्वारा और भाट-चारणोंने गाथा-कथाओंके द्वारा समुचित आदरसे किया है।

सरस्वतीका पुरुषावतार वाक्पतिराज मुञ्जदेव मालवीय परमारोंके साम्राज्य सिंहासनपर अभि-

चिक सम्पन्न महापुरुष था। कवि-पुङ्कवोंने मुञ्जदेव के विरहावसरमें ठीक ही कहा था कि—

गते मुञ्जे यशः पुञ्जे निरालंबा सरस्वती।'

मुञ्जदेवके विषयमें एक आख्यायिका प्रसिद्ध है—

एक बार परम भट्टारक महाराजाधिराज श्रीहर्षदेव (द्वितीय सीयक) अरण्यमें शिकारके लिये गये थे। वहाँ अचानक मुञ्ज नामक घासके झुरमुटमें एक ऐसा नवजात शिशु दिखलाई दिया, जिसका नालच्छेद भी नहीं हुआ था। बालककी आकृति परम सुन्दर और आकर्षक थी। इसे देखकर राजाके हृदयमें वात्सल्य-प्रेम जागृत हो गया। तत्काल उस सुन्दर बालकको वहाँसे लेकर महाराजाने रणवासमें पहुँचा दिया। उस समयतक महारानी भी निःसंतान थी। अति मनोहर बालकको पाकर महारानीका पुत्र-प्रेम भी जगृत हो गया। महाराजाकी तरह महारानी भी उससे प्राणाधिक प्रेम करने लगीं। क्षत्रियोचित विधानसे उस बालकका नालच्छेद किया गया और यथाविधि महाराजा हर्षदेवने दत्तक रुपमें उस बालकको स्वीकार कर लिया। हर्षदेवने मुंज (घास) मेंसे प्राप्त होनेके कारण उसका नाम ही 'मुंज' रख दिया। आगे चलकर, वह इसी नामसे विख्यात भी हो गया। मुंजके दान-पत्रोंमें एवम् तत्कालीन प्रबंधोंमें उसके नामके साथ अमोघवर्ष, पृथ्वीवल्लभ, श्रीवल्लभ, नरेन्द्रदेव, आदि अनेक गौरवास्पद विशेषण लगे देख पड़ते हैं।

विद्वानोंने अनेक प्रमाणोंसे मुंजदेवका राज्यारोहण काल ईस्वीसन् ९७० निश्चित किया है। उदयपुर-प्रशस्ति-कारने मुंजदेवकी पराक्रम-पटुताका बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है—

"कर्णाटक-लाट-केरल—
चोलशिरोरत्नराजिपदकमलः'
यश्च प्रणयिगणार्चित—
दाता कल्पद्रुम-प्रख्यः ॥"

समस्त प्रशस्ति-वर्णन देखनेसे ज्ञात होता है कि मुंजदेवने अनेक देशोंपर अधिकार जमा कर अपने पराक्रमका लोहा बिठला दिया था। अनेक राजाओंको अपना माण्डलिक बनाकर परमार-राज्यका विस्तार बढ़ा लिया था।

महाराज मुञ्ज जैसा बलधाम था, वैसा ही विख्यात विद्वान् तथा सुकवि भी था। मुञ्ज और 'मृणालवती'की पुण्य कथा बड़ी रसपूर्ण है। यह मृणालवती तैलपकी ज्येष्ठा भगिनी थी। मृणालवतीको लक्ष्य करके मुंजने कुछ दोहे प्राकृतमें बनाये थे। जैसे—

"जा मति पच्छई संपज्जई
सा मति पहिली होई।
मुंज भणई मणालवई,
विघन न वेढ़ई कोई।"

अर्थात् मुञ्ज कहता है, हे मृणालवती, जो मति पीछे उत्पन्न होती है, यदि वही पहले हो तो कोई विघ्न नहीं सताते।

इंडियन एंटिक्वेरी-के २१ वें भागके १६७ पृष्ठपर जो तैलपका ताम्रपत्र छपा हुआ है, उसके अंतमें मुंजके मारे जानेका उल्लेख है। पुरातत्वज्ञोंने इस पत्रका समय ई० सन् ९९६ माना है, परन्तु मुंजके मारे जानेपर हमें विश्वास नहीं है। अभी हमें इन्हीं महाराजा मुंजके दो महत्त्वपूर्ण ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं। एक संवत् १०४३ का है, दूसरा संवत् १०३८ का है। इन ताम्रपत्रोंमें महाराजका शासन १०४३ तो अत्यन्त सुखशांतिपूर्वक था। मुंज शूर और जैसा विद्वत्प्रिय था, वैसा ही रसिक और दानी भी था। खेद है कि, आज मुंज-लिखित कोई ग्रन्थ उप

लभ्य नहीं है। मुंजके वंशजात महाराज अर्जुन वर्मदेवने अमरु-शतक काव्यकी संजीवनीमें मुंज-प्रणीत एक पद्य उद्धृत किया है।

अलंकारशास्त्रमें श्री मुंजरचित श्लोक मिलते हैं।

(एपि० इंडि० जि० पृ० २२७)

यशस्तिलकमें उल्लेख हैं कि, मुंजने 'गउडवहो' नामक महाकाव्य लिखा है। परन्तु यह इन महाराजा वाक्पतिराजका नहीं है, वह कन्नौजके यशोवर्म देवके दरबारी कवि 'वाक्पतिका' है।

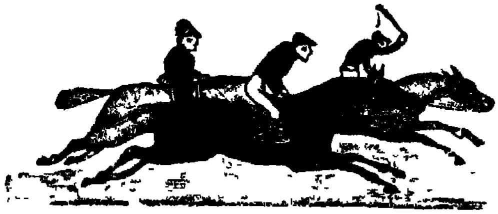
कवि वाक्पतिराज श्रीभवभूत्यदि सेवितः

परिमल उर्फ पद्मगुप्त नामक महाकविने मुंजकी प्रशंसामें लिखा है कि 'मुंज सरस्वती रूपी कल्प-वृक्षका मूल और कवियोंका बन्धु और आश्रयदाता था।"

'धनपाल'ने लिखा है कि 'सर्वविद्याब्धिना श्रीमुंजेन"

इसी प्रकार राघवपाण्डवीयकाव्यके निर्माताने कहा है कि—

"धारापतिरसा वासदियं तावद्धराधिपः" वाक्पति राज मुंजकी राजधानी धारा एक समय उन्नतिके उच्च शिखरपर आसीन थी। श्री और सरस्वतीका लीला-निकेतन थी।



सम्पादककी कलमसे

१—वे विश्व-दूत

विश्वकी रङ्ग-स्थलीमें आनन्दकी अठखेलियाँ खेलना और विश्वके वक्षःस्थलपर प्रलय-ताण्डव करना उन्हींका काम है । बात-की-बातमें पूर्वी गोलार्द्धसे पश्चिमी गोलार्द्धतक आग लगा देना और मृत्यु-हास्य करते-करते दक्षिणी ध्रुवसे उत्तरी ध्रुवतक श्मशानकी राख उड़ा डालना उनके बायें हाथका खेल है । निविड़ कान्तारमें वंशी-ध्वनिके साथ थिरकना और प्रचण्ड-भुजदण्ड सम्राटोंको मिट्टीमें मिला देना उनकी मौज है । इसी लिये मधुरता और वत्सलता, मृदुता और मञ्जुलताकी मूर्त्ति श्रीकृष्ण महाभारतके प्रलयङ्कर रणाङ्गणमें, अगणित घोड़ोंकी हिनहिनाहट, हाथियोंके चिग्घाड़ और खर करवालोंकी झंकारमें, डंकेकी चोट उद्घोषित करते हैं—

"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः ।"

साधारण बुद्धिके लिये वे अगम्य हैं, उनकी कथाएँ अज्ञेय हैं, उनकी गति रहस्यमयी है । पर्वत-कन्दराएँ उनकी गगन-चुम्बिनी अट्टालिकाएँ हैं, मारू बाजे उनके बिहाग और मालकोश हैं, तोपें उनके डमरू हैं । वे विधाताके लेखको

पैरों तले रौंद डालते हैं, समुद्रका "कुल्ला" कर डालते हैं। प्रारब्ध या भाग्य उनके यहाँ भाड़ू देता है और सरस्वती उनके यहाँ पानी भरती हैं। वे धूमकेतुको फूँक कर उड़ा देते हैं, हिमालयकी छातीपर कोदो दलते हैं और सौर-मण्डलकी नकेल पकड़कर नचाते हैं।

वेद उनकी बिरुदावली है, काव्य उनका प्रणतिवाद है, विज्ञान उनका खिलवाड़ है, दर्शन उनका जादू है, लक्षणा और व्यञ्जना उनकी परिचारिकाएँ हैं, विद्या उनकी नाटिका है, मृत्यु उनकी दासी है। वे जिसे देख देते हैं, वह देवता बन जाता है, वे जहाँ पैर रख देते हैं, वहाँ सोना बन जाता है। उनकी मुसकानमें मोती बरसता है। वे जिसे छू देते हैं, वह मृत्युञ्जय बन जाता है, वे जिसपर कृपा कर देते हैं, वह त्रिलोक-ध्वंसी भीम हो रहता है। अघटित-घटना-पटीयसी प्रकृति उनकी नटी हैं, उनका क्रोधोच्छ्वास वड़वानल है, उनकी तीखी भृकुटि दावानल है, उनकी उदासीनता सहाराका मरुस्थल है। प्रलय और महाकाल उनकी ज्वाला-माला हैं, स्वर्ग उनकी पद धूलि है, पृथिवी उनका आँगन हैं, सृष्टि-स्थिति-संसार उनके अलङ्कार हैं, धर्म उनका विलास हैं। राज-तन्त्र और प्रजातन्त्र, साम्यवाद और अराजकतावाद उनके वस्त्र हैं। अनन्त आकाश उनका रङ्गमञ्च है, पृथिवी, सागर और नक्षत्रमण्डल उनके पात्र हैं। वे सम्राटोंके सम्राट्, योगियोंके योगीश्वर, देवोंके देवेन्द्र और कालोंके महाकाल हैं। उनका कर्म-कलाप प्रलोभनका महाजाल हैं। उनकी प्रत्येक गतिमें रण-चण्डिकाका अट्टहास है, उनकी प्रत्येक दृष्टिमें लक्ष्मीका सरस-सुखद आवास है, उनकी प्रत्येक कथामें कलाकी कमनीय काकली है, उनकी प्रत्येक क्रियामें सत्यं शिवं सुन्दरंका मेघ-मन्द्र निनाद है। उनका विचरण मायामय है, उनका जीवन संगीतमय है। उनका जागरण हिरण्यगर्भ (Gosmic Egg) का उद्बोधन है, उनका शयन प्रकृतिकी साम्यावस्था है। उनका उपदेश अमोघ महामन्त्र है। उनकी जीवनी सुधा-धारा है। वे अमानिशा की विद्युत् हैं, वे ब्रह्माण्ड-भालके तिलक हैं, अशरणके शरण हैं, बुढ़ियाकी लकुटिया हैं। वे ईश्वरके दूत हैं, महाशक्तिकी विभूति हैं, नबी, पैगम्बर, ऋषि, मुनि और अवतार हैं। उनके वन्दनीय चरणोंमें मेरे शतकोटि प्रणाम।

विश्वमें उनका अवतरण और संचरण आनन्द और शान्तिकी विमल मन्दाकिनी बहानेके लिये है। प्रह्लादोंके ऊपर उनकी अभय-वरद भुजाकी शीतल छाया है, हिरण्यकशिपुओंके ऊपर उनके ब्रह्माण्ड-विदारी नख-दन्त हैं। वे जिधर चलते हैं, उधर ही वसन्तका मलयानिल बहता है, उधर ही दीपावली है, उधर ही सौन्दर्य और सौकुमार्यकी अमल धवल ज्योत्स्ना नाचती है, उधर ही श्री-सम्पत् हाथ जोड़े खड़ी रहती है, उधर ही ऋद्धि-सिद्धियाँ विजय-माल लिये थिरकती रहती हैं, उधर ही मुक्ति और स्वाधीनताका सुपथ है। किसी विश्वदूतने ठीक ही कहा है—

"यदि पथि विपथे वा वर्त्तयामः स पन्थाः"

वे जिधर झुकते हैं, सारा विश्व उधर ही लुढ़क पड़ता है, वे जिधर इशारा करते हैं, उधर ही जन-समुद्र हिलोरे लेने लगता है, वे जिधर ताकते हैं, उधर ही जनता रक्त-नदी बहानेको तैयार रहती है, वे जहाँ गरजते हैं, वहीं धौंसेकी धुधुकार बहराने लगती है। गीतामें श्रीकृष्णने ठीक ही कहा है—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ।"

ताजा उदाहरण लीजिये। गान्धीके "सत्याग्रह-विज्ञान"को कितने लोगोंने समझा है? परन्तु गान्धीके सत्याग्रहका भेरी-निनाद करते ही सारा कर्मण्य भारत जूझ पड़ा। सैकड़ोंने जेलकी दीवारोंमें भैरवराग अलापा। एक-दो मास नहीं, एक-दो वर्ष भी नहीं, लगातार पन्द्रह वर्षों तक विश्व भरके टेलीग्रामों, केबिलग्रामों और मारकोनीग्रामोंमें गान्धीकी अपार महिमाका गीत गाया जाता रहा, दसो दिग्गज डोलते रहे, पृथिवी डगमग-डगमग करती रही। खाने और कपड़ेकी चकाचौंधवाली दुनियाकी छिन्दी-छिन्दी उड़ गयी, गान्धीके "बकरीके दूध" और लँगोटीके यशोगानसे निखिल ब्रह्माण्ड मुखरित हो उठा। लंडन, पेरिस, बर्लिन, न्यूयार्क, टोकियो, शंघाई, मेलबोर्न और प्रिटोरियाके दर्प-दृप्त राज-प्रासादोंमें गान्धीकी कीर्त्ति-पताका फहराने लगी। प्रख्यात विश्वदूत रोमाँ रोलाँने गान्धीकी जीवनी लिखी, तिब्बतके दलाई लामाने गान्धीको बुद्धका अवतार माना, लंडनमें गान्धीकी सवारीके लिये नया कायदा बना। इन दिनों जापान और अमेरिका, फ्रांस और जर्मनी, इटली और इंगलैंडके बड़े-बड़े "लाड़ले" गान्धीके दर्शनोंके लिये लालायित हैं, संसारके बड़े-बड़े दिमाग लँगोटी-धारी गान्धीकी अलबेली लीलाओंसे चकित, स्तम्भित और विस्मित हैं।

पुराना उदाहरण लीजिये। यह विश्व सत्यसे उत्पन्न है, सत्यपर स्थित है और सत्यमें ही विलीन होगा। सृष्टि सत्यमयी है, ईश्वर सत्यमय हैं। सत्य-सेवकका जीवन दिव्य और भव्य है। सत्यसे ही कैवल्यकी प्राप्ति होती है। युधिष्ठिर धर्मराज थे और सत्यके अवतार थे। सत्यके पीछे वे साम्राज्य-लक्ष्मीको कई बार ठुकरा चुके थे। परन्तु श्रेष्ठतम विश्वदूत श्रीकृष्णने क्या किया? पलभरके लिये युधिष्ठिरकी सत्य-साधना छुड़ा दी! उनसे श्रीकृष्णने कहला दिया—

"अश्वत्थामा मृतो नरो वा कुञ्जरो वा!"

इसीसे कहा गया है—

"लोकोत्तराणां चेतांसि
को नु विज्ञातुमर्हति ?"

विश्व-दूतों अथवा महापुरुषोंके अलौकिक चरित साधारण जन समझें या न समझें; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि, उनकी प्रत्येक कृति लोक-कल्याणके लिये है, उनकी प्रत्येक गति जगदुद्धरण और साधु-संरक्षणके लिये है। हम गान्धी-वादको पहचानें या न पहचानें; किन्तु उसका लक्ष्य है मनुष्यको देवता बनाना, उसका इशारा है कलियुगको सत्ययुगकी ओर ले जाना। आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र यदि युधिष्ठिरसे सन्दिग्ध सत्य नहीं कहलाते, तो द्रोणाचार्यका देहावसान नहीं होता और द्रोणके जीते जी कौरवोंका पराजित होना असम्भव हो जाता। तब? तब रण-चण्डिका धार्मिकोंका खप्पर भर डालती, दुर्दान्त दानवोंका वसुधापर अकण्टक राज्य हो जाता, स्वर्गसी भारत-मही महाश्मशान बन जाती, आर्य-सभ्यताका नामो-निशान मिट जाता और आज बचे हुए मुट्ठी भर आर्य गली-गलीके ठीकरोंसे, पागल होकर, पूछते—

"रघुपतेः क्व गतोत्तरकोशला,
यदुपतेः क्व गता मधुरापुरी ?"

इसीलिये कहा गया है—

"उपचरितव्याः सन्तो
यद्यप्युपदिशन्ति न ।

या हि स्वैरकथास्तेषा-
मुपदेशा भवन्ति ताः ।"

मतलब यह कि, महापुरुष उपदेश न दें, अपने मतवादका रहस्य न समझावें, तो भी उनका अनुधावन करना चाहिये; क्योंकि उनके जो प्रतिदिन-के स्वच्छन्द आचरण हैं, वे ही उपदेश हैं। पहले भगवान् राम और अब पूज्य मालवीयजीने अपने स्वच्छन्द आचरणोंका कभी उपदेश दिया? हमारा तो विश्वास है और इस विश्वासका अनुमोदन सृष्टिसे आज तकके बड़े-बड़े मस्तिष्कोंने किया है कि, महापुरुषोंकी जीवनियोंसे, उनके नित्यके कार्य-कलापसे जैसा निर्मल उपदेश प्राप्त हो सकता है, वैसा किसी भी पुस्तक, किसी भी विद्या और किसी भी कलासे नहीं। आज जो आप भारतको देख रहे हैं, वह कृष्ण, राम, बुद्ध, शङ्कर, प्रताप और दयानन्दका बनाया हुआ है, उपदेश-ग्रन्थोंका नहीं। यूरोपमें नवल-अमल शान्तिधारा क्राइस्टकी बहायी हुई है, अधिकार-मदमत्त सम्राटों की नहीं। अपने जल्लादोंतकके लिये भी दया-भिक्षा माँगनेवाली आत्मा क्या किसी प्रतापी सम्राट्को मिली है? आज यदि मार्क्स, लेनिन, क्रोपाट्किन, गोर्की और ट्राट्स्की अपनी चरणरेणुकणिकासे यूरोपको पवित्र नहीं किये रहते, तो सम्पत्ति-वादियोंकी दानवी लीलाएँ जनताको और मनुष्य-त्वको रसातल नहीं भेज दिये रहतीं? यदि मोहम्मद अरबमें नहीं जनमे रहते, तो जंगलियोंके पैशाचिक काण्डोंके कारण आज अरब रसातल नहीं चला गया होता? यदि तिलक और विवेकानन्द भारतको अलङ्कृत नहीं किये रहते, तो हमारी जड़ता और पामरता हमें नहीं मसल डाले रहती? हमें सन्तोष है कि इस "चरिताङ्क" द्वारा हमने इन प्रातः-स्मरणीय महात्माओंकी चरितचर्चा करके अपने मनको सबल, हृदयको सतेज और लेखनीको पावन करनेकी चेष्टा की है।

२—आत्म-निवेदन

शुभ कार्योंमें विघ्नोंका होना अत्यावश्यकसा जान पड़ता है। आजतक संसारमें जितने भी बड़े या छोटे शुभ कार्य हुए हैं, उनमें विघ्नोंके लिये प्रायः एक आसन हमेशा रिज़र्व रहा है। 'चरिताङ्क'के प्रकाशनमें भी विघ्नोंने टाँग अड़ायी; और, खूब जम कर।

माघकी 'गङ्गा' पहलेसे ही पिछुड़ी हुई थी, वह चैत्रमें जाकर निकली। इसके बाद मैंने इसका कार्यभार अपने सिरपर लिया। पिछले कार्योंको मैं सुव्यवस्थित कर ही रहा था कि, छापेकी कल बिगड़ गयी और नये टाइपोंके आनेमें भी आशातीत विलम्ब हो गया। बस, मेरे दोनों हाथ निर्बल पड़ गये। और, एक बात और भी थी। सिर्फ एक महीनेके भीतर विशेषाङ्कके उपयुक्त सामग्री जुटा लेना भी कुछ हँसी-खेल नहीं था। इसके लिये तो महीनोंका समय चाहिये और चाहिये काफी दौड़धूप। लेखोंके सङ्कलनमें और चित्रोंके चयनमें काफी मुस्तैद रहनेपर भी विलम्बका हो जाना स्वाभाविक ही है; क्योंकि चित्रोंको जुटा कर भी उन्हें बिना ब्लाकका रूप दिये छपाईका काम शुरू नहीं हो सकता है। इधर तो इतने झंझट और इनके मुकाबिलेमें खड़ा था मेरा नन्हासा प्राण!

तनिकसे विलम्बसे ही लोग घबराने लगे और तानेकशीसे मेरे कलेजेको भी छलनी करने लगे। पर वे मेरी कठिनाइयोंको नहीं जानते थे।

भूख-प्यास हराम करके अथक परिश्रम कर-नेपर भी मैं ठीक समयपर 'चरिताङ्क' नहीं निकाल सका, इसके लिये मैं कृपालु पाठकोंसे क्षमा चाहता

हूँ । विश्वास है कि, मेरी कठिनाइयोंपर ध्यान देकर वे मुझे क्षमा कर देंगे । साधारण अङ्कोंमें अब विलम्ब नहीं होगा · शीघ्रातिशीघ्र पिछड़े हुए अङ्क पाठकोंकी सेवामें भेजे जायँगे ।

३—क्षमा-याचना

महापुरुषोंके अलौकिक चरित कभी भी दायरेके भीतर नहीं आ सकते और न वे कभी शब्दोंकी कड़ियोंमें ही बाँधे जा सकते हैं । हाँ, उनके पवित्र चरितोंकी एक झाँकी हम अवश्य कर सकते हैं । "चरिताङ्क"के प्रकाशनका भी यही उद्देश है ।

महापुरुषोंमें विश्वकी अनन्त शक्तियाँ निवास करती हैं । उनके लोकोत्तर सरस गुणगानसे रसना सार्थक हो जाती है, हममें बल, स्फूर्ति और ओज आता है । उन पूतात्माओंकी विरुदावली पढ़नेसे हृदय कालुष्यविहीन हो जाता है और वहाँ सहसा स्फुरित होता है दिव्य भावोंका संचरण । स्थानाभाव और विलम्बके कारण प्रचुर चेष्टा करके भी "चरिताङ्क"में मैं सब महापुरुषोंके चारु चरित नहीं दे सका । परन्तु यही सोचकर सन्तोष हुआ कि, एकाधिक महात्माओंके दर्शन भी बड़े भाग्यसे होते हैं । "गङ्गा"की पिछली संख्याओंमें भी कुछ महापुरुषोंकी जीवनियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, अतः वे जीवनियाँ भी छोड़ दी गयी हैं । और, सबसे बड़ी बात तो यह है कि, सभी महात्माओंको एकत्र करनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं है ।

४—कृतज्ञता-प्रकाश

'गङ्गा'के अध्यक्ष श्रद्धेय पण्डित गौरीनाथ झा व्याकरण-तीर्थने बड़ी दया और स्नेहके साथ मेरे सिर 'गङ्गा'का सम्पादन और सञ्चालन सौंप दिया है । मुझे उनके आशीर्वादका भरोसा है और अपने ऊपर विश्वास है कि, इस साहित्यिक सेवामें मैं फिसल नहीं जाऊँगा ।

श्रीमान् पूज्य प० रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्रीजीके आशीर्वाद और साहाय्यके लिये भी मैं कृतज्ञ हूँ ।

सहसा जब 'गङ्गा'का सारा भार मेरे असमर्थ कंधेपर आ पड़ा, तब मेरे कृपालु लेखकों और मित्रोंने बड़ी दयाकी । उन्होंने मुझे प्रोत्साहन दिया, लेख दिये और परामर्श दिया । उन्हींकी शुभाभिलाषाओंका यह फल है कि, मैं पहले पहल "विशेषाङ्क" लेकर सम्मुख आया । मेरे हृदयके कोने-कोनेमें उनके लिये आसन बिछा है ।

सबसे अधिक बाबू शिवपूजन सहायजीकी सदिच्छाओंका मैं कायल हूँ । उन्होंने मुझे बड़ी मदद पहुँचायी है ।

"वचसा तोषयद् भृशम्" वाले महानुभावोंका भी मैं कृतज्ञ हूँ, क्योंकि उस समय तो उन्होंने मुझे सब्ज बाग जरूर दिखा दिया था ।

द्विजजी की करतूत

हिन्दीके प्रतिष्ठित दैनिक "आज" (२४ मई, १९३५) से मालूम हुआ कि, "बिहार प्रान्तीय हिन्दी-साहित्यसम्मेलनका जो बारहवाँ अधिवेशन छपरेमें १३ अप्रेलको हुआ था, उसके सभापति श्रीजनार्दनप्रसाद झा द्विज एम० ए० ने जो अलिखित भाषण किया था, उसका मुख्यांश स्वागत-समितिने पीछे पुस्तकाकार प्रकाशित करके प्रचारित किया है।" २४ और २५ मईके "आज"में यह "मुख्यांश" छपा भी है। "मुख्यांश"पर यहाँ विचार करना हम आवश्यक नहीं समझते और न उसके लिये यहाँ स्थान ही है। "गङ्गा"के सम्बन्धमें द्विज महाशयने जो उद्गार प्रकट किया हैं, उसीके सम्बन्धमें यहाँ हम कुछ लिखना चाहते हैं। द्विजजीने भाषणमें कहा है—"नामको एक "गङ्गा" निकली भी तो अभीतक 'म्युनिसिपलिटीका पनाला ही बनी रह गयी—इससे बिहारके साहित्यिक वैभवकी वृद्धि तो क्या होगी, प्रान्तके बाहर हमारी अप्रतिष्ठा अवश्य बढ़ी। एक धनी युवककी उदारता और दानशीलताका जो दुरुपयोग "गङ्गा"ने किया, वह शायद ही किसी पत्र-पत्रिकाने किया हो। जितने रुपये इसमें बहाये गये, उतनेसे इस प्रान्तकी बहुत बड़ी साहित्यिक सेवा की जा सकती थी।"

जिस "गङ्गा"को भारतके दिग्गज विद्वानोंने "बिहारका गौरव" कहा है, जिसके विशेषाङ्कोंको भारत, इंगलैंड, इटली आदिके विद्वानोंने अनुपम बताया है और जो आनदार और शानदार पत्रिका मानी जाती है, उसके सम्बन्धमें द्विज महाशयकी उक्त "अमूल्य" सम्मति क्यों है, इसका कारण बहुत ही कम लोगोंको मालूम होगा। हम निवेदन करते हैं—

द्विजजी एक बार 'गङ्गा"में नौकरी पानेकी गरजसे हमारे यहाँ आये। कई कारणोंसे हम नौकरी देनेमें समर्थ नहीं हो सके। बस, इसी कुफल, जलन और प्रतिहिंसाको उन्होंने मौका पाकर निकालनेमें आगा-पीछा नहीं किया। किन्तु इतने उत्तरदायित्वके पदसे इतनी हेय स्वार्थ-परता और द्वेष-वृत्तिको प्रकट करना शिष्टतासे बाहरकी बात है।

हमने साहित्य-शास्त्रका, संस्कृतके द्वारा, अनुशीलन किया है। उसके बलपर हम कह सकते हैं कि, द्विज महाशयके समान हिन्दी लिखने वाले कुछ ऐसे अकाल-परिपक्व युवक हैं, जिन्हें साहित्यविज्ञानका कुछ भी बोध नहीं, ध्वनि और अलङ्कार, लक्षणा और व्यञ्जनाका कुछ भी परिज्ञान नहीं। ऐसे लोगोंको मुँह लगाना हम अपना अपमान समझते हैं। यदि "आज" जैसे प्रतिष्ठित पत्रमें द्विजका ऐसा ऊल-जुलूल उद्गार नहीं छप पाता, तो हम कुछ लिखते भी नहीं। हमारी यह भी सम्मति है कि, ऐसे उत्तरदायित्व-हीन व्यक्तिको सभापति बनाकर और झूठे वाग्जालमय भाषणको छापकर स्वागत-समितिने सम्मेलनकी रही-सही प्रतिष्ठाको भी नष्ट कर दिया हैं। द्विजकी नाड़ी पहचाननेवाले बिहारके कई प्रतिष्ठित साहित्यिक तो उस सम्मेलनमें गये तक नहीं। "गङ्गा" जैसी पवित्र वस्तुको म्युनिसिपलिटीका पनाला बनानेवालोंसे भगवान् सम्मेलनकी रक्षा करें। हम अधिक न लिखकर "गङ्गा" और उसके विशेषाङ्कोंपर अधिकारी विद्वानों और पत्रोंकी कुछ संक्षिप्त सम्मतियाँ यहाँ उद्धृत करते हैं और पाठकोंसे निवेदन करते हैं कि, वे ही द्विजके प्रतिहिंसाजनित उद्गारकी परख कर उचितानुचितका निर्णय करें।

१ राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद—"जबसे "गङ्गा" निकल रही है, मैं प्रायः इसे देखा करता हूं। यह कहते मुझे बहुत हर्ष होता है कि, इसके लेख उच्च कोटिके होते हैं। इसमें बहुत रोचक और गहन विषयोंपर लेख छपा करते हैं एवं अच्छे विद्वानोंकी सहायता इसे उपलब्ध हो रही है। इसके विशेषाङ्क और भी मार्केके होते हैं। बिहार पत्र-पत्रिकाओंके लिये मरुभूमि जैसा है, पर यह देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि,

यहाँ ऐसी सर्वाङ्ग-सुन्दर पत्रिका इसकी अपनी आप प्राप्त कर रही है। मैं इसके सम्पादक और कुमार कृष्णानन्द सिंहजीको बधाई देता हूँ।"

२ "प्रकाश"—"गङ्गा बिहारकी अकेली मासिक पत्रिका है। यह हिन्दी और संस्कृतके पुरन्धर विद्वान् तथा दर्शन-शास्त्रके आचार्य प० रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्रीके सम्पादकत्वमें निकल रही है। यह पत्रिका हिन्दीसंसारकी उच्चतम पत्रिकाओंसे कम नहीं है।"

३ "हिन्दी-प्रचारक" (मद्रास)—"गङ्गा हिन्दीकी श्रेष्ठ मासिक पत्रिका है। इसका हर एक अङ्क अपने ढंगका अनूठा होता है। लेख, कवितायें और विविध विषयकी सम्पादकीय टिप्पनियाँ बेजोड़ होती हैं।"

४ प्रो० पण्डित सकलनारायण शर्मा—"गङ्गा की प्रत्येक धारा लेख-रूपमें हिन्दी-साहित्यिकोंके मानसिक दुःखके मोचनमें समर्थ है।"

५ बाबू मैथिलीशरण गुप्त—"बिहारसे एक ऐसी पत्रिका निकली, जैसी निकलनी चाहिये थी।"

६ प० कामताप्रसाद गुरु—"इसका एक-एक जल-कण हिन्दीसाहित्यको टानिकका काम दे रहा है।"

७ प्रो० लौटू सिंह गौतम एम० ए०—"यह पत्रिका निस्सन्देह हिन्दीकी श्रेष्ठतम पत्रिकाओंमेंसे एक है।"

८ प्रो० कृपानाथ मिश्र एम० ए०—"बिहारसे ऐसी अच्छी मासिक पत्रिका पहले नहीं निकली थी।"

९ राजकुमार रघुवीर सिंहजी बी० ए०—"यह पत्रिका अपने ढंगकी निराली है।"

१० डा० ईश्वरप्रसाद बी० एस०-सी०—"बिहार-वासियोंको इसपर नाज होना चाहिये।"

११ प० लक्ष्मीधर वाजपेयी—"गङ्गा ऊँचे दर्जेकी पत्रिका है।"

१२ म० रामनरेश त्रिपाठी—"हिन्दीमें एक सुसम्पादित पत्रिकाकी बड़ी ही आवश्यकता थी। 'गङ्गा' द्वारा उस अभावकी पूर्ति होती दीखती है।"

१३ प० श्रीकृष्णबिहारी मिश्र बी० ए०, एल-एल० बी०—"भारतीय सभ्यता और संस्कृतिपर "गङ्गा"की गहरी छाप है। "गङ्गा" एक उच्च कोटि-की साहित्य-प्रधान पत्रिका है।"

१४ प० पद्मसिंह शर्मा गौड़ "इन्दु"—"आज तककी बिहारसे प्रकाशित होनेवाली सभी पत्रिका-ओंसे यह अच्छी है।"

१५ साहित्याचार्य स्व० प० चन्द्रशेखर शास्त्री—"गङ्गाके प्रकाशनसे सिद्ध हो गया कि, बिहारसे भी अच्छी पत्रिका निकल सकती है। 'गङ्गा'का सौभाग्य है कि, उसे पण्डित त्रिवेदीका सहयोग मिला है।"

१६ स्वा० भवानीदयाल संन्यासी—"आपकी पत्रिका हिन्दी-जगत्‌की जो सेवा कर रही है, वह स्तुत्य है।"

"गङ्गा" बहुत व्यय करके प्रतिवर्ष एक विशेषाङ्क निकालती है। उसने प्रथम वर्षमें 'गङ्गाङ्क', द्वितीयमें 'वेदाङ्क', तृतीयमें 'पुरातत्त्वाङ्क', चतुर्थमें 'विज्ञानाङ्क' और पञ्चम वर्षमें 'चरिताङ्क' निकाला है। इन विशेषाङ्कोंके लिये ऐसे विद्वानोंसे अत्यधिक पुरस्कार देकर लेख मँगाये गये हैं, जिनके लेखोंको छापनेमें यूरोप और अमेरिकाकी पत्रिकाएँ भी गौरव अनुभव करती हैं। इनके सम्बन्धकी भी कुछ सम्मतियाँ पढ़िये।

१ "आज" (बनारस)—"गङ्गाङ्क बहुत ही अच्छा निकला है। इसमें बड़े-बड़े विद्वान् लेखकोंके लेख हैं। गङ्गा-सम्बन्धिनी उक्तियाँ पढ़ते समय मनमें पवित्रताकी लहरें उठती हैं।"

२ सर जार्ज ग्रियर्सन (इंगलैंड)—"वेदाङ्क महत्त्व-पूर्ण है।"

३ डा० स्टेन कोनो पी-एच० डी० (नारवे)—"इसमें रुचिकर और सुपाठ्य प्रबन्ध हैं।"

४ डा० बर्नेट एम० ए०, डी० लिट् (ब्रिटिश म्युजियम, लंदन)—"वेदाङ्कका सम्पादन बड़ी योग्यतासे हुआ है।"

५ डा० अविनाशचन्द्र दास एम० ए०, पी-एच० डी० (कलकत्ता)—"वेदाङ्कके प्रकाशनका कार्य सारे भारतमें एक ही है। शोक है कि, बंगालमें

[illegible] प्रकाशन नहीं हुआ है।

[illegible] श्रीयुत [illegible] "सम्पूर्ण [illegible]
भी [illegible] है।"

[illegible] ([illegible])— [illegible]

[illegible] है।

८ डा० [illegible] ए०, पी-एच० डी०—"[illegible] भारतकी [illegible] सेवा की है।"

९ प्रो० [illegible] (रोम यूनिवर्सिटी, [illegible])—[illegible] बड़े-बड़े विद्वानोंके [illegible] है।"

१० [illegible] जायसवाल—"बिल्कुल [illegible] है।"

११ [illegible] बी० [illegible]—"[illegible] बहुत बड़ा [illegible] है। आपने इससे [illegible] बहुत बड़ी सेवा की है।"

१२ [illegible] ए०, बी० [illegible]—"[illegible] विशेषांकोंके द्वारा 'गङ्गा' बड़ी सेवा कर रही है।"

१३ [illegible] पी-एच० डी०—"हिन्दी में [illegible] वस्तु निकाली।" [illegible] भी [illegible] अपनी [illegible] की है।

१४ [illegible]—"हिन्दीमें विज्ञान-साहित्यका [illegible] बहुमूल्य रत्न है। 'गङ्गा'के [illegible] विशेषाङ्कोंकी [illegible] भी [illegible] है।"

१५ [illegible]—"[illegible] कोई भी [illegible] है।"

१६ [illegible]—"[illegible] विशेषाङ्क [illegible] है। [illegible]

[illegible] है।"

[illegible] जब [illegible] विशेषाङ्क निकाला है [illegible] हिन्दी [illegible] है।"

१९ "[illegible]"—"[illegible] 'गङ्गा'के [illegible] हिन्दीके विशेषाङ्क-साहित्यमें [illegible] है। जिस [illegible] वे विशेषाङ्क नहीं, [illegible] हैं। इनकी [illegible] चाहिये [illegible]।"

२० "आनन्द बाजार पत्रिका"—"[illegible] महत्त्व-पूर्ण है। जो लोग [illegible] नहीं जानते, उनमें यह विज्ञान-प्रचारका बहुत बड़ा [illegible] होगा।"

'गङ्गा'पर [illegible] इन्हीं [illegible] महाशयने १८ मई, १९३२ के "आज"में "गङ्गा"के "वेदांक"पर अपनी [illegible] की थी। इन्होंने अपनी लम्बी और प्रशंसामयी समालोचना में लिखा था—"गङ्गाके 'वेदांक'को देखकर मैं गौरव-पूर्ण [illegible] साथ स्वीकार करता हूँ कि, इसके संचालक इससे अच्छा और कोई ऐसा काम नहीं कर सकते थे। इसमें [illegible] [illegible] है—[illegible] और [illegible] विद्वान् सम्पादकोंकी पैनी दृष्टिको [illegible] है। सबसे [illegible] वस्तु है "[illegible]"। [illegible] वर्षोंके भीतर [illegible] ही सुन्दर-सुन्दर विशेषांक देखे—[illegible] और [illegible] विशेषांक [illegible] है कि, [illegible] समझते हैं। [illegible] "गङ्गा"के [illegible] "वेदांक"से [illegible] है।"

[illegible]

अमृत सिन्धु



यह अमृतसिन्धु हैजा, कफ, अर्थात् दमा, खांसी सूखी व तर और बच्चों की व कुकर खांसी, पेट का दर्द, कमर का दर्द, जाड़े का ज्वर, शूल संग्रहणी, अतीसार, कै करना, जी मिचलाना, बालकों के हरे—पीले दस्त होना, दूध डालना, रोना–इन सब रोगों में जरूर ही फायदा करने वाला साबित होचुका है। इस लिये सर्व साधारण उपर्युक्त रोगों में बिना किसी वैद्य के पूछे ही रोगी को देकर लाभ उठाते हैं। यह स्त्री, पुरुष, बालक, युवा और वृद्ध सब अवस्थाओं में बराबर एकसा गुण दिखलाता है। कीमत फी शीशी ।।) दर्जन ५)

नवीन आविष्कार ! आश्चर्यकारक गुण !!

तैलों का सिरताज !!! मनमोहक !!!!

केशकुसुम तैल ।

(अर्थात् केश और शिर रोग की अक्सीर दवा)



इसके लगाने से बालों का गिरना, शिर घूमना या हमेशा दर्द होते रहना, मगज की कमजोरी, सुनने और देखने की कमी, बिना समय बालों का पकना, धातु की कमजोरी, उन्माद और तपेदिक इनको दूरकर बालों की जड़ें मजबूत करता शिरमें ठंडक रखता आंखोंकी रोशनी बढ़ाता और दिल के रोगों को फायदा पहुँचाता है इसलिये हमने इस तैल को बहुत ही सुगंधित बनाया है। कीमत १) डा० अलग ।



बाल मित्र

(बच्चों के पुष्टई की दवा)

इसके समान छोटे बच्चोंको ताकतवर व मजबूत बनाने वाली और कोईभी दवा नहींहै छोटे बच्चोंकी खांसी संग्रहणी वगैरह कमजोरीसे पैदा होने वाले मर्ज बहुत जल्द तेहत होते हैं बच्चोंका वजन भरकर वह बजनमें बढ़ताहै उनका हाजमा अच्छी तरह होता है ! इस बालमित्र की ज्यादा खुराक देने से बड़ी उम्र के भी पुरुषोंकी खांसी कफ तपेदिक (क्षय) सूखरोग भी के दूध न आना वगैरह रोगोंपरभी मुफीद है बच्चों व मर्दों को खांसीका रोग ज्यादा दिनों तक रहने से फेफड़ेका मर्ज तपेदिक (क्षय) कफ व दमा वगैरह होजानामुमकिन है लेकिन खांसी कम होनेसे फेफड़ा ठीक होजाता है । इसलिये बालमित्र निहायत फायदेमंद दवाहै । एक शीशीका दाम ॥)



दन्त कुसुमाकर

इससे दांतोंका हिलना मसूड़ों का फूलना, कीड़े लगना खून का गिरना, दांतों में पानी का लगना टीस और दांतों के सर्व विकार दूर हो जाते हैं और दांत वज्र के समान दृढ़ और मोती से चमकने लगतेहैं रोज सेवन से दांतों की कोई बीमारी पैदा नहीं होती तथा बुढ़ापे में भी दांत नहीं हिलते हैं । कीमत फी डि० ।) दर्जन २॥)



दाद का मरहम

यों तो बाजार में कई तरहकी दाद की दवा मिलती हैपरंतु उसमें पारादिविषैलेपदार्थों के होनेसे लाभ के बदले हानि हो जाती है हमारी इस दवामें पारा आदि कोई पदार्थ नहीं है इस दवा के लगानेसे कोई तकलीफ नहींहोती और जलन खुजली आदि को दूर कर दाद के दादा को जड़से नष्ट कर बनाती है । कीमत फी डि० ।) दर्जन २॥) डाक अलग ।

प्रदरारि वटी

स्त्रियों के प्रदर रोग की दवा।

स्त्रियोंके लिये यह रोग बड़ा भयंकर है। इसके मारे बेचारीं सूखकर कांटा होजाती हैं फिर गृहकार्य आदि करने में व पुत्रोत्पत्ति करने में असमर्थ हो जाती हैं और बेचारी लज्जाके मारे किसीसे कुछभी नहीं कह सकती हैं। परन्तु ऐसी बेचारी स्त्रियों के वास्ते हमने बड़े परिश्रम से 'प्रदरारि वटी' तैयारकीहै इसके सेवनसे शरीरकी पीड़ा व दुर्बल होजाना महीना न होना या ऋतु का रुधिर पीड़ा सहित गिरना तथा श्वेतप्रदर, लालप्रदर, प्रमेह, रुधिरका रंग बिगड़ना, पेट की पीड़ा गर्भ का न रहना आदि विकारदूर होतेहैं और फिर महीना ठीक २ होता है तथा गर्भ रहता है। की० फी शीशी १) डाकखर्च अलग।







अर्थात् गोरे व खूबसूरत होने की दवा

इसके लगाने से चेहरे पर खूबसूरती बढ़तीहै और गुलाबी छटा दमकने लगती है तथा चेहरे के स्याह दाग मुंहासे झाइँ झुर्रियां फोड़ा खुजली और मुंहका फटना दूर होजाताहै रोज इस्तैमाल करनेसेकाली रंगत चांद सी चमकने लगती है, जिल्द मुलायम हो जाती है और सिर पर लगाने से सिरका दर्दर दूर करताहै अधिक प्रशंसा करना व्यर्थ है। कीमत फी शीशी ॥)

बी. एल. प्रेस इटावा में छपी।